श्री हरिभद्र-सूरि विरचित वृत्ति सहित

ध्यानशतक

(ध्यानाध्ययन)

आलोचनात्मक प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद और विविध परिशिष्टों से समन्वित

तथा

श्री भास्करनन्दि-विरचित

ध्यानस्तव

(प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद और परिशिष्टो सहित)

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशक :
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण :
वीर नि. सं. २५०२
वि. सं. २०३२
सन् १९७६ ई.

मुद्रक : रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, २३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ (कम्पोजिंग : गीता प्रिंटिंग एजेंसी)
द्वारा मुद्रित एवं वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

DHYĀNŚATAKA

OR

DHYĀNĀDHYAYANA

(Along with the Sanskrit Commentary of Haribhadra Suri)

AND

DHYĀNASTAVA

OF

BHĀSKARANANDI

Critically Edited with Introduction, Appendices, etc.

BY

Balchandra Siddhanta-Shastri

VIR SEWA MANDIR

21, Daryaganj, New Delhi.

First edition : 1976

प्रकाशकीय

जैनधर्म एक अध्यात्मप्रधान धर्म है। इसमें जो कुछ भी विवेचन किया गया है [illegible] उत्थान को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। प्रत्येक प्राणी सुख व शान्ति चाहता है, पर वह सुख स्वावलम्बन के बिना सम्भव नही है। परावलम्बन से होने वाला सुख न तो यथार्थ है और न स्थायी ही है। यथार्थ सुख तो कर्मबन्धन से छूटकर आत्मसिद्धि के प्राप्त कर लेने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत सस्करण में प्रकाशित ध्यानस्तव (श्लोक ३) मे यह निर्देश किया गया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति का नाम सिद्धि है और वह सिद्धि शुद्ध ध्यान के आश्रय से रत्नत्रयधारी के ही सम्भव है। इस प्रकार, आत्मप्रयोजन को सिद्ध करने के लिए न केवल जैन धर्म मे ही ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, बल्कि अन्य सभी आस्तिकतावादी सम्प्रदायो मे भी प्रा[illegible] उच्च[illegible] गान दिया गया है।

प्रस्तुत सस्करण मे ध्यानशतक और ध्यानस्तव ये दो प्र[illegible] ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे है। ध्यानशतक मे कुल गाथायें १०५ और ध्यानस्तव मे १०० श्लोक हैं। दोनों ही ग्रन्थों मे अपनी-अपनी पद्धति से ध्यान का सुन्दर व महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है, जिसे पढ़कर सहज ही शान्ति उपलब्ध होती है तथा हेयोपादेय का विवेक भी जाग्रत होता है।

इनका सम्पादन प. बालचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद के साथ किया है। ग्रन्थो के अन्त मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी जोड दिये गये है तथा प्रारम्भ मे उनके द्वारा जो प्रस्तावना लिखी गई है उसमे विषय का परिचय कराते हुए ध्यान के विषय मे अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही, भगवद्-गीता और पातजल योगदर्शन जैसे योगप्रधान अन्य ग्रन्थो के साथ तुलनात्मक रूप से भी विचार किया गया है। विषय की दृष्टि से, दोनो ही ग्रन्थो की महती उपयोगिता एव अतीव उपादेयता को दृष्टि मे रखकर ही, वीर सेवा मन्दिर ने इनको इस रूप मे प्रकाशित करना ठीक समझा एवं तदनुसार इनके प्रकाशन की व्यवस्था की गई।

वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागंज, नई दिल्ली

गोकुलप्रसाद जैन,
सचिव (साहित्य)

अनुक्रम

प्रस्तावना में उपयुक्त ग्रन्थों का अनुक्रम

संख्या	संकेत	ग्रन्थ	प्रकाशन आदि
१	अमित. श्रा.	अमितगति-श्रावकाचार	दि. जैन पुस्तकालय, सूरत
२	आचा. सा.	आचारसार	मा. दि. ग्रन्थमाला, बम्बई
३	आत्मानु.	आत्मानुशासन	जैन संस्कृति स. संघ, सोलापुर
४	आ पु.	आदिपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५	आप्तप.	आप्तपरीक्षा	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
६	आप्तमी.	आप्तमीमांसा	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी
७	आव. नि.	आवश्यक निर्युक्ति भ. १	दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत
८	,,	,, भ २, ३, ४	आगमोदय समिति, मेषसाना
९	इष्टोप.	इष्टोपदेश	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
१०	उपासका.	उपासकाध्ययन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
११	औपपा.	औपपातिक सूत्र	आगमोदय समिति, बम्बई
१२	कार्तिके.	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला
१३	क्षत्रचू	क्षत्रचूडामणि	टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री
१४	गणधरवाद	गणधरवाद	गुजरात विद्या सभा, अमदाबाद
१५	गु. गु. षट्.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
१६	गो जी.	गोम्मटसार-जीवकाण्ड	जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
१७	चन्द्र. च.	चन्द्रप्रभचरित्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१८	चारित्रप्रा.	चारित्रप्राभृत	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई,
१९	जीयक.	जीयकप्पसुत्त	जैन साहित्य शोधक समिति, अमदाबाद
२०	जैननि.	जैन निबन्धावली	वीर शासन संघ, कलकत्ता
२१	ज्ञा. सा.	ज्ञानसार	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२२	ज्ञाना.	ज्ञानार्णव	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
२३	तत्त्वानु.	तत्त्वानुशासन	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली
२४	त. वा.	तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२५	त. वृ.	तत्त्वार्थवृत्ति	,,
२६	त. श्लो.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	रामचन्द्र नाथारंग गांधी (नि. सा. प्रेस)
२७	त सू.	तत्त्वार्थसूत्र	प्रथम गुच्छक, निर्णय सागर प्रेस
२८	त. भा.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
२९	ति. प.	तिलोयपण्णत्ती	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
३०	दशवै.	दशवैकालिक	जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
३१	धव.	धवला (षट्खण्डागम टीका)	शि. ल. जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती

३२	ध्या. स्त.	ध्यानस्तव	भारतीय ज्ञानपीठ (भा. ग्र. मा.)
३३	नि. सा.	नियमसार	जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई
३४	न्या. सू. वृत्ति	न्यायसूत्रवृत्ति	—
३५	पचसं.	पञ्चसंग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ
३६	पंचा. का.	पंचास्तिकाय	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
३७	पा. सू.	पाक्षिकसूत्र	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत
३८	पा. दो.	पाहुडदोहा	गोपाल अंबादास चवरे, कारंजा
३९	बृ. द्रव्यस.	बृहद्द्रव्यसंग्रह	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
४०	भगवती.	भगवती सूत्र (ख. खण्ड)	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अमदाबाद
४१	भावस.	भावसंग्रह (प्राकृत)	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
४२	,,	,, (संस्कृत)	,,
४३	म. स्मारिका	महावीर स्मारिका	जयपुर (१९७२)
४४	मूला.	मूलाचार	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
४५	युक्त्यनु.	युक्त्यनुशासन	,,
४६	यो. बि.	योगबिन्दु	जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अमदाबाद
४७	यो. विं.	योगविंशिका	आत्मानन्द जैन पु. प्र. मण्डल, आगरा
४८	यो. शा.	योगशास्त्र	ऋषभचन्द्र जौहरी कि. ला. दिल्ली
४९	यो. सा.	योगसार	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
५०	योगसा. प्रा.	योगसारप्राभृत	भारतीय ज्ञानपीठ
५१	यो. सू.	योगसूत्र (सभाष्य)	विनायक ग. आपटे, पूना (१९३२)
५२	,,	,, (भोज वृत्तिसहित)	हरिकृष्णदास, बनारस
५३	रत्नक.	रत्नकरण्डक	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
५४	वराग.	वरागचरित	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
५५	वसु. श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ
५६	विशेषा.	विशेषावश्यकभाष्य	ऋषभदेव के. श्वे. संस्था. रतलाम
५७	वि. पु.	विष्णुपुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
५८	श्रा. प्र.	श्रावकप्रज्ञप्ति	ज्ञानप्रसारक मण्डल, मुम्बई
५९	ष. ख.	षट्खण्डागम	शि. ल. जैन साहित्योद्धारक फण्ड
६०	षोडश	षोडशक प्रकरण	जैन श्वे. संस्था, रत्नपुर
६१	स. सा.	समयसार (समयप्राभृत)	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी
६२	समाधि.	समाधिशतक (समाधितन्त्र)	वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी
६३	स. सि	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ
६४	सां. द.	सांख्यदर्शन	लक्ष्मणप्रसाद चिकित्सक, कलकत्ता
६५	सिद्धिवि.	सिद्धिविनिश्चय टीका	भारतीय ज्ञानपीठ
६६	स्थानां.	स्थानांगसूत्र	सेठ माणिकलाल चु. व का. चु. अमदाबाद
६७	स्व. स्तो.	स्वयम्भूस्तोत्र	वीर सेवा मन्दिर
६८	हरि. स.	हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णयः	जैन साहित्यशोधक समाज, पूना
६९	ह. पु	हरिवंशपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ

— ० :—

Foreword

The Dhyānśataka or Dhyānādhyayana is an important poem of one hundred and five gāthās composed in Prākṛit language. Although the author is unknown, yet he contributed a great treatise on Digamber Jain Āgama, particularly the nature of dhyāna or meditation. The subject of the work is concerned with the nature of Dhyāna and four types of Dhyānas, i e., ārta, raudra, dharma and Şukla are described. Concentration of thought on one particular object is called Dhyāna or meditation. The nature of Dhyāna is considered the self in the released state is characterized by conciousness, and it is the state of the liberated soul. Therefore, it is concerned with the Jaina ontology, metaphysics and epistemology.

Meditation is the art of intensifying inward consciousness. In the practice of self-realization, meditation occurs as a channel through which one discovers the pure and liberated soul. First of all, self-observation or spiritual insight is a qualitatively different dimension of experience ; it is stated in the terms of states (guna-sthāna). As it is said quite definitely, deliverance is the realization that appears in the state of soul in the mode of unwavering thought.

Mind is now conceived as a concrete self-developing whole—its entire being and essence is the activity of self-development, the archetypal form of which is the activity of thought.[1] In the Jaina system every soul is possessed of consciousness. Therefore, thought itself is conditioned by forms and it is thought that knows external forms and determines their nature.

The types of meditation are mentioned as the painful (sorrowful), the cruel, the virtuous (righteous) and the pure. These four kinds of meditation are divided into two classes, evil and good or inauspicious and auspicious serially. These occur in the case of laymen with and without small vows, and non-vigilant ascetics, the contemplation of objects of revelation, misfortune or calamity, fruition of karmas and the structure of the universe is virtuous concentration It is not always possible to realise thyself. The pure concentration is also defind to be of four types. The first two types of pure concentration are attained by the saints well-versed in the Pūrvas The last two arise in the omniscients.

---

1 Edt Harris, Errol E. : Nature, Mind and Modern Science, London, Pp 451

The Dhyānastava is the Sanskrit composition of one hundred verses, the well-known exposition of meditation. It seems that the author (Bhāskaranandi) of this small hymn was well-acquainted with Dhyānśataka which is quoted in Dhavlā. Both Prākṛit and Sanskṛit verses are presented in the series of Digambar Jaina texts in order to explain the nature of meditation and primary means and causes of deliverance, by which we can release our soul from karmas or bondages. As described by Miss Suzuko Ohira in the Introduction to Dhyānastava (published by Bhāratīya Jñanpītha), it can be accepted that Bhāskaranandi flourished in the beginning of the 12th century A.D., and it is also an established fact that he was a Digambara Pandit of vakra gaccha, Desī gana of Mūla sangha, as a disciple of Jina Chandra.

An eminent scholar of Jaina Philosophy, Pandit Balchandra Siddhanta-Shastri edited this volume (both the important Texts), with Sanskṛit commentary, Hindī translation and notes in a neat form. In the Introduction, he has dealt with the comparative study of Indian Yoga systems that might be very useful to every student of Philosophy who will read this volume. There is no doubt that the Shastri's contribution in the field of Jainology is worthy of appreciation. I congratulate him for this work of extra-ordinary labour and prolonged reflection.

7th February, 1976

(*Dr.*) Devendra Kumar, Shastri, M.A., Ph.D.
Asst. Professor,
Govt. Post-graduate College,
Neemuch (M.P.)

सम्पादकीय

प्रस्तुत संस्करण में ध्यानशतक और ध्यानस्तव ये दो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। दोनों ही ग्रन्थ यद्यपि ग्रन्थ-शरीर से कृश हैं, फिर भी विषय-विवेचन की दृष्टि से वे अपने आपमें परिपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रन्थों में अपनी-अपनी शैली से ध्यान का सुन्दर व महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। ध्यानशतक जहाँ प्राकृत भाषा मे गाथाबद्ध है वहा ध्यानस्तव संस्कृत श्लोकों में रचा गया है।

ध्यानशतक मे केवल १०५ गाथायें हैं। इनमे से लगभग ४६-४७ गाथायें आचार्य वीरसेन द्वारा षट्खण्डागम की टीका धवला मे उद्धृत की गई हैं (देखिये प्रस्तावना पृ. ५६-६२)। धवला का वह भाग (पु. १३) जिस समय सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था उस समय ये गाथायें किस ग्रन्थ की हैं, यह पता नहीं लग पाया था। कुछ समय के पश्चात् सशोधन कार्य के वश जब मैं आवश्यकसूत्र का परिशीलन कर रहा था तब वे गाथायें वहां मुझे हरिभद्र सूरि के द्वारा अपनी टीका मे पूर्ण रूप से उद्धृत प्रस्तुत ध्यानशतक मे उपलब्ध हुईं। तब मैंने इस ध्यानशतक का तन्मयता से अध्ययन किया। ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी व महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। इससे उसे प्रकाश मे लाने की मेरी इच्छा बलवती हो उठी। तब मैंने हिन्दी अनुवाद आदि के साथ उसके कार्य को सम्पन्न कर डाला। अब समस्या उसके प्रकाशन की थी। मैंने उसकी चर्चा वीर सेवा मन्दिर के महासचिव श्री महेन्द्रसेन जी जैनी से की। उन्होने उसे वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित करने की योजना बनायी और उसी के आधार मे उन्होने उसे वीर सेवा मन्दिर के लिए दे देने की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार ग्रन्थ मैंने उन्हे सहर्ष दे दिया।

विषय की समानता और ग्रन्थ की उपयोगिता को देखते हुए उसके साथ दूसरे ग्रन्थ ध्यानस्तव को भी जोड देना उचित समझा गया। इस प्रकार से इस सस्करण मे हरिभद्र सूरि विरचित संस्कृत टीका व मेरे हिन्दी अनुवाद के साथ ध्यानशतक तथा केवल मेरे हिन्दी अनुवाद के साथ भास्करनन्दी विरचित ध्यानस्तव ये दो ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

मेरी इच्छा थी कि इन दोनो ग्रन्थों का उपलब्ध कुछ हस्तलिखित प्रतियो से मिलान कर लिया जाय। पर वे सुलभ न हो सकी। जैसा कि जिन-रत्नकोश मे निर्देश किया गया है, यद्यपि ध्यानशतक की कुछ प्रतियाँ अहमदाबाद, बम्बई और पाटण मे विद्यमान है, पर इसके लिये वहाँ लिखने पर न तो कोई प्रति ही मिल सकी और न कुछ उत्तर भी प्राप्त हुआ। इससे उसका सम्पादन आवश्यक सूत्र की टीका मे उद्धृत व मुद्रित संस्करण तथा विनय सुन्दर चरण ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित स्वतन्त्र सस्करण के ही आधार से किया गया है।

ध्यानस्तव का सम्पादन जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण २ मे श्री प. के. भुजबली शास्त्री के द्वारा सम्पादित व प्रकाशित मूल मात्र तथा कु. सुजुको ओहिरा द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला) द्वारा प्रकाशित सस्करण (ई. सन् १९७३) के आधार से किया गया है। इसके लिए मैं उक्त दोनों ग्रन्थों के इन संस्करणों के सम्पादकों व प्रकाशको का विशेष आभारी हूं।

प्रस्तावना के लेखन में वैसे तो बहुत से ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी है, पर विशेष रूप से श्री प. सुखलाल जी संघवी द्वारा लिखित 'योगदर्शन तथा योगविंशिका' की प्रस्तावना (संवत् १९७८) और कु.

सुजुको ओहिरा द्वारा इंगलिश में लिखी गई ध्यानस्तव की प्रस्तावना के हिन्दी अनुवाद से सहायता मिली है। इसके लिए मैं उक्त दोनों प्रस्तावनाओं के लेखक विद्वानों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं।

श्री डा. देवेन्द्रकुमार जी शास्त्री, सहायक प्राध्यापक शासकीय महाविद्यालय नीमच ने, हमारे आग्रह पर दोनों ग्रन्थों का यथासम्भव परिशीलन कर अंगरेजी में प्रस्तावना (Foreword) लिख देने की कृपा की है, इसके लिए मैं उन्हे धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अन्त में मैं वीर सेवा मन्दिर के उन अधिकारियों को भी नहीं भूल सकता हूं, जिन्होंने प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया व उसके प्रकाशन की व्यवस्था भी की है।

हम सभी की यह इच्छा रही है कि ग्रन्थ भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव वर्ष के मध्य में ही प्रकाशित हो जाय। पर ऐसा नहीं हो सका। कारण इसका यह रहा है कि यद्यपि ग्रन्थ का मुद्रणकार्य मार्च १९७४ मे ही प्रारम्भ हो चुका था, पर कुछ ही समय के बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण जुलाई १९७४ मे मुझे दिल्ली छोड़कर घर जाना पड़ा। वहां मैं लगभग डेढ़ वर्ष रहा। इस बीच मुद्रणकार्य प्राय: रुका ही रहा। जब मैं नवम्बर १९७५ में यहां वापिस आया तब कहीं उसके मुद्रणकार्य में प्रगति हुई है। यही कारण है कि ग्रन्थ कुछ विलम्ब से पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है।

वीर सेवा मन्दिर,
दिल्ली
९-३-१९७६

बालचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

ग्रन्थ नाम

जैसा कि टीकाकार हरिभद्र सूरि ने आवश्यकसूत्र निर्युक्ति की टीका में प्रस्तुत ग्रन्थ को गर्भित करते हुए निर्देश किया है,[1] इसका नाम ध्यानशतक रहा है। परन्तु मूल ग्रन्थ के कर्ता ने मगलपद्य मे जो प्रतिज्ञा की है, तदनुसार उनको उसका नाम ध्यानाध्ययन अभीष्ट रहा दिखता है। उक्त मगलपद्य मे उन्होने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईंधन के भस्म कर देनेवाले योगीश्वर को प्रणाम करके ध्यानाध्ययन के कहने की प्रतिज्ञा की है। अध्ययन शब्द से यहा अध्ययन के विषयभूत ग्रन्थविशेष का अभिप्राय रहा है। तदनुसार जिसके पढने से अध्येता को ध्यान का परिचय प्राप्त होता है ऐसे ध्यान के प्रतिपादक शास्त्र का वर्णन करना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट रहा है और उन्होने उसी के कहने की प्रारम्भ मे प्रतिज्ञा की है। ग्रन्थगत विषय के विवेचन को देखते हुए भी यह निश्चित है कि उसमे ध्यान का ही व्यवस्थित रूप मे वर्णन किया गया है, अत उसका 'ध्यानाध्ययन' नाम सार्थक ही है। हरिभद्र सूरि ने उसकी टीका करते हुए जो 'ध्यानशतक' नाम से उसका उल्लेख किया है उसका कारण ग्रन्थ के अन्तर्गत गाथाओ की सख्या है, जो सौ के आस-पास (१०५) ही है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ का कर्ता कौन है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जैसा कि 'बृहद् जैन साहित्य का इतिहास' भाग ४ (पृ २५०) मे सकेत किया गया है[2], प्रस्तुत ग्रन्थ मे १०६ गाथायें पायी जाती है। उनमे जो अन्तिम गाथा (१०६) है उसमे उसे जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा विरचित सूचित किया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

पंचुत्तरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं।
जिणभद्दखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो[3] ॥

यह गाथा कुछ असम्बद्ध-सी दिखती है। भाव उसका यह प्रतीत होता है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण

---

१. ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुत शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मगलार्थमिष्टदेवतानस्कारमाह—ध्यानशतक टीका १ (उत्थानिका)।

२. Discriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts (Vol. xvii, Pt 3, P. 416) Bhandarkar Oriental Recearch Instiute Poona.

३. यह गाथा आवश्यकसूत्र (पूर्व भाग पृ. ५८२–६१२) के अन्तर्गत ध्यानशतक मे तथा वि. भ. सु. च. ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित उसके स्वतन्त्र सस्करण में भी नही पायी जाती है। यदि यह गाथा मूल ग्रन्थकार के द्वारा रची गई होती तो टीकाकार हरिभद्र सूरि द्वारा जिनभद्र क्षमाश्रमण के नाम का निर्देश अवश्य किया जाता।

ने यति की कर्मविशुद्धि के करनेवाले ध्यान के प्रकरण या अध्ययन को एक सौ पाच (१०५) गाथाओ द्वारा कहा है। यह गाथा स्वय ग्रन्थकार के द्वारा रची गई है या पीछे किसी अन्य के द्वारा जोडी गई है, यह सन्देहापन्न है। सम्भवत इसी के आधार से श्री विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित उसके संस्करण मे उसे जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित निर्दिष्ट किया गया है।

किन्तु वह जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा रचा गया है, इसमे सन्देह है। श्री प दलसुखभाई मालवणिया का मन्तव्य है कि ध्यानशतक के रचयिता के रूप मे यद्यपि जिनभद्र गणि से नाम का निर्देश देखा जाता है, पर वह सम्भव नही दिखता। इसका कारण यह है कि हरिभद्र सूरि ने अपनी आवश्यक निर्युक्ति की टीका मे समस्त ध्यानशतक को शास्त्रान्तर स्वीकार करते हुए समाविष्ट किया है तथा वहा उसकी समस्त गाथाओ की व्याख्या भी उन्होने की है। पर वह किसके द्वारा रचा गया है, इसके सम्बन्ध मे उन्होने कुछ भी नही कहा। इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि की उक्त टीका पर टिप्पणी लिखनेवाले आचार्य मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने भी उसके रचयिता के विषय मे कुछ भी सूचना नही की। हरिभद्र सूरि ने जो उसे शास्त्रान्तर कहा है इससे वह स्वतत्र ग्रन्थ है यह तो निश्चित है; पर वह आवश्यक निर्युक्ति के रचयिता की कृति नही है, यह उससे फलित नही होता। उसके प्रारम्भ मे जो योगीश्वर वीर जिन को नमस्कार किया गया है, इस कारण से हरिभद्र सूरि उसे आवश्यक निर्युक्तिकार की कृति न मानते हो, यह तो हो नही सकता। कारण यह कि आवश्यक निर्युक्ति मे किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए कितने ही बार तीर्थंकरो को नमस्कार किया गया है। तदनुसार ध्यान के महत्त्वपूर्ण प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए वीर को नमस्कार किया गया है। अत उसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु की ही कृति समझना चाहिए। हरिभद्र सूरि ने जो उसे शास्त्रान्तर प्रगट किया है वह विषय की महत्ता को देखते हुए ही प्रगट किया है। यदि वह जिनभद्र की कृति होती तो उसकी व्याख्या करते हुए हरिभद्र सूरि उसकी सूचना अवश्य करते[1]।

मेरे विचार में भी वह जिनभद्र क्षमाश्रमण की कृति प्रतीत नही होती। कारण यह कि उनके द्वारा विरचित विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विवक्षित ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए प्रवचन को प्रणाम करके ग्रन्थ के कहने की प्रतिज्ञा करते है तथा उसे समाप्त करते हुए उसकी उपयोगिता को प्रगट करते है। यथा—

कतपवयणप्पणामो वोच्छं चरण-गुणसगहं सयलं।
आवसयाणुयोगं गुरूपदेसाणुसारेणं॥ विशेषा. १.

कयपवयणप्पणामो वोच्छं पच्छित्तदाण संखेव।
जीयव्ववहारगयं जीयस्स विसोहण परमं॥ जीयकप्पसुत्त १.

समाप्ति—**सव्वाणुयोगमूलं भास सामाइयस्स णाऊण।**
होति परिकम्मियमतो जोग्गो सेसाणुयोगस्स॥ विशेषा, ४३२६

इय एस जीयकप्पो समासओ सुविहियाणुकम्पाए।
कहियो वेयोऽय पुण पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि॥ जीयकप्पसुत्त १०३.

पर प्रस्तुत ध्यानशतक मे प्रवचन को प्रणाम न करके योगीश्वर वीर को नमस्कार किया गया है तथा उसे समाप्त करते हुए यद्यपि उसकी उपयोगिता प्रगट की गई है, किन्तु वह कुछ भिन्न रूप मे की गई है। इसके अतिरिक्त विवादापन्न १०६ठी गाथा मे जिस प्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के नाम का

---

१. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. ४५.

निर्देश किया गया है उस प्रकार उपर्युक्त विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र मे अपने नामका निर्देश नही किया गया[1]।

जिस प्रकार उसे जिनभद्र की कृति मानने मे नमस्कारविषयक पद्धति बाधक प्रतीत होती है उसी प्रकार उसे निर्युक्तिकार आ भद्रबाहु की कृति मानने मे भी वही बाधा दिखती है। यह ठीक है कि निर्युक्तिकार किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए उसके प्रारम्भ मे मगलस्वरूप नमस्कार करते है, पर वे सामान्य से तीर्थंकरो को नमस्कार करते देखे जाते है। यथा —

तित्थकरे भगवते अणुत्तरपरक्कमे अमितणाणी।
तिण्णे सुगतिगतिगते सिद्धिपघपदेसए वंदे।।

आव नि. ८० (१०२२), पृ. १६५.

कही वे प्रकरण से सम्बद्ध गणधर आदि को भी नमस्कार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

एक्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वदामि।
सव्व गणधरवस वायगवस पवयण च।।

आव. नि. ८२ (१०५६), पृ. २०२.

उन्होने ध्यानशतक के समान कही योगीश्वर वीर जैसे किसी को नमस्कार किया हो, ऐसा देखने मे नही आया। अतएव हरिभद्र सूरि ने महान् अर्थ का प्रतिपादक होने से उसे जो शास्त्रान्तर कहा है उससे वह एक स्वतत्र ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। यदि वह निर्युक्तिकार की कृति होता तो कदाचित् वे उनका उल्लेख भी कर सकते थे। पर उन्होने उसके कर्ता का उल्लेख निर्युक्तिकार[2] के रूप मे न करके सामान्य ग्रन्थकार के रूप मे ही किया है। यथा—

१ गाथा ११ की उत्थानिका मे वे साधु के आर्तध्यानविषयक शका का समाधान करते हुए कहते है— **आह च ग्रन्थकारः।**

२ गा. २८-२९ मे निर्दिष्ट धर्मध्यानविषयक भावना आदि १२ द्वारों के प्रसंग मे वे कहते हैं कि यह इन दो गाथाओ का सक्षिप्त अर्थ है, विस्तृत अर्थ का कथन प्रत्येक द्वार मे ग्रन्थकार स्वयं करेंगे। यथा—इति **गाथाद्वयसमासार्थः, व्यासार्थं तु प्रतिद्वार ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति।**

सम्भव है कि टीकाकार हरिभद्र सूरि को प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता का ज्ञान न रहा हो अथवा उन्होने उनके नाम का निर्देश करना आवश्यक न समझा हो। यह अवश्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना निर्युक्तिकार आ. भद्रबाहु और जिनभद्र क्षमाश्रमण के समय के आस-पास ही हुई है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जानेवाला है, इसका कारण यह है कि उसके ऊपर आ. उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण का काफी प्रभाव रहा है। तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल प्राय तीसरी शताब्दि है। इसी प्रकार वह स्थानाग के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण से भी अत्यधिक प्रभावित है। वर्तमान आचारादि आगमो का सकलन वलभी वाचना के समय आ. देवर्द्धि गणि के तत्त्वावधान मे वीर निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्षों के आस-पास किया गया है। तदनुसार वह (स्थानाग) पाचवी शताब्दि की रचना ठहरती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ध्यानशतक की रचना पाचवी शताब्दि के बाद हुई है। साथ ही उसके ऊपर चूकि हरिभद्र सूरि के द्वारा टीका रची गई है, इससे उसकी रचना हरिभद्र सूरि (प्रायः विक्रम की की ८वी शताब्दि) के पूर्व हो चुकी है, यह भी सुनिश्चित है। इसके अतिरिक्त जैसा कि हरिभद्र सूरि ने

---

१. जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा विरचित विशेषणवती, बृहत्क्षेत्रसमास और बृहत्सग्रहणी आदि ग्रन्थ कुछ कृतिया भी है, पर उनके सामने न होने से कहा नही जा सकता कि वहां भी उनकी यही पद्धति रही है या अन्य प्रकार की।

२. यथा—इदं गाथापंचक जगाद निर्युक्तिकारः—आव. नि. हरि टी. ७१ (उत्थानिका)

अपनी टीका मे संकेत किया है, उनकी टीका से पूर्व भी कोई अन्य टीका रची जा चुकी है[1]। इस परिस्थिति मे इतना ही कहा जा सकता है कि वह छठी और आठवी शताब्दि के मध्य मे किसी के द्वारा रचा गया है। पर किसके द्वारा रचा गया है, यह निश्चित नही कहा जा सकता।

ग्रन्थ का विषय

ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए मगल के पश्चात् सर्वप्रथम स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बतलाया है। स्थिर अध्यवसान से एकाग्रता का आलम्बन लेनेवाले मन का अभिप्राय रहा है, जिसे दूसरे शब्दो मे एकाग्रचिन्तानिरोध कहा जा सकता है। इसके विपरीत जो अध्यवसान की अस्थिरता है उसे चल चित्त कहकर भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता इन तीन मे विभक्त किया गया है। उनमे ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है। ध्यान से च्युत होने पर जो चित्त की चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा कहा जाता है। भावना और अनुप्रेक्षा इन दोनो से भिन्न जो मन की प्रवृत्ति होती है वह चिन्ता कहलाती है (गा. २)।

एक वस्तु मे चित्त के अवस्थान रूप उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस प्रकार का ध्यान केवली से भिन्न छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवो के ही होता है, केवलियो का ध्यान योगो के निरोधस्वरूप है (३)। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ध्यान के विनष्ट हो जाने पर या तो पूर्वोक्त स्वरूपवाली चिन्ता होती है, या फिर भावना और अनुप्रेक्षा रूप ध्यानान्तर होता है। यह ध्यानान्तर तभी सम्भव है जब कि उसके पश्चात् पुन स्थिर अध्यवसान रूप वह ध्यान होनेवाला हो, अन्यथा उस प्रकार का ध्यानान्तर न होकर चिन्ता ही हो सकती है (३-४)।

आर्तध्यान—

ध्यान सामान्य से चार प्रकार का है—आर्त, रौद्र, धर्म या धर्म्य और शुक्ल। इनमे आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण है तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मुक्ति के कारण है। विशेष रूप से आर्तध्यान को तिर्यंच गति का, रौद्रध्यान को नरक गति का, धर्मध्यान को देव गति का और शुक्लध्यान को मुक्ति का कारण माना गया है (५)।

अनिष्ट विषयों का सयोग होने पर उनके वियोग की जो चिन्ता होती है तथा उनका वियोग हो जाने पर भी जो भविष्य मे उनके पुन सयोग न होने की चिन्ता होती है, उसे प्रथम आर्तध्यान माना गया है। रोगजनित पीड़ा के होने पर उसके वियोग की चिन्ता के साथ भविष्य मे उसके पुन. सयोग न होने की भी जो चिन्ता होती है, उसे दूसरा आर्तध्यान कहा गया है। अभीष्ट विषयो का सयोग होने पर उनका भविष्य मे कभी वियोग न होने विषयक तथा वर्तमान मे यदि उनका सयोग नही है तो उनकी प्राप्ति किस प्रकार से हो, इसके लिए भी जो चिन्ता होती है उसे तीसरा आर्तध्यान माना जाता है। यदि सयम का परिपालन अथवा तपश्चरण आदि कुछ अनुष्ठान किया गया है तो उसके फलस्वरूप इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की विभूतिविषयक प्रार्थना करना, इसे चौथे आर्तध्यान का लक्षण कहा गया है। आगामी काल मे भोगाकाक्षा रूप इस प्रकार का निदान अज्ञानी जन के ही हुआ करता है। कारण यह कि जिस अमूल्य सयम अथवा तपश्चरण के आश्रय से मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे इस प्रकार से भोगो की प्राप्ति मे गमा देना, इसे अज्ञानता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? उपर्युक्त चार प्रकार की इस

१. (क) अनेन किलानागतकालपरिग्रह इति वृद्धा व्याचक्षते। हरि. टी. गा. ८.
(ख) अन्ये पुनरिह गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते। टी. १२.
(ग) अन्ये तु व्याचक्षते तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् स्थितिबहुत्वाच्च ससारोपचारः। टीका १३.
(घ) आदिशब्द' × × × प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये। टीका ५०.

सक्लेश रूप परिणति को यहा आर्तध्यान कहा गया है (६-९)। राग-द्वेष से रहित साधु वस्तुस्वरूप का विचार करता है, इसलिए रोगादि जनित वेदना के होने पर वह उसे अपने पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से उत्पन्न हुई जानकर शुभ परिणाम के साथ सहन करता है। ऐसा विवेकी साधु उत्तम आलम्बन लेकर—निर्मल परिणाम के साथ—उसका पाप से सर्वथा रहित (पूर्णतया निर्दोष) अथवा अल्प पाप से युक्त होता हुआ प्रतीकार करता है, फिर भी निर्दोष उपाय के द्वारा चिकित्सादि रूप प्रतीकार करने के कारण उसके आर्तध्यान नही होता, किन्तु धर्मध्यान ही होता है। इसी प्रकार वह सासारिक दुखो के प्रतीकारस्वरूप जो तप-सयम का अनुष्ठान करता है वह इन्द्रादि पदो की प्राप्ति की अभिलाषा रूप निदान से रहित होता है, इसीलिए इसे भी आर्तध्यान नही माना गया, किन्तु निदान रहित धर्मध्यान ही माना गया हैं। ससार के कारणभूत जो राग, द्वेष और मोह है वे आर्तध्यान मे रहते है, इसीलिए उसे ससार रूप वृक्ष का मूल कहा गया है (१०-१३)।

आर्तध्यानी के कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्यायें होती है। आर्तध्यानी की पहिचान इष्टवियोग एव अनिष्टसयोगादि के निमित्त से होनेवाले आक्रन्दन, शोचन, परिवेदन एव ताडन आदि हेतुओ से हुआ करती है। वह अपने द्वारा किये गये भले-बुरे कर्मों की प्रशसा करता है तथा धन-सम्पत्ति के उपार्जन मे उद्यत रहता हुआ विषयासक्त होकर धर्म की उपेक्षा करता है (१४-१७)।

वह आर्तध्यान व्रतो से रहित मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि एव अविरत-सम्यग्दृष्टि तथा सयतासयत व प्रमादयुक्त सयत जीवो के होता है (१८)।

२ रौद्रध्यान—

हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसरक्षणानुन्धी के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है। क्रोध के वशीभूत होकर एकेन्द्रियादि जीवो के ताड़ने, नासिका आदि के छेदने, रस्सी आदि से बाधने एव प्राणविघात करने आदि का जो निरन्तर चिन्तन होता है, यह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान का लक्षण है। परनिन्दाजनक, असभ्य एव प्राणिप्राणवियोजक आदि अनेक प्रकार के असत्य वचन बोलने का निरन्तर चिन्तन करना, इसे मृषानुबन्धी नामक दूसरा रौद्रध्यान माना गया है। जिसका अन्त करण पाप से कलुषित रहता है तथा जो मायापूर्ण व्यवहार से दूसरो के ठगने मे उद्यत रहता है उसके यह रौद्रध्यान होता है। जिसका चित्त क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की धन-सम्पत्ति आदि के अपहरण मे सलग्न रहता है उसके स्तेयानुबन्धी नाम का तीसरा रौद्रध्यान समझना चाहिए। विषयसरक्षणानुबन्धी नामक चौथे रौद्रध्यान के वशीभूत हुआ जीव विषयोपभोग के लिए उसके साधनभूत धन के सरक्षण मे निरन्तर विचारमग्न रहा करता है। नरक गति का कारभूत यह चार प्रकार का रौद्र-ध्यान मिथ्यादृष्टि से लेकर सयतासयत गुणस्थान तक सम्भव है। यहा आर्तध्यानी के समान रौद्रध्यानी के भी यथासम्भव लेश्याओ और उसके लिंगो आदि का निर्देश किया गया है (१९-२७)।

३ धर्मध्यान—

धर्मध्यान की प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यहा यह सूचना की गई है कि मुनि को १ ध्यान की भावनाओ, २ देश, ३ काल, ४ आसनविशेष, ५ आलम्बन, ६ क्रम, ७ ध्यातव्य, ८ ध्याता, ९ अनुप्रेक्षा, १० लेश्या, ११ लिंग और १२ फल; इनको जानकर धर्मध्यान का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् धर्मध्यान का अभ्यास कर लेने पर शुक्लध्यान का ध्यान करना चाहिए (२८-२९)। इस प्रकार की सूचना करके आगे इन्ही १२ प्रकरणो के आश्रय से क्रमश. प्रकृत धर्मध्यान का विवेचन किया गया है।

१ भावना—ध्यान के पूर्व जिसने भावनाओ के द्वारा अथवा उनके विषय मे अभ्यास कर लिया है वह ध्यानविषयक योग्यता को प्राप्त कर लेता है। वे भावनायें ये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और

वैराग्य। इनमें ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास का नाम ज्ञानभावना है। इसके आश्रय से ध्याता का मन अशुभ व्यापार को छोड शुभ मे स्थिर होता है। साथ ही उसके द्वारा तत्त्व-अतत्त्व का रहस्य जान लेने से ध्याता स्थिरबुद्धि होकर ध्यान मे लीन हो जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम दर्शन है। शंका-कांक्षा आदि पाच दोषो से रहित एवं प्रशम व स्थैर्य आदि गुणों से युक्त होकर उस दर्शन के आराधन को दर्शनभावना कहते है। दर्शन से विशुद्ध हो जाने पर धर्मध्यान का ध्याता ध्यान के विषय मे कभी दिग्भ्रान्त नही होता।

समस्त सावद्ययोग की निवृत्ति रूप क्रिया का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्र-भावना है। इस चारित्रभावना मे नवीन कर्मों के ग्रहण के अभाव रूप सवर, पूर्वसचित कर्म की निर्जरा, सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियो का ग्रहण और ध्यान, ये विना किसी प्रकार के प्रयत्न के—अनायास—ही प्राप्त होते है।

संसार के स्वभाव को जानकर विषयासक्ति से रहित होना, यही वैराग्यभावना है। इस वैराग्य-भावना से जिसका मन सुवासित हो जाता है वह इह-परलोकादि भयो से रहित होकर आशा से—इहलोक और परलोक विषयक सुखाभिलाषा से—भी रहित हो जाने के कारण ध्यान मे अतिशय स्थिर हो जाता है (३०-३४)।

२ देश—यह एक साधारण नियम है कि मुनि का स्थान सदा ही युवतिजन, पशु, नपुसक और कुशील (जुवारी आदि) जनो से रहित होना चाहिए। ऐसी स्थिति मे ध्यान के समय तो उसका वह स्थान विशेषरूप से निर्जन (एकान्त) कहा गया है। किन्तु इतना विशेष है कि जो सहनन व धैर्य से बलिष्ठ है, ज्ञानादि भावनाओ के व्यापार मे अभ्यस्त है, तथा जिनका मन अतिशय स्थिरता को प्राप्त कर चुका है, उनके लिए उक्त प्रकार से स्थानविशेष का कोई नियम नही है - वे जनो से सकीर्ण गाव मे और निर्जन वन मे भी निर्बाध रूप से ध्यान कर सकते हैं। ध्याता के लिए वही स्थान उपयुक्त माना गया है जहा मन, वचन एव काय योगो को समाधान प्राप्त होता है तथा जो प्राणिहिंसादि से विरहित होता है (३५-३७)।

३ काल—स्थान के विषय मे जो कुछ कहा गया है वही काल के विषय मे भी समझना चाहिए। अर्थात् ध्यान के लिए काल भी वही उपयोगी होता है जिसमे योगो को उत्तम समाधान प्राप्त होता है। इसके सिवाय काल के विषय मे ध्याता के लिए दिन व रात्रि आदि का कोई विशेष नियम नही निर्दिष्ट किया गया (३८)।

४ आसनविशेष—अभ्यास मे आयी हुई जो भी आसन आदि रूप शरीर की अवस्था ध्यान मे बाधक नही होती है उसमें स्थित रहते हुए कायोत्सर्ग, पद्मासन अथवा वीरासन आदि से ध्यान करना योग्य है। कारण यह कि देश, काल और आसन आदि रूप सभी अवस्थाओ मे वर्तमान होते हुए मुनि जनो ने पाप को शान्त करके उत्कृष्ट केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है। यही कारण है जो आगम मे ध्यान के योग्य देश, काल और आसनविशेष का कोई नियम नही निर्दिष्ट किया गया। किन्तु वहा इतना मात्र कहा गया है कि जिस प्रकार से भी ध्यान के समय योगो को समाधान प्राप्त होता है उसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए (३९-४१)।

५ आलम्बन—वाचना, प्रच्छना (प्रश्न), परावर्तना और अनुचिन्ता तथा सामायिक आदि सद्धर्मावश्यक ये ध्यान के आलम्बन कहे गये है। जिस प्रकार किसी बलवती रस्सी आदि का सहारा लेकर मनुष्य विषम (दुर्गम) स्थान पर पहुच जाता है उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि—पूर्वोक्त वाचना आदि का आश्रय लेकर उत्तम ध्यान पर आरूढ होता है (४२-४३)।

६ क्रम—क्रम का विचार करते हुए यहां लाघव पर दृष्टि रखकर धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान के भी क्रम का निरूपण कर दिया गया है। उसके प्रसग में यह कहा गया है कि केवलियों के मुक्ति की

प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब वे जो क्रम से मनयोग आदि का निग्रह करते है, यही शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम है। शेष धर्मध्यानियों के ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम समाधि के अनुसार—जैसे भी स्वस्थता प्राप्त होती है तदनुसार—जानना चाहिए (४४)।

७ ध्यातव्य - ध्यातव्य का अर्थ ध्यान के योग्य विषय (ध्येय) है। वह आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है। इनके चिन्तन से क्रमश धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय ये चार भेद हो जाते है। नय, भग, प्रमाण और गम (चतुर्विंशतिदण्डक आदि) से गम्भीर ऐसे कुछ सूक्ष्म पदार्थ है जिनका परिज्ञान मन्दबुद्धि जनो को नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे यदि उसे बुद्धि की मन्दता से, यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक आचार्यो के अभाव से, जानने योग्य धर्मास्तिकाय आदि की गम्भीरता (दुरवबोधता) से, ज्ञानावरण के उदय से तथा हेतु और उदाहरण के असम्भव होने से यदि जिज्ञासित पदार्थ का ठीक से बोध नही होता है तो बुद्धिमान् धर्मध्यानी को यह विचार करना चाहिए कि सर्वज्ञ का मत—वचन (जिनाज्ञा)—असत्य नही हो सकता। कारण यह कि प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखनेवाले जिन भगवान् सर्वज्ञ होकर राग, द्वेष और मोह को जीत चुके है—उनसे सर्वथा रहित हो चुके है, अतएव वे वस्तुस्वरूप का अन्यथा (विपरीत) कथन नहीं कर सकते। इस प्रकार से वह प्राणिमात्र के लिए हितकर जिनवचन (जिनाज्ञा) के विषय मे विचार करता है (४५-४९)।

जो प्राणी राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओ मे प्रवर्तनमान है वे इस लोक और परलोक दोनो ही लोको मे अनेक प्रकार के अपायो (दु खो) को प्राप्त होनेवाले है। धर्मध्यानी वर्जनीय अकार्य का परित्याग करता हुआ उक्त अपायो के विषय मे विचार किया करता है (५०)।

विपाक का अर्थ कर्म का उदय है। मन, वचन व काय योगों से तथा मिथ्यादर्शनादि रूप जीवगुणो के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला कर्म का विपाक प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव के भेद से भेद को प्राप्त है। इनमे प्रत्येक शुभ और अशुभ (पुण्य-पाप) इन दो मे विभक्त है; इत्यादि प्रकार से धर्मध्यानी कर्म के विपाक के विषय मे विचार किया करता है (५१)।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (सस्थान) का निरूपण करते हुए यहा यह कहा गया है कि धर्मध्यानी द्रव्यो के लक्षण, सस्थान, आसन (आधार), भेद, प्रमाण और उत्पादादि पर्यायो का विचार करता हुआ धर्मादि पाच अस्तिकाय स्वरूप लोक की स्थिति का भी विचार करता है। इसके अतिरिक्त जीव जो उपयोग स्वरूप, अनादिनिधन, शरीर से भिन्न, अमूर्तिक और अपने कर्म का कर्ता व भोक्ता है उसका विचार करता है तथा अपने ही कर्म के वश जो उसका ससार मे परिभ्रमण हो रहा है उससे उसका किस प्रकार से उद्धार हो सकता है, इत्यादि का भी गम्भीर विचार करता है। यहा संसार को समुद्र की उपमा देकर दोनो की समानता का अच्छा चित्रण किया गया है (५२-६२)।

८ ध्याता—ध्याता के प्रसग मे कहा गया है कि प्रकृत धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादो से रहित—अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती—मुनि और क्षीणमोह (क्षपक निग्रन्थ) एव उपशान्तमोह (उपशमक निर्ग्रन्थ) होते है (६३)।

इस धर्मध्यान के ही प्रसग मे लाघव की अपेक्षा रखकर शुक्लध्यान के भी ध्याता का विचार करते हुए यह कहा गया है कि जो ये धर्मध्यान के ध्याता है वे ही अतिशय प्रशस्त सहनन से युक्त होते हुए पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानो के भी ध्याता होते है। विशेष इतना है कि वे चौदह पूर्वो के पारगामी होते है। शेष दो शुक्लध्यानो के—सूक्ष्मक्रियानिवर्ति और व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति के—ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते है (६४)।

९ अनुप्रेक्षा—इसके प्रसग मे यह कहा गया है कि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ध्यानकाल के समाप्त हो जाने पर जब धर्मध्यान विनष्ट हो जाता है तब पूर्व मे उस धर्मध्यान से जिसका चित्त सुसस्कृत हो चुका

है वह मुनि ध्यान के उपरत हो जाने पर भी सदा अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है (६५)।

१० **लेश्या**—धर्मध्यानी के क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होनेवाली पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त लेश्यायें हुआ करती हैं जो तीव्र, मन्द व मध्यम भेदों से युक्त होती है (६६)।

११ **लिंग**—धर्मध्यानी का परिचय किन हेतुओं के द्वारा होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से जो जिनोपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान होता है उससे तथा जिनदेव, साधु और उनके गुणो के कीर्तन आदि से उक्त धर्मध्यानी का बोध हो जाता है (६७-६८)।

१२ **फल**—धर्मध्यान के फल का निर्देश यहा न करके लाघव की दृष्टि से उसका निर्देश आगे शुक्लध्यान के प्रकरण (गा. ९३) मे किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त भावना आदि बारह अधिकारो के आश्रय से यहा (६८) धर्मध्यान की प्ररूपणा समाप्त हो जाती है।

४ शुक्लध्यान—

जिन पूर्वोक्त भावना आदि बारह अधिकारो के द्वारा धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उन बारह अधिकारों की अपेक्षा प्रस्तुत शुक्लध्यान की प्ररूपणा मे भी रही है। उनमे से भावना, देश, काल और आसनविशेष इन चार अधिकारो मे उसकी धर्मध्यान से कुछ विशेषता नही रही है। इसलिए उनकी प्ररूपणा न करके यहा शेष आवश्यक अधिकारो के ही आश्रय से शुक्लध्यान का निरूपण किया गया है। यथा—

५ **आलम्बन**—क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये यहा शुक्लध्यान के आलम्बन निर्दिष्ट किये गये हैं (६९)।

६ **क्रम**- पृथक्त्ववितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियानिवर्ति और व्युच्छिन्न-क्रियाप्रतिपाति के भेद से शुक्लध्यान चार प्रकार का है। इनमे प्रथम दो शुक्लध्यानो के क्रम का निरूपण धर्मध्यान के प्रकरण (४४) मे किया जा चुका है। इसलिए उन्हे छोडकर अन्तिम दो शुक्लध्यानो के क्रम का विचार करते हुए यहा यह कहा गया है कि मन का विषय जो तीनो लोक है उसका छद्मस्थ ध्याता क्रम से सक्षेप (सकोच) करता हुआ उस मन को परमाणु मे स्थापित करता है और अतिशय स्थिरता-पूर्वक ध्यान करता है। तत्पश्चात् केवली जिन उसे परमाणु से भी हटाकर उस मन मे सर्वथा रहित होते हुए अन्तिम दो शुक्लध्यानो के ध्याता हो जाते हैं। वह किस प्रकार से उस मन के विषय का सक्षेप कर उसे परमाणु मे स्थापित करता है तथा उससे भी फिर उसे किस प्रकार से हटाता है, इसे आगे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त शरीर मे व्याप्त विष को मत्र के द्वारा डक मे रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् उसे अतिशय प्रधान मत्र के योग से उस डकस्थान से भी हटा दिया जाता है उसी प्रकार तीनो लोकरूप शरीर मे व्याप्त मनरूप विष को ध्यानरूप मत्र के बल से युक्त ध्याता डक-स्थान के समान परमाणु मे रोक देता है और तत्पश्चात् जिनरूप वैद्य (मान्त्रिक) उसे उस परमाणु से भी हटा देता है। आगे इसी बात को अग्नि और जल के दृष्टान्तो द्वारा भी पुष्ट किया गया है। इस प्रकार मन का निरोध हो जाने पर फिर क्रम से वचनयोग और काययोग का भी निरोध करके वह शैल के समान स्थिर होता हुआ शैलेशी केवली हो जाता है (७०-७६)।

७ **ध्यातव्य**—शुक्लध्यान के ध्येय का विचार करते हुए यहा यह कहा गया है कि पृथक्त्ववितर्क सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान मे ध्याता पूर्वगत श्रुत के अनुसार अनेक नयो के आश्रय से आत्मादि किसी एक वस्तुगत उत्पाद, स्थिति और भग (व्यय) रूप पर्यायो का विचार करता है। इस ध्यान मे चूंकि अर्थ से अर्थान्तर, व्यजन (शब्द) से व्यजनान्तर और विवक्षित योग से योगान्तर मे सक्रमण होता है; इसलिए उसे सविचार कहा गया है। वह वीतराग के हुआ करता है (७७-७८)।

एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान मे ध्याता उपर्युक्त उत्पादादि पर्यायो मे से किसी एक ही पर्याय का विचार करता है। इस ध्यान मे चित्त वायु के सचार से रहित दीपक के समान स्थिर

हो जाता है। इस ध्यान में चूकि अर्थ से अर्थान्तर आदि का संक्रमण नहीं होता, इसलिए उसे अविचार कहा गया है। प्रथम शुक्लध्यान के समान इसमे भी श्रुत का आलम्बन रहता है (७९-८०)।

जो योगो का कुछ निरोध कर चुका है तथा जिसके उच्छ्वास-निःश्वास रूप सूक्ष्म काय की क्रिया ही शेष रही है ऐसे केवली के जब मुक्ति की प्राप्ति मे अन्तर्मुहूर्त मात्र ही शेष रहता है तब उनके सूक्ष्मक्रियानिवर्ति नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है (८१)।

शैल के समान अचल होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए उन्ही केवली के व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का चौथा परम शुक्लध्यान होता है (८२)।

ये चारो शुक्लध्यान योग की अपेक्षा किनके होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि प्रथम शुक्लध्यान एक योग अथवा सब योगो मे होता है, दूसरा शुक्लध्यान तीनो योगो मे से किसी एक योग मे होता है, तीसरा शुक्लध्यान काययोग मे होता है; तथा चौथा शुक्लध्यान योगों से रहित हो जाने पर अयोगी जिन के होता है (८३)।

यहां यह आशंका हो सकती थी कि केवली के जब मन का अभाव हो चुका है तब उनके तीसरा और चौथा शुक्लध्यान कैसे सम्भव है, क्योकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है? इस आशंका के समाधानस्वरूप आगे यह कहा गया है कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन को ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है, कारण यह कि योग की अपेक्षा उन दोनो मे कोई भेद नही है। इस पर पुन यह आशका हो सकती थी कि अयोग केवली के तो वह (काययोग) भी नही रहा, फिर उनके व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का चौथा शुक्लध्यान कैसे माना जा सकता है? इसके परिहार स्वरूप आगे यह कहा गया है कि पूर्वप्रयोग, कर्मनिर्जरा का सद्भाव, शब्दार्थबहुतता और जिनचन्द्रागम, इन हेतुओ के द्वारा सयोग और अयोग केवलियो के चित्त का अभाव हो जाने पर भी जीवोपयोग का सद्भाव बना रहने से क्रमश सूक्ष्मक्रियानिवर्ति और व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ये दो शुक्लध्यान कहे जाते है (८४-८६)।

८ ध्याता— शुक्लध्यान के ध्याताओ का कथन धर्मध्यान के प्रकरण (६३-६४) मे किया जा चुका है।

९ अनुप्रेक्षा—शुक्लध्यानी ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी आस्रवद्वारापाय, ससाराशुभानुभाव, अनन्तभवसन्तान और वस्तुविपरिणाम इन चार अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करता है (८७-८८)।

१० लेश्या— प्रथम दो शुक्लध्यान शुक्ललेश्या मे और तीसरा परम शुक्ललेश्या मे होता है। चौथा शुक्लध्यान लेश्या से रहित है (८९)।

११ लिंग— अवधा, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये चार शुक्लध्यान के लिग कहे गये हैं। परीषह और उपसर्ग के द्वारा न ध्यान से विचलित होना और न भयभीत होना, यह अवधालिग है। सूक्ष्म पदार्थों और देवनिर्मित माया में मूढ़ता को प्राप्त न होना, यह असम्मोह का लक्षण है। आत्मा को शरीर से भिन्न समझना तथा सब संयोगों को देखना, इसका नाम विवेक है। निःसग होकर शरीर और उपधिका परित्याग करना, इसे व्युत्सर्ग कहा जाता है (९०-९२)।

१२ फल—शुक्लध्यान के फल का विचार करते हुए यहां कहा गया है कि शुभास्रव, सवर, निर्जरा और देवसुख ये जो शुभानुबन्धी धर्मध्यान के फल हैं विशेषरूप से वे ही शुभ आस्रव आदि और अनुपम देवसुख ये प्रथम दो शुक्लध्यानों के फल हैं। अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल निर्वाण की प्राप्ति है (९३-९४)।

इस प्रकार शुक्लध्यान की प्ररूपणा को समाप्त करते हुए धर्म और शुक्ल ध्यान निर्वाण के कारण क्यों और किस प्रकार से हैं, इसे विविध दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध किया गया है (९५-१०२)।

अन्त मे ध्यान के द्वारा इस लोक सम्बन्धी भी शारीरिक और मानसिक दुख दूर होते हैं, यह

बतलाते हुए सब गुणों के आधारभूत और दृष्ट-अदृष्ट सुख के साधक ऐसे प्रशस्त ध्यान के श्रद्धान, ज्ञान और चिन्तन की प्रेरणा की गई है (१०३-५)।

ध्यान का महत्त्व

सब ही प्राणी सुख के अभिलाषी है और दुख को कोई भी नही चाहता[1]। पर वह सुख क्या और कहा है तथा उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, इसका विवेक अधिकाश को नही रहता है। इसी से वे जो वस्तुतः सुख-दुःख के कारण नही हैं उन बाह्य पदार्थों मे सुख-दु.ख की कल्पना करके राग, द्वेष व मोह के वशीभूत होते हुए कर्म से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार कर्मबन्धन मे बद्ध होकर वे सुख के स्थान मे दु.ख का ही अनुभव किया करते है। अज्ञानी प्राणी जिसे सुख मानता है वह यथार्थ मे सुख नही, किन्तु सुख का आभास मात्र है। ऐसे इन्द्रियजनित क्षणिक सुख के विषय मे यह ठीक ही कहा गया है[2]—वह काल्पनिक सुख प्रथम तो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त होता है, अत. पराधीन है। दूसरे, पुण्य कर्म के सयोग से यदि वह प्राप्त भी हुआ तो वह जब तक पुण्य का उदय है तभी तक सम्भव है, बाद मे नियम से नष्ट होने वाला है। तीसरे, उसकी उत्पत्ति दु खो से व्यवहित है[3]। उस सुख के अनन्तर पुनः अनिवार्य दुःख प्राप्त होने वाला है। कारण यह कि पुण्य कर्म के क्षीण हो जाने पर दु:ख के कारणभूत पाप का उदय अवश्यभावी है। इसके अतिरिक्त वह आसक्ति और तृष्णा का बढ़ाने वाला होने से पापास्रव का भी कारण है[4]। अतएव ऐसे दु खमिश्रित सुख को अश्रद्धेय कहा गया है।

तब यथार्थ सुख कौन हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसके समाधान स्वरूप यह कहा गया है कि जिसमे असुख (दु ख) का लेश भी नही है उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिए[5]। ऐसा सुख जीव को कर्मबन्धन से रहित हो जाने पर मुक्ति मे ही प्राप्त हो सकता है[6], जन्म-मरणरूप ससार मे वह सम्भव नही है। उस मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, जिन्हे समस्त रूप मे मोक्ष का मार्ग माना गया है। निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के उस मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारण ध्यान है, अतएव मुक्ति प्राप्ति के लिए उस ध्यान के अभ्यास की जहा तहा प्रेरणा की गई है[7]।

प्रस्तुत ध्यानशतक मे भी कहा गया है कि ध्यान तप का प्रमुख का कारण है, वह तप सवर व

---

१ दु:खाद् बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दु:खापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ आत्मानु. २.

२. कर्मपरवशे सान्ते दु खैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धानाकाक्षणा स्मृता ॥ रत्नक. १२.

३. दु.खस्यानन्तरं सौख्यं ततो दुखं हि देहिनाम् ॥ क्षत्रचू. ४-३६.

४. तृष्णार्चिष. परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ स्वयम्भू. १७-२.
यत्तु सांसारिक सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम्। स्व-परद्रव्यसम्भूत तृष्णा-सन्तापकारणम् ॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभनिबन्धनम्।
दु:खकारणबन्धस्य हेतुत्वाद् दु खमेव तत् ॥ तत्त्वानु. २४३-४४.

५. स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत् सुख यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञान यत्र नाज्ञान सा गतिर्यत्र नाऽऽगति. ॥ आत्मानु. ४३.

६. आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम्।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत् तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ तत्त्वानु. २४२.

७. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाण समब्भसह ॥ द्रव्यसं. ४७.

निर्जरा का कारण है, तथा वे संवर व निर्जरा मुक्ति के कारण हैं। इस प्रकार परम्परा से मुक्ति का कारण वह ध्यान ही है (९६)। जिस प्रकार अग्नि चिरसंचित इन्धन को भस्मसात् कर देती है उसी प्रकार ध्यान चिरसंचित कर्मरूप इन्धन को भस्मसात् कर देता है। अथवा जिस प्रकार वायु के आघात से मेघों का समूह विलय को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार ध्यानरूप वायु के आघात से कर्मरूप मेघसमूह क्षण-भर मे विलीन हो जाता है। इतना ही नही, ध्याता उस ध्यान के प्रभाव से इस लोक में मानसिक और शारीरिक दुखों से भी सन्तप्त नही होता (१०१-४)। इस प्रकार ध्यान में अपूर्व सामर्थ्य है।

ध्यान पर आरूढ हुआ ध्याता चूंकि इष्ट-अनिष्ट विषयो मे राग-द्वेष और मोह से रहित हो जाता है; इसलिए उसके जहा नवीन कर्मों के आगमन (आस्रव) का निरोध होता है वहां उस ध्यान से उद्दीप्त तप के प्रभाव से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह ध्यान परम्परा से निर्वाण का कारण है[1]।

ध्यान के स्वामी

ध्यानशतक मे तत्त्वार्थसूत्र के समान ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें से प्रत्येक के भी चार चार भेद कहे गये हैं।

आर्तध्यान—

उनमे चारों प्रकार का आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक सम्भव है, यह अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र[2] और ध्यानशतक (१८) दोनों मे ही प्रगट किया गया है।

आ. पूज्यपाद विरचित तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका मे प्रकृत सूत्र को स्पष्ट करते हुए यह विशेषता प्रगट की गई है कि अविरतो—असंयतसम्यग्दृष्टि तक—और देशविरतों के वह चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है, क्योकि वे सब असंयम परिणाम से सहित होते हैं। परन्तु प्रमत्तसंयतों के प्रमाद के उदय की तीव्रता से कदाचित् निदान को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान होते हैं[3]।

तत्त्वार्थवार्तिक मे इस प्रसंग मे इतना मात्र कहा गया है कि निदान को छोड़कर शेष तीन आर्त-ध्यान प्रमाद के उदय की तीव्रता से प्रमत्तसंयतों के कदाचित् हुआ करते हैं। सूत्र की स्थिति को देखते हुए यह स्वय प्रगट है कि प्रथम तीन आर्तध्यान प्रमत्तसयतो तक कदाचित् होते हैं, परन्तु निदान प्रमत्त-संयतो के नहीं होता[4]।

मूलाचार, स्थानाग, समवायांग और औपपातिकसूत्र मे किसी भी ध्यान के स्वामियो का उल्लेख नही किया गया है।

हरिवंशपुराण मे सामान्य से इतना मात्र निर्देश किया गया है कि वह आर्तध्यान छह गुणस्थान भूमिवाला है—छह गुणस्थानों मे सम्भव है[5]।

ज्ञानार्णव मे उसका हरिवंशपुराण के समान सामान्य से 'षड्गुणस्थानभूमिक' ऐसा निर्देश करके

---

१. मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
विरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ द्र. स. ४८.

२ तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसयतानाम्। त. सू. (दि.) ९-३४, श्वे. ९-३५.

३. तत्राविरत-देशविरताना चतुर्विधमार्तं भवति, असयमपरिणामोपेतत्वात्। प्रमत्तसंयताना तु निदान-वर्ज्यमन्यदार्तत्रय प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् स्यात्। स. सि ९-३४.

४. कदाचित् प्राच्यमार्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्। निदान वर्जयित्वा अन्यदार्तत्रय प्रमादोदयोद्रेकात् कदा-चित् प्रमत्तसंयताना भवति। त. वा. ९, ३४, १.

५. अधिष्ठानं प्रमादोऽस्य तिर्यग्गतिफलस्य हि।
परोक्ष मिश्रको भावः षड्गुणस्थानभूमिकम्॥ ५६-१८.

भी आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संयतासंयतो मे तो वह चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है, परन्तु प्रमत्तसंयतों के वह निदान से रहित शेष तीन प्रकार का होता है[1]।

रौद्रध्यान—

रौद्रध्यान के स्वामियो का निर्देश करते हुए उसका अस्तित्व तत्त्वार्थसूत्र (९-३५), सर्वार्थसिद्धि (९-६५), तत्त्वार्थवार्तिक (९-३५), ध्यानशतक (२३), हरिवंशपुराण (५६-२६) और ज्ञानार्णव (३६, पृ २६६) आदि प्राय सभी ग्रन्थो में प्रथम पांच गुणस्थानो मे निर्दिष्ट किया गया है।

धर्मध्यान—

धर्म्यध्यान के स्वामियों के विषय मे परस्पर काफी मतभेद रहा है। यथा—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र मे अप्रमत्तसयत, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के उसका सद्भाव प्रगट किया गया है[2]। यहा सूत्र मे उपयुक्त 'अप्रमत्तसयतस्य' इस एकवचनान्त पद से ऐसा प्रतीत होता है कि उससे केवल सातवें गुणस्थान को ही ग्रहण किया गया है। आगे उल्लिखित उपशान्त-कषाय और क्षीणकषाय शब्दो से ग्यारहवा और बारहवा ये दो गुणस्थान विवक्षित रहे दिखते है। ऐसी अवस्था मे मध्य के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानो मे कौनसा ध्यान होता है, यह विचारणीय है। कारण यह कि इसे न तो मूल सूत्र मे स्पष्ट किया गया है और न उसके भाष्य मे भी।

ध्यानशतक (६३) मे भी लगभग यही कहा गया है। परन्तु वहा 'सव्वप्पमायरहिया मुणओ' ऐसा जो बहुवचनात्मक निर्देश किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को समस्त प्रमादो से रहित—अप्रमत्तसयत से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त—सभी मुनि धर्मध्यान के स्वामी अभिप्रेत रहे हैं। आगे उपशान्तमोह और क्षीणमोह का पृथग्रूप मे जो निर्देश किया गया है उससे सयोग और अयोग केवलियों की व्यावृत्ति हो जाती है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने क्षीणमोह से क्षपक निर्ग्रन्थो और उप-शान्तमोह से उपशमक निर्ग्रन्थो को ग्रहण किया है। इस प्रकार से भी पूर्वोक्त अपूर्वकरणादि उक्त तीन गुणस्थानो का ग्रहण हो जाता है।

सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र मे धर्म्यध्यान के स्वामिविषयक कुछ उल्लेख नही किया गया, उसमे मात्र धर्म्यध्यान के भेदो का सूचक स्वरूप मात्र कहा गया है[3]। वहा आर्त, रौद्र और शुक्ल इन तीन ध्यानो के स्वामियो का निर्देश करने पर भी धर्म्यध्यान के स्वामियो का निर्देश क्यो नही किया गया, यह विचारणीय है। हा, यह अवश्य है कि उस सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि मे यह निर्देश किया गया है कि उक्त धर्म्यध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्त-सयत इन चार के होता है[4]। बृहद्द्रव्यसग्रह टीका मे उसका अस्तित्व इन्ही चार गुणस्थानो मे स्वीकार किया गया है[5]। इसी प्रकार अमितगतिश्रावकाचार (१५-१७) मे भी उसका सद्भाव इन्ही चार गुण-स्थानो मे बतलाया गया है।

---

१ अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे। विद्धयसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम्॥
संयतासयतेष्वेतच्चतुर्भेद प्रजायते। प्रमत्तसयताना तु निदानरहित त्रिधा॥ ३८-३९, पृ. २६०.

२ आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसयतस्य। उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च।
त. सू. ९, ३७-३८

३. आज्ञापाय विपाक-सस्थानविचयाय धर्म्यम्। त. सू. ९-३६.

४. तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसयताना भवति। स सि ९-३६.

५. अत परम् आर्त-रौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयसज्ञ चतुर्भेदभिन्न तारतम्यवृद्धि-क्रमेणासयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम्। बृहद्द्र. टी. ४८, पृ. १७५.

तत्त्वार्थवार्तिक में धर्म्यध्यान के स्वामियों का पृथक् से स्पष्ट निर्देश तो उस प्रसंग में नही किया गया, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि मे किया गया है। परन्तु वहां शका के रूप मे यह कहा गया है कि उक्त धर्म्य-ध्यान अप्रमत्तसयत के होता है। उसका समाधान करते हुए यह कहा गया है कि ऐसा सम्भव नही है, क्योकि वैसा स्वीकार करने पर अप्रमत्त के पूर्ववर्ती असयतसम्यग्दृष्टि आदि तीन गुणस्थानों मे उसके अभाव का प्रसंग दुर्निवार होगा। पर सम्यक्त्व के प्रभाव से इन तीन गुणस्थानों मे भी वह होता है। इसके बाद वहां यह दूसरी शका उठायी गई है कि उक्त धर्म्यध्यान पूर्व गुणस्थानवर्तियो के ही नहीं, बल्कि उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के भी होता है। इस शका के समाधान मे कहा गया है कि यह भी ठीक नही है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर इन दो गुणस्थानो में जो शुक्लध्यान का अस्तित्व स्वीकार किया गया है उसके वहा अभाव का प्रसग प्राप्त होगा। इस पर यदि यह कहा जाय कि उनके धर्म्य और शुक्ल ये दोनो ही ध्यान हो सकते हैं, तो यह भी सगत नही है; क्योकि पूर्व (धर्म्य) ध्यान उनके नही माना गया है। आर्ष मे उसे उपशमक और क्षपक दोनो श्रेणियो मे नही माना जाता, किन्तु उनके पूर्ववर्ती गुण-स्थानो में माना जाता है[1]। यहा अगले सूत्र (९-३७) की उत्थानिका मे यह सूचना अवश्य की गई है कि वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तमयत और अप्रमत्तसयतो के होता है।

धवला मे जो प्रकृत धर्म्यध्यान के स्वामिविषयक उल्लेख किया गया है वह बहुत स्पष्ट है। वहा यह शका उठायी गई है कि धर्म्यध्यान सकषाय जीवो मे ही होता है, यह कैसे जाना जाता है? इस शका के समाधान मे यह कहा गया है कि धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति असंयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वसयत, अनिवृत्तिसयत और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपको व उपशमको मे होती है; इस जिन देव के उपदेश से वह जाना जाता है[2]।

हरिवंशपुराण मे उक्त धर्म्यध्यान के स्वामियो के प्रसंग मे इतना मात्र कहा गया है कि प्रमाद के अभाव मे उत्पन्न होने वाला वह अप्रमत्तगुणस्थानभूमिक है—अप्रमत्तगुणस्थान तक होता है। यहा यह स्पष्ट नही किया गया है कि वह प्रथम से सातवें गुणस्थान तक होता है, अथवा चौथे से सातवें गुण-स्थान तक होता है, अथवा एक मात्र सातवें गुणस्थान मे ही होता है। यहा पूर्व मे आर्तध्यान के प्रसग मे भी 'षड्गुणस्थानभूमिक' (५६-१८) ऐसा निर्देश करके उसका अस्तित्व प्रथम से छठे गुणस्थान तक प्रगट किया गया है[3]।

आदिपुराण मे उक्त धर्म्यध्यान की स्थिति को आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियो, सयता-सयतो और प्रमत्तसयतो मे स्वीकार करते हुए उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तो मे माना गया है[4]।

तत्त्वानुशासन मे धर्म्यध्यान के स्वामियो के प्रसंग मे प्रथमतः यह निर्देश किया गया है कि तत्त्वार्थ[5] मे उसके स्वामी अप्रमत्त, प्रमत्त, देशसयत और सम्यग्दृष्टि ये चार माने गये है। तदनन्तर वहां उक्त धर्म्यध्यान को मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का बतलाते हुए यह कहा गया है कि मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्तो मे और औपचारिक इतरो मे—सम्यग्दृष्टि, देशसयत और प्रमत्तसयतो मे—होता है[6]।

---

१. त वा. ९, ३६, १४-१६.

२ असजदसम्मादिट्ठि सजदासजद पमत्तसजद-अप्पमत्तसजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसजद - सुहुमसापराइय - खवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। धव पु १३, पृ. ७४.

३. अप्रमत्तगुणस्थानभूमिक ह्यप्रमादजम्। पीत-पद्मलसल्लेश्याबलाधानमिहाखिलम्॥ ह. पु. ५६-५१.

४. आ. पु. २१, १५५-५६.

५. 'तत्त्वार्थ' से क्या अभिप्रेत रहा है, यह वहा स्पष्ट नही है। स्व श्री प. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उसके भाष्य मे 'तत्त्वार्थ' शब्द से 'तत्त्वार्थवार्तिक' को ग्रहण किया है। पृ. ४९.

६. अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयत। धर्म्यध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृता॥ ४६.
मुख्योपचारभेदेन धर्म्यध्यानमिह द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम्॥ ४७.

आगे वहां यह भी कहा गया है कि जो मन से स्थिर है वह विकल श्रुत से भी उसका ध्याता होता है तथा प्रबुद्धधी—प्रकृष्ट ज्ञानी—दोनों श्रेणियो के नीचे उसका ध्याता माना गया है। यह आदिपुराण (२१-१०२) का अनुसरण है[1]। 'दोनों श्रेणियो के नीचे' इससे क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। दोनो श्रेणियों से पूर्ववर्तियों के उक्त धर्म्यध्यान के अस्तित्व की सूचना वहा आगे फिर से भी की गई है[2]।

अमितगतिश्रावकाचार मे उक्त धर्म्यध्यान का सद्भाव सर्वार्थसिद्धि के समान असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानो मे ही निर्दिष्ट किया गया है[3]।

ज्ञानार्णव मे उसके स्वामियों के प्रसग मे यह कहा गया है कि उसके स्वामी मुख्य और उपचार के भेद से यथायोग्य अप्रमत्त और प्रमत्त ये दो मुनि माने गये हैं[4]। आगे वहां आदिपुराण और तत्त्वानुशासन के समान यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि सूत्र (आगम) मे उसका स्वामी विकल श्रुत से भी युक्त कहा गया है, अध श्रेणि में प्रवृत्त हुआ जीव धर्म्यध्यान का स्वामी सुना गया है[5]।

आगे यहां यह भी निर्देश किया गया है कि कुछ आचार्य यथायोग्य हेतु से सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक उक्त धर्म्यध्यान के चार स्वामियो को स्वीकार करते है[6]।

ध्यानस्तव मे लगभग आदिपुराण और तत्त्वानुशासन के समान धर्म्यध्यान के स्वामियो का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उपशमक और क्षपक श्रेणियो से पहिले अप्रमत्त गुणस्थान मे मुख्य धर्म्यध्यान होता है तथा असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और प्रमत्तसयत इन तीन में वह गौण होता है। आगे यहा यह भी कहा गया है कि अतिशय विशुद्धि को प्राप्त वह धर्म्यध्यान ही शुक्लध्यान होता हुआ दोनो श्रेणियो में होता है (१५-१६)। तत्त्वानुशासन मे जहा 'इतरेषु' पद के द्वारा असयतसम्यग्दृष्टि आदि तीन का संकेत किया गया है वहां प्रकृत ध्यानस्तव मे कुछ स्पष्टता के साथ 'प्रमत्तादित्रये' पद के द्वारा उन तीन—प्रमत्तसयत, संयतासयत और असयतसम्यग्दृष्टि—की सूचना की गई है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान के स्वामियो के विषय मे पर्याप्त मतभेद रहा है। अधिकाश ग्रन्थकारो ने उसे स्पष्ट न करके उसके प्रसंग मे प्राय उन्ही शब्दो का उपयोग किया है, जो पूर्व परम्परा मे प्रचलित रहे हैं।

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यान के स्वामियो के प्रसग मे तत्त्वार्थसूत्र मे यह निर्देश किया गया है कि प्रथम दो शुक्ल-

---

१. उक्त दोनो ग्रन्थो का वह श्लोक इस प्रकार है—
श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तम.।
प्रबुद्धधीरध श्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुत ॥ आ पु. २१-१०२.
श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरध श्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत ॥ तत्त्वानु ५०.

२. अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमा।
धर्म्यध्यान पुन. प्राहु श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥ तत्त्वानु ८३.

३ अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदत'। चतुर्थ पचम षष्ठ. सप्तमश्च प्रवर्तक ॥ १५-१७.

४. मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ।
अप्रमत्त-प्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥ ज्ञाना. २५, पृ. २८१.

५. श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः।
अध.श्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्म्यध्यानस्य सुश्रुत ॥ ज्ञाना. २७, पृ. २८१.

६. किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वार' स्वामिनः स्मृता.।
सद्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८, पृ. २८२.

ध्यान श्रुतकेवली के और अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं[1]। सूत्र में उपयुक्त 'च' शब्द के आश्रय से सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक मे यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि श्रुतकेवली के पूर्व के दो शुक्लध्यानो के साथ धर्म्यध्यान भी होता है। विशेष इतना है कि श्रेणि चढ़ने के पहिले धर्म्यध्यान और दोनों श्रेणियों मे वे दो शुक्लध्यान होते हैं[2]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के धर्म्यध्यान के साथ आदि के दो शुक्लध्यान भी होते हैं[3]। यहां भाष्य में यह विशेष सूचना की गई है कि आदि के वे दो शुक्लध्यान पूर्ववेदी के—श्रुतकेवली के—होते हैं[4]। सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार जहा 'पूर्ववित्' शब्द को मूल सूत्र मे ही ग्रहण किया गया है वहा भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उसे मूल सूत्र मे नही ग्रहण किया गया है, पर उसकी सूचना भाष्यकार ने कर दी है। अन्तिम दो शुक्लध्यान यहां भी केवली के अभीष्ट है[5]।

ध्यानशतक मे भी यही अभिप्राय प्रगट किया गया है कि पूर्व दो शुक्लध्यानो के ध्याता उपशान्तमोह और क्षीणमोह तथा अन्तिम दो शुक्लध्यानो के ध्याता सयोग केवली और अयोग केवली होते हैं (६४)।

धवला के अनुसार पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दस अथवा नौ पूर्वों का धारक तीन प्रकार के प्रशस्त संहननवाला उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है[6] तथा द्वितीय एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दस अथवा नौ पूर्वो का धारक वज्रर्षभ-वज्रनाराचसहन व अन्यतर सस्थान वाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषाय होता है[7]। विशेष रूप से यहा उपशान्तकषाय गुणस्थान मे एकत्ववितर्क-अवीचार और क्षीणकषायकाल मे पृथक्त्ववितर्क-वीचार शुक्लध्यान की भी सम्भावना प्रगट की गई है[8]। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्म काययोग मे वर्तमान केवली के[9] और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान योगनिरोध हो जाने पर शैलेश्य अवस्था मे[10]—अयोग केवली के—कहा गया है।

हरिवंशपुराण मे शुक्ल और परमशुक्ल के भेद से शुक्लध्यान दो प्रकार का कहा गया है। इसमे प्रत्येक दो-दो प्रकार का है— पृथक्त्ववितर्क सवीचार व एकत्ववितर्क अवीचार तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती व समुच्छिन्नक्रियानिवर्तक। इनमे प्रथम शुक्लध्यान दोनो श्रेणियो के गुणस्थानो—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय व उप-शान्तमोह तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,

---

१. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परे केवलिनः। त. सू ९, ३७-३८.

२ च-शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात् प्राग्धर्म्यम्, श्रेण्यो. शुक्ले इति व्याख्यायते। स. सि ९-३७; त. वा. ९, ३७, २३.

३. शुक्ले चाद्ये। त. सू. ९-३९.

४. आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवत'। त. भाष्य ९-३९.

५. परे केवलिन.। त. सू. ९-४०.

६. धव. पु. १३, पृ. ७८.

७ धव. पु. १३, पृ. ७९.

८. उवसंतकसायम्मि एयत्तविदक्कावीचारे सते 'उवसतो दु पुधत्त' इच्चेदेण विरोहो होदि त्ति णासकणिज्जं, तत्थ पुधत्तमेवे त्ति णियमाभावादो। ण च खीणकसायद्धाए सव्वत्थ एयत्तविदक्कावीचारज्झाणमेव, जोगपरावत्तीए एगसमयपरूवणण्णहाणुववत्तिबलेण तदद्धादीए पुधत्तविदक्कवीचारस्स वि संभवसिद्धीदो। धव. पु. १३, पृ. ८१.

९. धव. पु. १३, पृ. ८३-८६.

१०. धव. पु. १३, पृ. ८७.

सूक्ष्मसाम्पराय व क्षीणमोह इन गुणस्थानों—में होता है[1]। द्वितीय शुक्लध्यान के स्वामी का कुछ स्पष्ट उल्लेख किया गया नहीं दिखा। सम्भवत: उसे सामान्य से पूर्ववेदी—क्षीणमोह के—अथवा योगनिरोध के पूर्व केवली के कहा गया है[2]। केवली जब तीनो बादर योगो को छोडकर सूक्ष्मकाययोग का आलम्बन करते हैं तब वे शुक्लसामान्य से तृतीय और विशेषरूप से—परमशुक्ल की अपेक्षा—प्रथम सूक्ष्मक्रिया-पतिपाती शुक्लध्यान पर आरूढ़ होने के योग्य होते हैं[3]। यह शुक्लध्यान समुद्घात क्रिया के पूर्ण होने तक होता है। तत्पश्चात् द्वितीय परमशुक्ल—समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती शुक्लध्यान—आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन, योग और प्राणादि कर्मों के विनष्ट हो जाने पर अयोग केवली के होता है[4]।

आदिपुराण में भी हरिवंशपुराण के समान शुक्लध्यान के शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमे छद्मस्थो के—उपशान्तमोह और क्षीणमोह के—शुक्ल और केवलियो के परमशुक्ल होता है[5]।

तत्त्वानुशासन मे शुक्लध्यान का स्वरूप मात्र निर्दिष्ट किया गया है, उसके भेदो व स्वामियो आदि की कुछ चर्चा नही की गई है (२२१-२२)।

ज्ञानार्णव मे आदिपुराण के समान प्रथम दो शुक्लध्यान छद्मस्थ योगियो के और अन्तिम दो दोषो से निर्मुक्त केवलज्ञानियो के निर्दिष्ट किये गये हैं[6]।

ध्यानस्तव मे अतिशय विशुद्धि को प्राप्त धर्म्यध्यान को ही शुक्लध्यान कहा गया है जो दोनो श्रेणियो मे—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय तथा क्षपकश्रेणि के भी इन्ही तीन गुणस्थानो मे होता है (१६)। आगे शुक्लध्यान के चार भेदो का निर्देश करते हुए उनमे पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानो का अस्तित्व क्रम से तीन योगो वाले और एक योगवाले पूर्ववेदी (श्रुतकेवली) के प्रगट किया गया है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान सूक्ष्म शरीर की क्रिया से युक्त सयोग केवली के और चौथा समुच्छिन्नक्रियानिवर्तक शुक्लध्यान समस्त आत्मप्रदेशों की स्थिरता से युक्त अयोग केवली के होता है (१७-२१)।

उपसंहार—

तत्त्वार्थसूत्र आदि अधिकाश ग्रन्थो मे सामान्य से यह निर्देश किया गया है कि चारो प्रकार का आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि कुछ ग्रन्थो मे इतना विशेष कहा गया है कि निदान छठे गुणस्थान मे नही होता।

---

१. शुक्ल तत् प्रथम शुक्लतर-लेश्याबलाश्रयम्।
श्रेणीद्वयगुणस्थान क्षयोशममभावकम्। ह पु ५४-६३.

२. ह. पु. ५६, ६४-६८

३. अन्तर्मुहूर्तशेषायु: स यदा भवतीश्वर।
तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुन॰॥
समस्त वाङ्मनोयोग काययोग च बादरम्।
प्रहाप्यालम्ब्य सूक्ष्म तु काययोग स्वभावत.॥
तृतीय शुक्ल सामान्यात् प्रथमं तु विशेषत॰।
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति ध्यानमस्कन्तुमर्हति॥ ह पु. ५६, ६९-७१.

४. ह पु. ५६, ७२-७७.

५. शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिक पूर्वं पर केवलिना मतम्॥ आ. पु. २१-१६७.

६. छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्॥ ज्ञाना. ७, पृ. ४३१.

रौद्रध्यान की सम्भावना सर्वत्र पाचवें गुणस्थान तक बतलायी गई है ।

धर्म्यध्यान— तत्त्वार्थसूत्र मे भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार इसका सद्भाव अप्रमत्त, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के बतलाया गया है । ध्यानशतक मे भी लगभग यही अभिप्राय प्रगट किया गया है । टीकाकार हरिभद्र सूरि के स्पष्टीकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे उसका सद्भाव उपशमश्रेणि तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानो मे भी अभीष्ट है ।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और अमितगतिश्रावकाचार मे उसका सद्भाव अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों मे स्वीकार किया गया है ।

धवलाकार उसे असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय तक सात गुणस्थानो मे स्वीकार करते हैं ।

हरिवंशपुराण मे उसके स्वामी के सम्बन्ध मे 'अप्रमत्तभूमिक' इतना मात्र सकेत किया गया है । उससे यही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि सम्भवत हरिवशपुराणकार को उसका अस्तित्व सर्वार्थसिद्धि आदि के समान असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसयत तक चार गुणस्थानों मे अभिप्रेत है ।

आदिपुराण मे उसे आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियो, संयतासंयतो और प्रमत्तसंयतो में स्वीकार कर उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तो मे माना गया है । यही अभिप्राय तत्त्वानुशासनकार का भी रहा है ।

ज्ञानार्णव मे अप्रमत्त और प्रमत्त ये दो मुनि उसके स्वामी माने गये है । मतान्तर से वहा उसका अस्तित्व सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानो मे प्रगट किया गया है ।

ध्यानस्तव मे असयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानो मे उसके अस्तित्व को सूचित करते हुए सम्भवतः यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि प्रकृत धर्म्यध्यान ही अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होकर शुक्लध्यानरूपता को प्राप्त होता हुआ दोनो श्रेणियो मे भी रहता है । इस प्रकार से ध्यानस्तवकार सम्भवत. प्रकृत धर्म्यध्यान को असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तकषाय व क्षीणकषाय तक स्वीकार करते हैं, अथवा शुक्लध्यान को वे दोनो श्रेणियो के अपूर्वकरणादि गुणस्थानो मे स्वीकार करते हैं। प्रसग प्राप्त श्लोक १६ का जो पदविन्यास है उससे ग्रन्थकार का अभिप्राय सहसा विदित नही होता है ।

शुक्लध्यान—सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र मे पूर्व के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के और अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के स्वीकार किये गये है । सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के स्पष्टीकरण के अनुसार उपशमक और क्षपक इन दोनो श्रेणियो मे—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह इन चार उपशामको के तथा अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह इन चार क्षपको के—क्रम से वे पूर्व के दो शुक्लध्यान होते हैं ।

तत्त्वार्थ भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र मे पूर्व के दो शुक्लध्यान धर्मध्यान के साथ उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के तथा अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के निर्दिष्ट किये गये हैं। यही अभिप्राय ध्यानशतककार का भी रहा दिखता है ।

धवलाकार के अभिप्रायानुसार प्रथम शुक्लध्यान उपशान्तकषाय के, द्वितीय क्षीणकषाय के, तृतीय सूक्ष्म काययोग मे वर्तमान सयोग केवली के और चतुर्थ शैलेश्य अवस्था में अयोग केवली के होता है । आदिपुराणकार और ज्ञानार्णव के कर्ता का भी यही अभिमत रहा है ।

हरिवशपुराणकार के अभिमतानुसार प्रथम शुक्लध्यान दोनो श्रेणियों के गुणस्थानो मे, द्वितीय सम्मवतः बादर योगो के निरोध होने तक सयोग केवली के, तृतीय सूक्ष्म काययोग मे वर्तमान सयोग केवली के और चतुर्थ अयोगी जिनके होता है ।

बृहद्द्रव्यसग्रह टीका के अनुसार प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्ति उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक और उपशान्तकषाय पर्यन्त चार गुणस्थानो मे तथा क्षपक-

श्रेणिके अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक इन तीन गुणस्थानों में होता है। दूसरा शुक्लध्यान क्षीणकषाय गुणस्थान में, तीसरा उपचार से सयोगिकेवली जिनके और चौथा शुक्लध्यान उपचार से अयोगिकेवली जिनके होता है (गा. ४८, पृ. १७६-७७)।

ध्यानस्तवकार के मतानुसार अतिशय विशुद्ध धर्म्यध्यान रूप शुक्लध्यान दोनों श्रेणियों में रहता है। प्रथम शुक्लध्यान तीन योगोवाले पूर्ववेदी के, द्वितीय एक योगवाले पूर्व वेदी के, तृतीय सूक्ष्म काययोग की क्रिया से युक्त सयोग केवली के और चतुर्थ अयोगी जिनके होता है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

मूलाचार आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो में ध्यान के सामान्य से ये चार भेद उपलब्ध होते है—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमे प्रथम दो को ससार के कारण होने से अप्रशस्त और अन्तिम दो को परम्परया अथवा साक्षात् मुक्ति के कारण होने से प्रशस्त कहा गया है[1]। अनेक ग्रन्थो मे उक्त चार ध्यानो को क्रम से तिर्यग्गति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है[2]। ध्यान के पूर्वोक्त आर्त आदि चार भेदो मे से प्रत्येक के भी पृथक्-पृथक् वहा चार भेदों का निर्देश किया गया है।

षट्खण्डागम की आ. वीरसेन विरचित धवला टीका मे यह एक विशेषता देखी जाती है कि वहा ध्यान के धर्म और शुक्ल इन दो भेदो का ही निर्देश किया गया है, आर्त और रौद्र इन दो भेदो को वहा सम्मिलित नही किया गया[3]। सम्भव है वहा तप का प्रकरण होने से आर्त व रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानो की परिगणना न की गई हो। किन्तु तप का प्रकरण होने पर भी मूलाचार (५-१९७), तत्त्वार्थसूत्र (९-२८) और औपपातिकसूत्र (२०, पृ ४३) मे उपर्युक्त आर्त और रौद्र को सम्मिलित कर ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों का ही उल्लेख किया गया है। हा, आ. हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्र मे अवश्य धवला के ही समान ध्यान के दो भेद निर्दिष्ट किये गये है—धर्म और शुक्ल[4]।

स्वय वीरसेनाचार्य के शिष्य आ. जिनसेन ने भी सामान्य से ध्यानके प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भेदो का निर्देश करके उनमे अप्रशस्त को आर्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार तथा प्रशस्त को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार बतलाया है। इस प्रकार वहा ध्यान के उपर्युक्त चार भेदो का ही निर्देश किया गया है[5]।

इधर कुछ अर्वाचीन ध्यानसाहित्य मे ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदो के अतिरिक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये अन्य चार भेद भी उपलब्ध होते हैं। इनका स्रोत कहा है तथा वे उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए है, यह विचारणीय है। इन भेदो का निर्देश मूलाचार, भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र व उसकी टीकाओ मे तथा स्थानाग, समवायाग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक, हरिवशपुराण और आदिपुराण आदि ग्रन्थो मे नहीं किया गया है।

इन भेदो का उल्लेख हमे आ. देवसेन (वि १०वी शती) विरचित भावसग्रह मे उपलब्ध होता है[6]। जैसा कि आगे आप देखेंगे, इनके नामो का उल्लेख योगीन्दु (सम्भवत ई. ६ठी शताब्दि) विरचित

---

१. मूला. ५-१९७; त. सू. ९-२८, ध्या. श. ५; आ पु २१. २७-२९; ह. पु. ५६-२; तत्त्वानु. ३४ व २२०.

२. ध्या. श टी ५ में उद्धृत—अट्टेण तिरिक्खगई इत्यादि; ह. पु. ५६-१८, २८, ५२ और ६४; ज्ञा. सा. १३; अमित. श्रा १५, ११-१५.

३. झाणं दुविहं—धम्मज्झाणं सुक्कज्झाणमिदि। धव. पु. १३, पृ. ७०.

४. यो. शा. ४-११५. ५. आ. पु. २१, २७-२९.

६. भावस.—पिण्डस्थ ६१९-२२, पदस्थ ६२६-२७, रूपस्थ ६२३-२५, रूपातीत ६२८-३०. (स्व. श्री प. मिलापचन्द जी कटारिया ने इस भावसग्रह को दर्शनसार के कर्ता देवसेन से भिन्न १४वीं शताब्दि के लगभग होनेवाले किन्ही अन्य देवसेन का सिद्ध किया है—(जैन निबन्धरत्नावली पृ. ३६-६४)।

योगसार (गा. ६८) मे भी किया गया है। इससे पूर्व के अन्य किसी ग्रन्थ में वह हमे देखने में नही आया।

पद्मसिंह मुनि विरचित ज्ञानसार (वि. १०८६) मे अरहन्त की प्रधानता से पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ इन तीन की प्ररूपणा धर्मध्यान के प्रसग मे की गई है[1]। वहां रूपातीत का निर्देश नहीं किया गया है।

इनका कुछ संकेत तत्त्वानुशासन मे भी प्राप्त होता है। वहा ध्येय के नामादि चार भेदों के प्रसंग मे द्रव्य ध्येय के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि ध्यान मे चूकि ध्याता के शरीर मे स्थित ही ध्येय अर्थ का चिन्तन किया जाता है, इसीलिए कितने ही आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं[2]। इसके पूर्व वहा नाम ध्येय के प्रसग मे जो अनेक मत्रो के जपने का विधान किया गया है[3] उससे पदस्थध्यान का सकेत मिलता है। इसी प्रकार स्थापना ध्येय मे जिनेन्द्रप्रतिमाओ का तथा द्रव्य-भाव ध्येय के प्रसग मे ज्ञानस्वरूप आत्मा और पांच परमेष्ठियो के ध्यान का भी जो विधान किया गया है उसमे रूपस्थ और रूपातीत ध्यान भी सूचित होते हैं[4]। यहा आर्त और रौद्र को दुर्ध्यान कहकर त्याज्य तथा धर्म्य और शुक्ल को समीचीन ध्यान बतलाकर उपादेय कहा गया है (३४)। यहा धर्म्यध्यान के आज्ञा व अपायविचय आदि तथा शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क सविचार आदि भेदो का कुछ भी निर्देश नही किया गया है।

मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (वि. ११वीं शती) विरचित द्रव्यसग्रह (मूल) मे ध्यान के आर्त आदि किन्ही भेदो का निर्देश नही किया गया है, पर वहा परमेष्ठिवाचक अनेक पदो के जपने (४६) और पाचो परमेष्ठियो के स्वरूप के विचार करने (५० ५४) की जो प्रेरणा की गई है उससे पूर्वोक्त पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो का कुछ सकेत मिलता है। टीकाकार ब्रह्मदेव ने (वि. ११-१२वी शती) गा ४८ की टीका मे 'पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥" इस श्लोक को उद्धृत करते हुए आर्त आदि के साथ इस प्रकार के विचित्र ध्यान की सूचना की है।

आ. अमितगति द्वि (वि. ११वी शती) विरचित श्रावकाचार के १५वें परिच्छेद मे ध्यान का वर्णन किया गया है। वहा प्रथमत ध्यान के आर्त आदि चार भेदो का विवेचन करते हुए ध्यान के इच्छुक जीव के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान की विधि और ध्यानफल इन चार के जान लेने की प्रेरणा की गई है (१५-२३)। तत्पश्चात् उसी क्रम से उनका निरूपण करते हुए वहा ध्येय के प्रसग मे पदस्थ (१५, ३०-४६), पिण्डस्थ (१५, ५०-५३), रूपस्थ (१५-५४) और अरूप (रूपातीत) (१५, ५५-५६) इन चार का भी वर्णन किया गया है। यहा पदस्थध्यान का निर्देश पिण्डस्थ के पूर्व मे किया गया है।

आ शुभचन्द्र (वि. ११वी शती) विरचित ज्ञानार्णव मे उक्त आर्त आदि चार भेदो के उल्लेख के साथ पिण्डस्थ (१-३३, पृ. ३८१-८६), पदस्थ (१-११६, पृ ३८७-४०८), रूपस्थ (१-४६, पृ. ४०६ से ४१६) और रूपातीत (१-३१, पृ ४१७-२१) इन चार का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

आ वसुनन्दी (वि. १२वीं शती) विरचित श्रावकाचार में इनका निरूपण पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के क्रम से किया गया है (गा ४५६-६३, ४६४-७३, ४७४-७५, ४७६)।

योगिचन्द्र या योगीन्दु प्रणीत योगसार मे इन चारो ध्यानो के नाम मात्र का निर्देश किया गया

---

१. ज्ञा. सा १८ (पिण्डस्थ १६-२०, पदस्थ २१-२७; रूपस्थ का उल्लेख स्पष्ट नहीं है, सम्भवतः उसका स्वरूप गा. २८ मे निर्दिष्ट है)।

२ ध्यातु पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यत।
ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन॥ तत्त्वानु. १३४.

३. तत्त्वानु. १०१-८.

४. तत्त्वानु. १०६ व ११८-३०.

है[1]। श्री डॉ. उपाध्ये ने योगीन्दु के समय पर विचार करते हुए उनके ईसा की छठी शताब्दि में होने की कल्पना की है[2]। तदनुसार यदि वे छठी शताब्दि के आस-पास हुए हैं तो यह कहा जा सकता है कि उक्त पिण्डस्थ आदि ध्यानों का निर्देश सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा किया गया है।

हेमचन्द्र सूरि (वि १२ १३वीं शती) विरचित योगशास्त्र (४-११५) मे ध्यान के अन्तर्गत आर्त और रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया। वहा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदों की प्ररूपणा क्रम से सातवें, आठवें, नौवें और दसवें (१-४ श्लोक) इन चार प्रकाशों में की गई है। तदनन्तर इसी दसवें प्रकाश मे आज्ञाविचयादि चार भेदो मे विभक्त धर्मध्यान का निरूपण करके आगे ११वें प्रकाश मे शुक्लध्यान का विवेचन किया गया है।

भास्करनन्दी (वि १२वी शती) विरचित ध्यानस्तव मे ध्यानशतक (५) के समान प्रथमतः आर्त आदि चार भेदो का निर्देश करते हुए उनमे आदि के दो को ससार का कारण और अन्तिम दो को मुक्ति का कारण कहा गया है (८)। आगे उनमे से प्रत्येक के चार चार भेदो का निरूपण करते हुए (९-२१) पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से उक्त समस्त ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है। तदनन्तर इन चारों के पृथक्-पृथक् स्वरूप को भी प्रकट किया गया है (२४-३६)।

ज्ञानार्णव मे इन पिण्डस्थादि चार भेदो की प्ररूपणा सस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसग मे की गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णव के कर्ता को ये भेद सस्थानविचय धर्मध्यान के अन्तर्गत अभीष्ट रहे है। पर उन्होने इसका कुछ स्पष्ट निर्देश न करते हुए इतना मात्र कहा है कि पिण्डस्थादि के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है[3]।

पर ध्यानस्तवकार के द्वारा जो ये पिण्डस्थादि चार भेद सामान्य से समस्त ध्यान के निर्दिष्ट किये गये हैं, यह कुछ असगत-सा प्रतीत होता है। कारण इसका यह है कि समस्त ध्यान के अन्तर्गत वे आर्त और रौद्र ध्यान भी आते हैं जो ससार के कारण है, जब कि उक्त पिण्डस्थादि ध्यान स्वर्ग-मोक्ष के कारण है। सम्भव है ध्यानस्तव के इस प्रसग से सम्बद्ध श्लोक २४ मे 'सर्व' के स्थान मे 'धर्म्यं' पाठ रहा हो।

ध्यानशतक में चतुर्थ (सस्थानविचय) धर्म्यध्यान का विषय बहुत व्यापक रूप मे उपलब्ध होता है। वहा इस ध्यान मे द्रव्यो के लक्षण, सस्थान (आकृति), आसन (आधार), भेद और प्रमाण के साथ उनकी उत्पाद, स्थिति व व्ययरूप पर्यायो को भी चिन्तनीय कहा गया है (५२)। साथ ही वहा पचास्तिकाय-स्वरूप लोक के विभागो और उपयोगस्वरूप जीव के ससार व उससे मुक्त होने के उपाय के भी विचार करने की प्रेरणा की गई है (५३-६०)। इस प्रकार उक्त सस्थानविचय की व्यापकता को देखते हुए यदि ज्ञानार्णवकार को पूर्वोक्त पिण्डस्थ आदि भेद उसके अन्तर्गत अभीष्ट रहे हे तो यह सगत ही माना जायगा।

हा, यह अवश्य है कि लोकरूढि के अनुसार ध्यान शब्द से जहा समीचीन ध्यान की ही विवक्षा रही है वहा यदि पिण्डस्थ आदि को सामान्य ध्यान के अन्तर्गत माना जाता है तो उसे असगत भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु ध्यानस्तव के कर्ता की वैसी विवक्षा नहीं रही है, क्योंकि उन्होने सामान्य से ध्यान के जिन चार भेदों का निर्देश किया है, आर्त व रौद्र भी उनके अन्तर्गत है (८)।

---

१. जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिणउत्तु।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिमि परु होहि पवित्तु॥ यो सा ९८.

२. परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना इगलिश पृ ६७ व हिन्दी प्रस्तावना पृ ११५.

३. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्य-राजीव-भास्करैः। १, पृ ३८१.

पिण्डस्थ आदि के स्वरूप का विचार

विविध ग्रन्थों मे प्ररूपित उक्त पिण्डस्थ आदि के स्वरूप में जो कुछ विशेषता देखी जाती है उसका यहां कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

पिण्डस्थ—

भावसग्रह (६२२) मे जहां अपने शरीर मे स्थित निर्मल गुणवाले आत्मप्रदेशों के समूह के चिन्तन को पिण्डस्थध्यान कहा गया है वहा ज्ञानसार (१९-२०) में अपने नाभि-कमल के मध्य मे स्थित अरहन्त के स्वरूप के चिन्तन को पिण्डस्थध्यान कहते हुए भालतल, हृदय और कण्ठदेश मे उसके ध्यान करने की प्रेरणा की गई है।

अमितगति-श्रावकाचार मे पिण्डस्थध्यान का स्थान पदस्थ के बाद दूसरा है। यहा कर्मकालुष्य से रहित होकर अनन्त ज्ञान-दर्शनादि से विभूषित, नौ केवललब्धियो से सम्पन्न एवं पाच कल्याणकों को प्राप्त जिनेन्द्र के ध्यान को पिण्डस्थध्यान कहा गया है (१५, ५०-५३)।

ज्ञानार्णव मे उसे अधिक विकसित करते हुए उसमे पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्स्वरूपवती इन पाच धारणाओ का निर्देश करके उनका उपर्युक्त क्रम के अनुसार व्यवस्थित रूप मे विचार किया गया है[1]। इन धारणाओ के स्वरूप को सक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—प्रथम पार्थिवी धारणा मे योगी मध्यलोक के बराबर गम्भीर क्षीरसमुद्र, उसके मध्य मे हजार पत्तोवाले जम्बूद्वीप प्रमाण कमल, उसमे मेरु पर्वतस्वरूप कर्णिका, उसके ऊपर उन्नत सिंहासन और उसके ऊपर विराजमान राग-द्वेष से विरहित आत्मा का स्मरण करता है।

दूसरी आग्नेयी धारणा मे नाभिमण्डल मे सोलह पत्तोवाले कमल, उसके प्रत्येक पत्र पर अकारादि के क्रम से स्थित सोलह स्वरो और उसकी कर्णिका पर महामत्र (र्हं) की कल्पना की जाती है। फिर उस महामत्र की रेफ से निकलती हुई अग्निकणो से संयुक्त ज्वालावाली धूमशिखा की कल्पना करता हुआ योगी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले उस ज्वालासमूह से हृदयस्थ अधोमुख आठ पत्तोवाले कमल के साथ उस कमल को भस्म होता हुआ स्मरण करता है। तत्पश्चात् शरीर के बाहिर त्रिकोण अग्निमण्डल की कल्पना करके ज्वालासमूह से सुवर्ण जैसी कान्तिवाले वह्निपुर के साथ शरीर और उस कमल को भस्मसात् होता हुआ स्मरण करता है, फिर वह दाह्य के शेष न रहने से धीरे-धीरे उसी अग्नि को स्वय शान्त होता हुआ देखता है।

तीसरी श्वसना धारणा मे योगी महासमुद्र को क्षुब्ध करके देवालय को शब्दायमान करनेवाली उस प्रबल पवन का स्मरण करता है जो पृथ्वीतल मे प्रविष्ट होती हुई भस्मसात् हुए उस शरीर आदि की भस्म को उड़ाकर स्वय शान्त हो जाती है।

चौथी वारुणी धारणा मे योगी इन्द्रधनुष और बिजली के साथ गरजते हुए मेघो के समूह से व्याप्त ऐसे आकाश का स्मरण करता है जो निरन्तर बड़ी-बड़ी बूंदो से वर्षा करके जलप्रवाह के द्वारा अर्धचन्द्राकार वरुणपुर को तैराता हुआ पूर्वोक्त शरीर से उत्पन्न उस भस्म को धो डालता है।

अन्तिम तत्स्वरूपवती धारणा मे योगी सप्तधातुमय शरीर से रहित सर्वज्ञ सदृश अपने शरीर के मध्यगत पुरुषाकार उस आत्मा का स्मरण करता है जो समस्त कर्मकलक से रहित होकर दिव्य अतिशयो से युक्त होती हुई सिंहासन पर विराजमान है।

उक्त पाच धारणाओ मे से ये तीन धारणायें क्रम से तत्त्वानुशासन मे भी उपलब्ध होती है—मारुती, तैजसी और आप्या। ये क्रम से श्वसना, आग्नेयी और वारुणी के पर्याय नाम है। तत्त्वानुशासन

---

१. पार्थिवी ४-८, पृ ३८१-८२, आग्नेयी १०-१९, पृ. ३८२-८३, श्वसना २०-२३, पृ. ३८४-८५, तत्स्वरूपवती २९-३१, पृ. ३८५

में धर्म्य और शुक्ल के कुशक्य ध्येय के अभ्यास के प्रसग मे कहा गया है कि पिण्डसिद्धि और शुद्धि के लिए प्रथमतः क्रम से मारुती, तैजसी और आप्या धारणाओ का आराधन करना चाहिए (१८३)। आगे इन धारणाओं को क्रम से कुछ स्पष्ट करते हुए वहा यह कहा गया है कि ध्याता 'अर्हं' के अकार को वायु से पूर्ण व कुम्भित करके रेफ से प्रगट हुई अग्नि के द्वारा अपने शरीर के साथ कर्म को भस्मसात् करके उस भस्म को स्वयं विरेचित करता हुआ आत्मा मे अमृत के बहानेवाले 'ह' मन्त्र का आकाश में चिन्तन करे और यह विचार करे कि उससे अन्य अमृतमय शरीर निर्मित हो रहा है। तत्पश्चात् पांच स्थानो मे निक्षिप्त पाच पिण्डाक्षरों से युक्त पचनमस्कार पदो से सकलीकरण क्रिया को करे और तब अपने को अरहन्त और कर्ममल से रहित सिद्ध जैसा ध्यान करे (१८४-८७)।

सम्भव है ज्ञानार्णव के कर्ता ने तत्त्वानुशासन से उक्त तीन धारणाओ को लेकर और उनमें पार्थिवी व तत्त्वरूपवती इन दो धारणाओ को और सम्मिलित करके उन्हे यथाक्रम से व्यवस्थित रूप मे विकसित किया हो।

वसुनन्दि-श्रावकाचार मे प्रकृत पिण्डस्थध्यान के प्रसग मे यह कहा गया है कि धवल किरणो से प्रकाशमान व आठ महाप्रातिहार्यों से वेष्टित जो आत्मा का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान जानना चाहिए। आगे विकल्प रूप मे वहा यह भी कहा गया है कि अथवा नाभि मे मेरु की कल्पना करके उसके अधोभाग मे अधोलोक, दूसरे तिर्यग्भाग मे मध्यलोक, ऊर्ध्वभाग मे कल्पविमान, ग्रीवास्थान मे ग्रैवेयको, ठोडीप्रदेश मे अनुदिशो, मुखप्रदेश मे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ इन अनुत्तरविमानो; ललाटदेश मे सिद्धशिला और उसके ऊपर शिर की शिखा पर सिद्धक्षेत्र, इस प्रकार से जो अपने शरीर का ध्यान किया जाता है उसे भी पिण्डस्थध्यान समझना चाहिए (४५९-६३)।

गुरुगुणषट्त्रिंशिका की स्वोपज्ञ वृत्ति मे कहा गया है कि नाभि-कमलादि रूप स्थानो मे जो इष्ट देवता आदि का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान कहते है (२, पृ. १०)।

पदस्थ—

भावसग्रह मे पदस्थध्यान के स्वरूप को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि देशविरत गुणस्थान मे जो देवपूजा के विधान का कथन किया गया है उसे पदस्थध्यान कहते है। अथवा पाच गुरुओं से सम्बद्ध जो एक पद या अक्षर का जाप किया जाता है वह भी पदस्थध्यान कहलाता है (६२६-२७)।

ज्ञानसार में पदस्थध्यान के प्रसग मे यह कहा गया है कि सातवें वर्ग के दूसरे वर्ण (र्) से युक्त आठवे वर्ग के चतुर्थ वर्ण (ह्) के ऊपर शून्य रखकर र् से सयुक्त करने पर उसे तत्त्व (र्हं) समझो। एक, पाच, सात और पैंतीस धवल वर्णों का जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थध्यान कहा गया है। आगे पुन पैंतीस अक्षरो के महामन्त्र के साथ प्रणव (ॐ) आदि के जपने का निर्देश करते हुए पांच स्थानो मे पाच कमलो पर क्रम से पाच वर्णो को तथा सात स्थानो मे सात अक्षरो को स्थापित कर उनके साथ जो सिर पर सिद्धस्वरूप का ध्यान किया जाता है, इसे पदस्थध्यान कहा गया है, इत्यादि (२१-२७)।

अमितगति-श्रावकाचार मे इस पदस्थध्यान के प्रसग मे पच नमस्कार पदो के ध्यान का विधान करते हुए अनेक प्रकार के मन्त्राक्षरो व मन्त्रपदो के जपने का उपदेश दिया गया है (१५, ३१-४९)।

ज्ञानार्णव (१, पृ. ६८७) और योगशास्त्र (८ १) मे पदस्थध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए समान रूप मे यह कहा गया है कि पवित्र पदो का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है उसे पदस्थध्यान कहते है। आगे इन दोनो ग्रन्थो मे अक्षर और मंत्र पदो का विस्तार से व्याख्यान किया गया है[1]।

वसुनन्दि-श्रावकाचार मे एक अक्षरादिरूप जो परमेष्ठी के वाचक निर्मल पद है उनके उच्चारण-पूर्वक ध्यान करने को पदस्थध्यान कहा गया है (४६४)।

---

१. ज्ञाना. १-११६, पृ. ३८७-४०६; यो. शा. ८, २-८१.

गुरुगुणषट्त्रिंशिका की स्वोपज्ञ वृत्ति (वि. १५वीं शती) मे स्वाध्याय, मंत्र तथा गुरु व देवता की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता होती है उसे पदस्थध्यान कहा गया है (२, पृ. १०)।

वामदेव (वि. १५वीं शती) विरचित भावसंग्रह मे प्राकृत भावसग्रह के समान पांच गुरुओं से सम्बद्ध पदों के ध्यान को पदस्थध्यान माना गया है (६६२)।

इस प्रकार पदस्थध्यान के स्वरूप के विषय मे प्राय. सभी ग्रन्थकार हीनाधिक रूप में सहमत हैं।

रूपस्थ—

ज्ञानसार मे रूपस्थध्यान का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि ध्याता घातिया कर्मों से रहित होकर अतिशयों व प्रातिहार्यों से संयुक्त हुए समवसरणस्थ अरहन्त का जो ध्यान करता है वह रूपस्थध्यान कहलाता है (२८)।

ज्ञानार्णव मे उसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि सात धातुओं से रहित व समस्त अतिशयो से सहित होकर समवसरण मे विराजमान आद्य (ऋषभ) जिनेन्द्र का जो ध्यान किया जाता है उसका नाम रूपस्थध्यान है (१-८, पृ ४०६)। आगे वहा पुन: यह कहा गया है कि इस ध्यान मे ध्याता को महेश्वर (२७), आदिदेव, अच्युत (२८), सन्मति, सुगत, महावीर (२९) और वर्धमान (३०) आदि अनेक सार्थक पवित्र नामो से उपलक्षित सर्वज्ञ वीर देव का स्मरण करना चाहिए (पृ. ४११-१२)।

भावसग्रह मे उस रूपस्थध्यान के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—स्वगत रूपस्थध्यान और परगत रूपस्थध्यान। जिसमे पाच परमेष्ठियो का चिन्तन किया जाता है वह परगत रूपस्थध्यान कहलाता है तथा जिसमे अपने शरीर के बाहिर स्थित तेजपुंज स्वरूप अपनी आत्मा का चिन्तन किया जाता है वह स्वगत रूपस्थध्यान कहलाता है (६२४-२५)।

द्रव्यसग्रह की टीका मे चिद्रूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान का लक्षण कहा गया है[1]।

अमितगति-श्रावकाचार मे प्रतिमा मे आरोपित परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान कहा गया है (१५-५४)।

योगशास्त्र मे रूपस्थध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि छत्रत्रय आदि रूप प्रातिहार्यों से सम्पन्न व समस्त अतिशयों से युक्त होकर समवसरण में स्थित अरहन्त केवली के रूप का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान कहते है (९, १-७)। अथवा राग, द्वेष एव मोहादि विकारो से रहित जिनेन्द्रप्रतिमा के रूप का भी जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिए (९, ८-१०)।

वसुनन्दि-श्रावकाचार मे रूपस्थध्यान के प्रसग मे यह कहा गया है कि आठ प्रातिहार्यों से सहित व अनन्त ज्ञानादि से विभूषित होकर समवसरण मे स्थित अरहन्त प्रभु का जो ध्यान किया जाता है उसका नाम रूपस्थध्यान है। अथवा उपर्युक्त गुणो से मण्डित होकर परिवार (समवसरण) से रहित हुए जिनका समस्त शरीर क्षीरसमुद्र की जलधारा से धवल वर्ण को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ जिनका जो विचार किया जाता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिये (४७२-७५)।

ध्यानस्तव मे रूपस्थध्यान के प्रसग मे यह कहा गया है कि ध्याता एकाग्रचित्त होकर जो जिनदेव के नामपदरूप मत्र का जाप करता है वह रूपस्थध्यान कहलाता है। अथवा ध्याता प्रातिहार्यों आदि से विभूषित निर्मल अरहन्त प्रभु का जो भिन्नरूप मे ध्यान करता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिए (३०-३१)।

रूपातीत—

भावसग्रह मे रूपातीतध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि जिस ध्यान मे ध्याता न शरीर मे

---

१. रूपस्थं सर्वचिद्रूपं × × ×॥ बृ. द्रव्यस. टीका ४८ मे उद्धृत।

स्थित किसी का चिन्तन करता है, न शरीर के बाहिर स्थित किसी का चिन्तन करता है, न स्वगत रूप का चिन्तन करता है, और न परगत रूप का चिन्तन करता है, ऐसे आलम्बन से रहित ध्यान को गतरूप (रूपातीत) ध्यान माना गया है। आगे वहां यह भी सूचित किया गया है कि धारणा-ध्येय से रहित इस ध्यान मे चित्त का कोई व्यापार नही होता। उसमे इन्द्रियविषयो के विकार और राग-द्वेष भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं (६२८-३०)। यह विशेष स्मरणीय है कि यहां प्रकृत पिण्डस्थ आदि चार ध्यानों का निरूपण अप्रमत्त गुणस्थान के प्रसंग मे ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल इन चार अधिकारो के निर्देश-पूर्वक ध्यान के प्रकरण में किया गया है (६१४-४१)।

अमितगति-श्रावकाचार मे रूपातीत ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि स्फटिक मणि मे प्रतिबिम्बित जिनरूप के समान जो नीरूप—मूर्तिक शरीर से रहित—सिद्धस्वरूप आत्मा का ध्यान किया जाता है उसका नाम अरूप (रूपातीत) ध्यान है (१५, ५५-५६)।

द्रव्यसग्रह की टीका मे रूपातीत ध्यान का लक्षण निरजन कहा गया है[1]। उसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि कर्म-कालिमा से रहित जो सिद्धस्वरूप आत्मा का ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

ज्ञानार्णव (१६, पृ. ४१६) और योगशास्त्र (१०-१) मे चिदानन्दस्वरूप अमूर्तिक व शाश्वतिक उत्कृष्ट आत्मा के स्मरण को रूपातीत ध्यान कहा गया है।

वसुनन्दि-श्रावकाचार मे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित ऐसे ज्ञान-दर्शनस्वरूप परमात्मा के ध्यान को रूपरहित (रूपातीत) ध्यान कहा गया है (४७६)।

ध्यानस्तव मे प्रकृत रूपातीतध्यान के लक्षण मे यह कहा गया है कि जो योगी आत्मा मे स्थित, शरीर से भिन्न होकर उस शरीर के प्रमाण, ज्ञान-दर्शनस्वरूप, कथचित् कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, नित्य, एक, शुद्ध व क्रिया से सहित और रोष-तोष से रहित, उदासीन स्वभाव वाले, स्वसवेद्य सिद्ध परमात्मा का ध्यान करता है उसके रूपातीत ध्यान होता है (३२-३६)।

उपसंहार—

ज्ञानसार मे धर्मध्यान के प्रसंग मे पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ के भेद से तीन प्रकार के अरहन्त के ध्यान की प्रेरणा करते हुए अपने नाभि-कमल आदि मे स्थित उक्त अरहन्त के ध्यान को पिण्डस्थ-ध्यान कहा गया है (१९ २०)।

भावसंग्रह (६२०-२२), तत्त्वानुशासन[2] (१३४), अमितगति-श्रावकाचार (१५, ५०-५३), द्रव्य-संग्रह टीका (४८), वसुनन्दि-श्रावकाचार (४५९), ध्यानस्तव (२५-२८) और भावसंग्रह (वाम.–६६१) के अनुसार निज देहस्थ अरहन्त के ध्यान का नाम पिण्डस्थध्यान है। विशेषता यह रही है कि तत्त्वानु-शासन मे जहा ध्याता के पिण्ड (शरीर) मे स्थित ध्येय के रूप मे अरहन्त की सूचना की गई है वहा द्रव्यसग्रह की टीका में उद्धृत श्लोक के अनुसार देह का निर्देश न करके केवल स्वात्मचिन्तन को ही पिण्डस्थध्यान कहा गया है। वसुनन्दि-श्रावकाचार (४६०-६३) मे विकल्परूप से नाभि मे मेरु की कल्पना करके उसके अघस्तन व उपरिम अगो मे यथायोग्य अधोलोक व तिर्यग्लोक आदि लोक के विभागों की कल्पना करते हुए निज देह के ध्यान को भी पिण्डस्थ बतलाया गया है।

ज्ञानार्णव और योगशास्त्र मे इस पिण्डस्थध्यान के प्रसग मे पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू) इन पाच धारणाओ का निरूपण किया गया है। पूर्वोक्त ज्ञानसार आदि ग्रन्थों मे जो अरहन्त के ध्यान को पिण्डस्थध्यान कहा गया है वह प्रकृत ज्ञानार्णव (२८-३०, पृ. ३८५)

---

१. ××× रूपातीत निरञ्जनम् ॥ द्रव्यस टी. ४८. मे उद्धृत।

२. यहा पिण्डस्थ आदि ध्यानभेदों का निर्देश न करके मतान्तर के अनुसार पिण्डस्थध्येय की सूचना की गई है।

और योगशास्त्रगत (७, २३-२५) उक्त पांच धारणाओं मे अन्तिम तत्त्वरूपवती धारणा के अन्तर्गत है।

पदस्थध्यान के विषय मे पूर्वोक्त सभी ग्रन्थों मे कही कोई विशेष मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। उन सभी ग्रन्थों मे प्रायः इस ध्यान मे संक्षेप अथवा विस्तार से विविध प्रकार के मत्रो को चिन्तनीय कहा गया है। विशेष इतना है कि अनेक ग्रन्थो में जहा पिण्डस्थ को प्रथम और पदस्थ को दूसरा ध्यान कहा गया है वहां द्रव्यसंग्रह की टीका और अमितगति-श्रावकाचार मे प्रथमत. पदस्थध्यान का और तत्पश्चात् पिण्डस्थध्यान का उल्लेख किया गया है।

रूपस्थध्यान के विषय मे उपर्युक्त ग्रन्थो के कर्ता एकमत नहीं हैं—ज्ञानसार[1] (२८), ज्ञानार्णव[2] (१-४६, पृ.४०९-१६) योगशास्त्र (९, १-७) और वसुनन्दि-श्रावकाचार (४७२-७५) मे आठ प्रातिहार्यों व समस्त अतिशयो से सहित अरहन्त के स्वरूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान कहा गया है[3]।

भावसग्रह में इस ध्यान को स्वगत और परगत के भेद से दो प्रकार बतलाकर अपने शरीर के बाहिर अपनी आत्मा के चिन्तन को स्वगत और पाच परमेष्ठियों के ध्यान को परगत रूपस्थध्यान कहा गया है (६२३-२५)।

अमितगति-श्रावकाचार (१५-५४) में प्रतिमा मे आरोपित परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तन को और ध्यानस्तव (३०) मे जिनेन्द्र के नामाक्षर व धवल प्रतिबिम्ब के चिन्तन को रूपस्थध्यान का लक्षण बतलाया है[4]। इसी ध्यानस्तव (३१) मे आगे विकल्परूप मे पूर्वोक्त ज्ञानसार आदि के समान प्रातिहार्यों आदि से विभूषित अरहन्त के ध्यान को भी रूपस्थध्यान कहा गया है[5]।

रूपातीतध्यान—ज्ञानसार मे पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ के भेद से तीन प्रकार के अरहन्त के ध्यान का ही निर्देश किया गया है। वहां इस रूपातीत ध्यान का कही कोई निर्देश नही किया गया (१९-२८)। शेष सभी ग्रन्थो मे प्राय रूप-रसादि से रहित अमूर्तिक सिद्ध परमात्मा के चिन्तन को रूपातीतध्यान का लक्षण कहा गया है।

ध्यान, समाधि और योग की समानार्थकता

इन तीनो शब्दो के अर्थ मे सामान्य से कुछ भेद नही हैं, क्योंकि वे तीनो ही शब्द प्रायः एकाग्रचिन्तानिरोधरूप समान अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं[6]। उदाहरणस्वरूप स्वयम्भूस्तोत्र को लिया जा सकता है।

---

१. ज्ञानसारगत इस श्लोक मे यद्यपि रूपस्थध्यान का नामोल्लेख नही किया गया है, फिर भी प्रसंग के अनुसार उसमे प्रकृत रूपस्थध्यान का ही लक्षण कहा गया दिखता है।

२. ज्ञानार्णव मे इस ध्यान के प्रसग मे आद्य जिनभास्कर (आदि जिनेन्द्र—८), वृषभसेन आदि (आदि जिनेन्द्र के गणधर—१३), अरहन्त (२६), महेश्वर (२७), आदिदेव (२८), सन्मति, सुगत, महावीर (२९), वर्धमान और वीर आदि अनेक नामों का निर्देश किया है।

३. इस पद्धति मे पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यानो मे कुछ विशेषता नही रही है।

४. योगशास्त्र मे भी आगे (९, ८-१०) विकल्प रूप मे जिनेन्द्रप्रतिमा के रूप के ध्यान को रूपस्थध्यान कहा है।

५. ध्यानस्तव में यहां रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो के प्ररूपक श्लोको मे जिस प्रकार के पद प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—'देवं स्वदेहं' (३१), 'कर्तारं चानुभोक्तार' (३३) आदि, उनसे ग्रन्थकार के अभिप्राय का ठीक से बोध नहीं होता।

६. (क) युजेः समाधिवचनस्य योगः, समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। त. वा. ६, १, १२.
(ख) योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥ आ. पु. २१-१२.

उसमें इन तीनों ही शब्दो का उपयोग एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप राग-द्वेष से रहित आत्मस्थिति अर्थ में किया गया है। यथा—

१ आदि जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए वहा यह कहा गया है कि हे नाभिराय के नन्दन ! आपने समाधिरूप तेज (अग्नि) से अज्ञानादि दोषो के मूल कारणभूत कर्म को भस्मसात् करके आत्महितैषी भव्य जनो को तत्त्व का उपदेश दिया[1]।

२ चन्द्रप्रभ जिनकी स्तुति मे कहा गया है कि हे प्रभो ! आपने अपने शरीर के प्रभामण्डल से बाह्य अन्धकार को तथा ध्यान रूप दीपक के सामर्थ्य से अभ्यन्तर अन्धकार (अज्ञान) को भी नष्ट कर दिया है[2]।

३ मुनिसुव्रत जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे जिन ! आपने अपने अनुपम योग के सामर्थ्य से आठो कर्मरूप मल को नष्ट करके मुक्तिसुख को प्राप्त किया है[3]।

इस प्रकार इन तीनो शब्दो के अर्थ मे सामान्य से एकरूपता के होते हुए भी लक्षण आदि के भेद से कुछ विशेषता भी दृष्टिगोचर होती है। यथा —

ध्यान—

आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के ससर्ग से रहित कहा है[4]। तत्त्वार्थसूत्र मे अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के निरोध को— अन्य विषयो की ओर से हटाकर उसे किसी एक ही वस्तु मे नियन्त्रित करने को —ध्यान कहा गया है[5]। ध्यानशतक और आदिपुराण मे स्थिर अध्यवसान को—एक वस्तु का आलम्बन लेने वाले मन को—ध्यान कहा गया है[6]। भगवती आराधना की विजयोदया टीका मे राग, द्वेष और मिथ्यात्व के सपर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है उसे ध्यान कहा गया है। वही आगे एकाग्रचिन्तानिरोध को भी ध्यान कहा गया है[7]। तत्त्वार्थसूत्र के समान तत्त्वानुशासन मे भी

(ग) प्रत्याहृत्य यदा चिन्ता नानालम्बनवर्तिनीम् ।
एकालम्बन एवैना निरुणद्धि विशुद्धधी ।।
तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसख्यानं समाधिः स्याद् ध्यान स्वेष्टफलप्रदम् ।। तत्त्वानु. ६०-६१.

(घ) योग. समाधि., स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मं । यो. सू भाष्य १-१.

१. स्वदोषमूल स्वसमाधि-तेजसा निनाय यो निर्दय-भस्मसात् क्रियाम् ।
जगाद तत्त्व जगतोऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वर. ।। स्व. स्तो. १-४.
(इस शब्द का उपयोग आगे श्लोक ४-१ और १६-२ मे भी हुआ है)

२. यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्य बहु मानस च ध्यान-प्रदीपातिशयेन भिन्नम् ।। स्व. स्तो. ८-२.
(इसका उपयोग आगे श्लोक १६-४, १७-३, १८-१० और १६-५ मे भी हुआ है)

३. दुरित-मल-कलङ्कमष्टक निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ।। स्व. स्तो. २०-५.
(इसका व्यवहार आगे श्लोक २२-१, २३-१ और २३-३ मे भी हुआ है)

४. दसण-णाणसमग्ग झाण णो अण्णदव्वसजुत्त । पचा. का. १५२.

५. त. सू. ९-२७.

६. ध्या. श. ३.; आ. पु. २१-९.

७. भ. आ. विजयो. २१ व ७०.

एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है[1]। आ. अमितगति (प्रथम) विरचित योग-सार-प्राभृत मे ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आत्मस्वरूप का प्ररूपक रत्न-त्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त के स्थिर करने वाले साधु के होता है जो उसके कर्मक्षय को करता है[2]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यानुसारिणी सिद्धसेन गणि विरचित टीका मे आगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया है[3]।

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र मे ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि धारणा मे जहा चित्त को धारण किया गया है वही पर जो प्रत्यय की एकतानता (एकाग्रता) है— विसदृश परिणाम को छोडकर जिसे धारणा मे आलम्बनभूत किया गया है उसी के आलम्बनरूप से जो निरन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है— उसे ध्यान कहते है[4]। योगसूत्र के अनुसार यह यम-नियमादिरूप आठ योगांगो मे सातवा है।

महर्षि कपिल मुनि विरचित साख्यसूत्र मे राग के विनाश को (३-३०) तथा निर्विषय मन को (६-२५) ध्यान कहा गया है[5]।

विष्णुपुराण मे ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है अन्य विषयो की ओर से नि स्पृह होकर परमात्मस्वरूप को विषय करने वाले ज्ञान की एकाग्रता सम्बन्धी परम्परा को ध्यान कहा जाता है[6]। यह यम-नियमादि प्रथम छह योगागो से सिद्ध किया जाता है।

समाधि--

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक मे समाधि के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार भाण्डागार मे अग्नि के लग जाने पर बहुत उपकारक होने के कारण उसे (अग्नि को) शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत-शीलो से सम्पन्न मुनि के तप मे कही से बाधा के उपस्थित होने पर उस बाधा को दूर कर जिसे धारण किया जाता है उसका नाम समाधि है[7]। आ. वीरसेन ने समाधि के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे जो सम्यक् अवस्थान होता है उसका नाम समाधि है[8]। तत्त्वानुशासन मे ध्याता और ध्येय की एक-रूपता को समाधि कहा गया है[9]। समाधितन्त्र की आ. प्रभाचन्द्र विरचित टीका मे समाहित—समाधि-युक्त—अन्त करण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसे एकाग्रीभूत मन कहा है[10]। पाहुडदोहा मे समाधि की विशेषता को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार नमक पानी मे विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा मे विलीन होकर समरस हो जावे तो फिर जीव को समाधि में

---

१. तत्त्वानु ५६.

२. योगसारप्रा. ६-७.

३. त. भा. सिद्ध वृ. ९-२०

४. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू ३-२.

५ रागोपहतिर्ध्यानम्। सा. द. ३-३०; ६-२५ भी द्रष्टव्य है।

६. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनि स्पृहा।
तद् ध्यान प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ ६, ७, ८९.

७. यथा भाण्डागारे दहने समुपस्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारकत्वात् तथाऽनेकव्रत-शीलसमृद्धस्य मुनेस्तपस. कुतश्चित् प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सधारण समाधि.। स. सि. ६-२४, त वा ६, २४, ८.

८. दसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाण समाही णाम। धवला पु ८, पृ. ८८.

९. सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम्। एतदेव समाधि स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ १३७॥

१०. समाहितान्तःकरणेन—समाहितम् एकाग्रीभूतं तच्च तदन्तःकरण च मनस्तेन। समाधि. टी. ३.

और क्या करना है ? अभिप्राय यह है कि बाह्य विषयों की ओर से निःस्पृह होकर चित्त का जो आत्म-स्वरूप में लीन होना है यही समाधि का लक्षण है[1]।

योगसूत्र में उस ध्यान को ही समाधि कहा गया हैं जो ध्येय मात्र के निर्भासरूप होकर प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य के समान हो जाता है —ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनो के स्वरूप की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्पक अवस्था को प्राप्त हो जाता है[2]। इस सूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति में 'सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' इस निरुक्ति के अनुसार निष्कर्षरूप मे यह कहा गया है कि जिसमें सब प्रकार की अस्थिरता को छोडकर मन को एकाग्र किया जाता है उसे समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि मे यह भेद है कि ध्यान मे ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों के स्वरूप का निर्भास होता है; पर समाधि मे उनके स्वरूप का निर्भास नही होता। यह उक्त सूत्र में निर्दिष्ट यम-नियमादिरूप आठ योगागो मे अन्तिम है।

विष्णुपुराण मे समाधि के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि उसी परमात्मा के स्वरूप का जो विकल्प से रहित ग्रहण होता है उसका नाम समाधि है। इसकी सिद्धि ध्यान से होती है[3]।

न्यायसूत्र की विश्वनाथ न्यायपचानन विरचित वृत्ति मे चित्त की जो अभीष्ट विषय मे निष्ठता है उसे समाधि कहा गया है[4]। समाधि का यह लक्षण एकाग्रचिन्तानिरोध जैसा ही है।

योग—

नियमसार मे योग के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि अपनी आत्मा को राग-द्वेषादि के परिहारपूर्वक समस्त विकल्पो को छोड़ते हुए विपरीत अभिनिवेश से रहित जिनप्ररूपित तत्त्वों मे योजित करना, यह योग का लक्षण है[5]। युजेः समाधिवचनस्य योगः, इस निरुक्ति के अनुसार तत्त्वार्थवार्तिक मे योग को समाधिपरक कहा गया है[6]। तत्त्वानुशासन मे अनेक पदार्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता को उन सबकी ओर से हटाकर किसी एक ही अभीष्ट अर्थ मे रोकना, इसे योगी का योग कहा गया है[7]।

हरिभद्र सूरि ने उस सभी निर्मल धर्मव्यापार को योग कहा है जो मोक्ष से योजित करता है[8]। उनके द्वारा योगबिन्दु मे योग के ये पाच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षय। इनमे उचित प्रवृत्ति से युक्त व्रती योगी जो मैत्री आदि भावनाओ से गर्भित जीवादि तत्त्वों का शास्त्राधार से चिन्तन करता है, उसका नाम अध्यात्मयोग है[9]। चित्तवृत्ति के निरोधपूर्वक प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने वाला जो उस अध्यात्मयोग का अभ्यास है उसे भावनायोग कहा जाता है[10]। स्थिर दीपक के समान किसी एक प्रशस्त वस्तु को विषय करने वाला जो उत्पादादिविषयक सूक्ष्म उपयोग से युक्त चित्त है उसे ध्यानयोग कहते है[11]। अविद्या के निमित्त से जो इष्ट-अनिष्ट की कल्पना होती है उसको दूर कर शुभ-अशुभ विषयो मे जो समानता का भाव उदित होता है उसे समतायोग कहा जाता है[12]।

---

१. जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियह तिमि जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हवइ जीवडा काइ समाहि करिज्ज॥ पा. दो. १७६.

२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. ३-३.

३. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ ६, ७, ९०.

४. समाधिश्चित्तस्याभिमतनिष्ठत्वम्। न्या. सू. वृत्ति १-३, पृ. १५३.

५. नि. सा. १३७-३९. ६. त वा. ६, १, १२.

७. तत्त्वानु. ६०-६१.

८. योगविं १; योगबिन्दु ३१.

९. योगबि. ३५८. १० यो. बि. ३६०. ११. वही ६२. १२. वही ६४.

मन के द्वारा विकल्परूप तथा काय के द्वारा परिस्पन्दरूप जो अन्य के संयोगस्वरूप चित्तवृत्तियां उदित होती हैं उनका इस प्रकार से निरोध करना कि जिससे उनका पुन: प्रादुर्भाव न हो सके, यह वृत्तिसंक्षय-योग कहलाता है[1]।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है[2]।

भगवद्गीता मे आसक्ति को छोड़कर कार्य करते हुए उनकी सिद्धि व असिद्धि में सम—हर्ष-विषाद से रहित—होना, इसे योग कहा गया है[3]।

भगवद्गीता का अभिधेय

भगवद्गीता यह महाभारत का एक अंश है। कौरवो और पाण्डवों के बीच जब युद्ध प्रारम्भ होने को था तब अर्जुन की इच्छानुसार कृष्ण ने उसके रथ को युद्धभूमि में ले जाकर दोनों सेनाओं के मध्य मे खड़ा कर दिया। वहा सामने विपक्ष के रूप मे स्थित गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और दुर्योधन आदि गुरुजनो व बन्धुजनो को देखकर अर्जुन का हृदय व्यथित हो उठा। वह कृष्ण से बोला—हे कृष्ण! सामने युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन गुरुजनो और बन्धुजनो को देखकर मेरा सब शरीर काप रहा है। युद्ध मे इनका वध करके कल्याण होने वाला नही है। इन गुरुजनो और बन्धुजनो का घात करके मुझे न विजय चाहिए, न राज्य चाहिए और न सुख भी चाहिए। यदि ये मेरा घात करते हैं तो भी मैं इनका घात नही करना चाहता[4]।

इस प्रकार दयार्द्रहृदय व अश्रुपूर्ण नेत्रो से युक्त विषण्णवदन अर्जुन को देखकर कृष्ण ने उसे युद्धोन्मुख करने के लिए जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह गीता का प्रमुख अभिध्येय रहा है। वह गीता १८ अध्यायो मे विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे जो अन्तिम पुष्पिकावाक्य है उसमे उसे योग-शास्त्र कहा गया है। वैसे तो सम्पूर्ण ग्रन्थ मे ही कुछ न कुछ योग की चर्चा की गई है, पर उसके छठे अध्याय मे विशेष रूप से योग और योगी के स्वरूप का विचार किया गया है।

अर्जुन के उपर्युक्त विषादपूर्ण वचनो को सुनकर श्रीकृष्ण बोले कि जिनके लिए शोक न करना चाहिए उनके लिए तू शोक करता है और पण्डिताई के वचन बोलता है। परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए और जो जीवित है उनके लिए भी शोक नही किया करते हैं[5]। इस प्रकार अर्जुन को प्रथमत: ज्ञानयोग का उपदेश देते हुए आगे फिर कहा गया है कि मैं कभी नही था, या तू कभी नही था अथवा ये राजा लोग नही थे; ऐसा नही है, तथा ये सब आगे नहीं रहेंगे सो भी बात नहीं है—आत्मा के नित्य होने से ये सब पूर्व मे थे और भविष्य मे भी रहने वाले है। जिस प्रकार इस शरीर में क्रम से कुमार अवस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त होती है उसी प्रकार अन्य-अन्य शरीर भी प्राप्त

---

१. योगबिन्दु ४६६.

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो. सू. १-२.

३. योगस्थः कुरु कर्माणि सगं त्यक्त्वा धनजय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥ २-४८
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्यस्तसकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ६-२.
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६-२९.
(अध्याय ६ के १७-२३ श्लोक भी द्रष्टव्य है)।

४. भ. गी. १, २८-३५.

५ अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ भ. गी. २-११.

हुआ करता है। इस वस्तुस्थिति को समझकर धीर पुरुष मोह को प्राप्त नही होते हैं। शीत-उष्ण और सुख-दुख के देने वाले जो इन्द्रियविषय आगमन के साथ विनष्ट होने वाले हैं उनको तू सह—स्वभावतः नष्ट होने वाले उनके लिए शोक मत कर। हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुख और सुख को समान समझने वाले जिस पुरुष को वे क्षणभंगुर विषय व्याकुल नहीं किया करते हैं वह अमरत्व के योग्य होता है—जन्म-मरण से रहित होकर मुक्त हो जाता हैं। जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही रहता और जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता, इस सत्-असत् के रहस्य को तत्त्वज्ञ जन ही जानते है। इस प्रकार अविनाशी व नित्य शरीरधारी (जीव) के जो ये शरीर है वे तो विनश्वर ही है, अतएव तू इस वस्तुस्थिति को समझकर युद्ध कर – उससे विमुख न हो। इत्यादि प्रकार से यहा अर्जुन को शरीर की नश्वरता और आत्मा की नित्यता का विस्तार से उपदेश दिया गया है[१]।

यहा स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि हे पार्थ ! मनुष्य जब मनोगत सब इच्छाओ को छोड़कर अपने आप अपने मे ही सन्तुष्ट होता है तव उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। स्थितप्रज्ञ मुनि दुखो मे उद्विग्न न होकर सुख की ओर से नि स्पृह रहता हुआ राग, भय और क्रोध से रहित होता है[२]। आगे वहा और भी यह कहा गया है कि जो पुरुष विषयों का ध्यान करता है उसकी उनमे जो आसक्ति होती है उससे काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश और उस बुद्धिनाश से वह स्वय नष्ट हो जाता है—कल्याणकर मार्ग से भ्रष्ट होकर कष्ट सहता है[३]। (यह भगवद्गीतोक्त सन्दर्भ जैन तत्त्वज्ञान—विशेषकर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान—से कितना मिलता हुआ है, यह ध्यान देने के योग्य है।)

आगे छठे अध्याय मे योग के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो कर्म के फल की अपेक्षा न रख कर कर्तव्य कार्य को करता है वही वस्तुत सन्यासी और योगी है, केवल अग्नि और क्रिया (कर्म) से रहित योगी और सन्यासी नही हैं, क्योकि सन्यास का नाम ही तो योग है। जिसने सकल्पो का सन्यास (त्याग) नही किया है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नही हो सकता[४]। जब पुरुष इन्द्रियविषयो मे और कर्मों मे आसक्त नही होता तब समस्त सकल्पो का परित्याग कर देने वाले उसको योग पर आरूढ कहा जाता है। प्राणी अपने आप ही अपना उद्धार कर सकता है और अपने आप ही अपने को दुर्गति मे भी डाल सकता है। यथार्थ मे वह स्वय ही अपना बन्धु (हितैषी) और स्वय ही अपना शत्रु है। जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लिया है वही अपना बन्धु है तथा जिसने अपने ऊपर विजय प्राप्त नही की है उसे ही अपना शत्रु समझना चाहिए। जिसने इन्द्रियों और मन को जीत लिया है तथा जो शीत-उष्ण, सुख-दुख और मान अपमान मे अतिशय शान्त है—राग-द्वेष से रहित हो चुका है—उसके पास परमात्मा है[५]।

जिसकी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से सन्तुष्ट हो चुकी है, जो पत्थर और सुवर्ण मे समानता की बुद्धि रखता हुआ कूटस्थ है—सदा समान रहने वाला है तथा जितेन्द्रिय है, ऐसे योगी को युक्त—योग से सयुक्त—कहा जाता है। ऐसा योगी सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य व वन्धु जनो के विषय मे तथा सत्पुरुषो और पापियो के भी विषय मे समबुद्धि रहता है—उनमे न किसी से राग करता है और न अन्य से द्वेष भी करता है[६]।

---

१. भ. गी २, १२-१८; आगे भी ३८ तक द्रष्टव्य हैं।

२ वही २, ५४-५५.

३. वही २, ६२-६३,

४. वही ६, १-२.

५. वही ६, ४-७.

६. वही ६, ८-९.

आगे योग में स्थिरता प्राप्त करने के लिए योगी को क्या क्या करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उसे इन्द्रियो व अन्तःकरण को नियन्त्रित करके आशा और परिग्रह का परित्याग करते हुए एकान्त मे अकेले स्थित होकर आत्मचिन्तन करना चाहिए। साथ ही उसे किसी पवित्र प्रदेश मे स्थिर आसन को स्थापित कर व उसके ऊपर बैठकर मन को एकाग्र करते हुए चित्त व इन्द्रियो की प्रवृत्ति को स्वाधीन करना चाहिए। इस प्रकार योग मे स्थित होकर वह स्थिरतापूर्वक शरीर, शिर और ग्रीवा को सम व निश्चल करता हुआ दिशाओं के अवलोकन को छोड़ देता है और अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखता है[1]।

जो योग्य आहार-विहार एव कर्मों के विषय मे उचित प्रवृत्ति करता है तथा यथायोग्य शयन व जागरण भी करता है उसके दु खो का नष्ट करने वाला वह योग होता है। जिस समय स्वाधीन हुआ चित्त आत्मा मे ही अवस्थित होता है तब समस्त कामनाओ की ओर से निःस्पृह हो जाने पर उस योगी को युक्त—योग से युक्त—कहा जाता है। जिस प्रकार वायु से रहित दीपक चलायमान नही होता उसी प्रकार मन को नियन्त्रित करके योग मे स्थित हुआ योगी उस योग से चलायमान नही होता[2]।

जिसको पाकर योगी अन्य किसी की प्राप्ति को अधिक महत्त्व नही देता, तथा जिसमे स्थित रहकर वह भारी दुख से भी विचलित नही होता, उसका नाम योग है। उमे समस्त दुःखो का नाशक जानकर योगी को विरक्त चित्त से उसमे सलग्न होना चाहिए। साथ ही वह सकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी इच्छाओ का पूर्णरूप से परित्याग करके तथा मन के द्वारा इन्द्रियसमूह को नियन्त्रित करके धीरे-धीरे उपरत होता हुआ धीरतापूर्वक मन को आत्मस्वरूप मे स्थित करता है और अन्य कुछ भी नहीं सोचता है। यदि योगी का मन अस्थिर है तो वह जिस जिस कारण से विषयो की ओर जाता है उस उस की ओर से उसे रोककर आत्मा मे नियन्त्रित करना चाहिए[3]।

भगवद्गीता व जैन दर्शन

गीता के अन्तर्गत उपर्युक्त विषयविवेचन को जब हम जैन दर्शन के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखते है तब हमे दोनो मे बहुत कुछ समानता दिखती है। जैन दर्शन नयप्रधान है। उसमे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जहां आत्मा आदि को नित्य कहा गया है वहा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उन्हे अनित्य भी कहा गया है। गीता मे शरीर की नश्वरता को दिखलाते हुए आत्मा को नित्य कहा गया है। आत्मा की यह नित्यता द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जैन दर्शन को भी अभीष्ट है। यही कारण है जो वहा द्रव्यार्थिक नय अथवा निश्चय नय के आश्रय से जहा तहा आत्मा को नित्य व अविनश्वर कहा गया है।

१ उदाहरणार्थ गीता मे यह कहा गया है कि सबके शरीर मे अवस्थित जीव या आत्मा जन्म-मरण से रहित सदा अवध्य है—शाश्वत है, इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर भी उसका वध नही किया जा सकता है। यथा—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २-२०
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-३०

यही अभिप्राय जैन दर्शन मे भी प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रगट किया गया है—

एगो मे सस्सओ अप्पा णाण-दंसणलक्खणो।

---

१. भ. गी. ६, १०-१३.
२. वही ६, १७-१९.
३. वही ६, २२-२६.

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा[1] ॥ मूला. २-१२.
यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥ समाधि. ३३.
अनालोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचल प्रभुः ॥ आत्मानु. २६६.

२ गीता मे जन्म व मरण का अविनाभाव इस प्रकार प्रगट किया गया है—
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-२७.

यही अभिप्राय जैन दर्शन मे भी देखा जाता है—
मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ आत्मानु. १८८.
प्रहतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमेष पश्यति ।
प्रतिजन्तु तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥ चन्द्र. च. १-६६.

३ गीता मे शरीरान्तर की प्राप्ति के लिए जीर्ण वस्त्रो का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्रो को छोड़कर अन्य नये नये वस्त्रो को ग्रहण किया करता है उसी प्रकार प्राणी जीर्ण शरीरो को छोडकर अन्य अन्य नवीन शरीरों को धारण किया करता है[2] ।

समाधिशतक मे भी उस वस्त्र का उदाहरण देते हुए प्रकारान्तर से कहा गया है कि वस्त्र के सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त होने पर उसको धारण करने वाला मनुष्य जिस प्रकार आत्मा को—अपने को—सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त नही मानता है उसी प्रकार शरीर के भी सघन, जीर्ण, नष्ट, अथवा रक्त होने पर विद्वान् मनुष्य आत्मा को सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त नही मानता है । इसका कारण यही है कि जिस प्रकार आत्मा से भिन्न वस्त्र है उसी प्रकार उससे भिन्न शरीर भी है[3] । आगे गीता के समान उसी वस्त्र का उदाहरण देते हुए फिर से यह कहा गया है कि जो विवेकी जीव आत्मा को ही आत्मा मानता है—शरीर मे आत्मबुद्धि नही रखता—वह अपने शरीर की अन्य गति को—एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर के ग्रहण को—निर्भयतापूर्वक एक वस्त्र को छोडकर दूसरे वस्त्र के ग्रहण के समान ही मानता है, इसीलिए उसे मरण का कुछ भय नही रहता[4] ।

४ गीता मे यह निर्देश किया गया है कि जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही रहता और जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता[5] ।

इसी प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत पचास्तिकायादि ग्रन्थो मे भी कहा गया है कि भाव का—सद्भूत पदार्थ का—कभी नाश (अभाव) नही होता और अभाव (असत्) की कभी उत्पत्ति नहीं होती[6] ।

---

१ नि सा. गा. १०२ व वरागचरित श्लोक ३१-१०१ भी द्रष्टव्य हैं ।

२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥ २-२२.

३. समाधि. ६३-६६.

४. आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मन. ।
मन्यते निर्भय त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥ समाधि. ७७.

५. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत. ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २-१६.

६. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुण-पज्जयेसु भावा उप्पाद-वये पकुव्वंति ॥ पंचा. १५.
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥ स्व. स्तो. ५-४.

५ गीता मे संयमी व असंयमी की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि अन्य सब प्राणियो (असंयमियो) के लिए जो रात्रि है—आत्मावबोध से रहित अज्ञानजनित अवस्था है—उसमे संयमी जागता है—वह उससे अलिप्त होकर प्रबुद्ध रहता है—और जिसमे अन्य प्राणी जागते है—व्यवहार मे सलग्न रहते हैं—वह विवेकी मुनि के लिये रात्रि है—रात्रि के समान है, अर्थात् रात्रि मे जिस प्रकार समस्त व्यवहार कार्य को छोडकर अन्य प्राणी सो जाते है उसी प्रकार सयमी मुनि सोते हुए के समान उस सब लोकव्यवहार से अलिप्त रहता है[1]।

लगभग इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए समाधिशतक मे भी कहा गया है कि जो व्यवहार मे सोता है—विषयसुख से बिमुख रहता है—वह आत्मा के विषय मे जागता है—प्रबुद्ध रहता है, और जो व्यवहार मे जागता है—शरीर आदि की क्रियाओ मे उद्यत रहता है—वह आत्मा के विषय में सोता है—आत्मस्वरूप से बिमुख रहता है[2]।

६ गीता मे श्रद्धा व ज्ञान पर बल देते हुए कहा गया है कि जो जितेन्द्रिय पुरुष श्रद्धा से युक्त होता है वह ज्ञान को प्राप्त करता है और फिर उस ज्ञान को पाकर वह शीघ्र ही उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत जो ज्ञान और श्रद्धा से रहित होकर सशयालु होता है वह इस लोक और परलोक के भी सुख से वचित रहता है[3]।

जैन दर्शन मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मुक्ति का कारण माना गया है[4]। गीता का पूर्वोक्त निर्देश भी इसी अभिप्राय को प्रगट करता है। वहा जो सर्वप्रथम श्रद्धा का निर्देश किया गया है उसे जैन पारिभाषिक शब्द से सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। कारण यह कि जैन दर्शन मे तत्त्वश्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है[5]। आगे ज्ञान का निर्देश दोनो मे समान है। जैन दर्शन मे जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति मानी गई है उसी प्रकार गीता मे भी श्रद्धा के बाद ज्ञान की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। गीतागत श्लोक ४-३९ मे जो 'सयतेन्द्रिय.' पद है वह सम्यक्चारित्र का द्योतक है, क्योकि इन्द्रियो को नियन्त्रित करके विषयो से निवृत्त होने का नाम ही तो चारित्र है।

७ गीता मे कहा गया है कि आत्महितैषी जीव को स्वय अपने ही द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए और आत्मा को सकट मे नही डालना चाहिए। कारण यह कि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है

---

१ या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ २-६९.
(यह श्लोक 'उक्त च' आदि के निर्देश के विना ज्ञानार्णव मे पृ. १९४ पर ज्यो का त्यो उपलब्ध होता है, वहां केवल 'सर्वभूताना' के स्थान मे 'सर्वभूतेषु' पाठ है)

२ (क) व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८

(ख) स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजा।
त्वमार्य ! नक्त-दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ स्व स्तो. १०-३.

३. श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रियः।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ४-३९
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुख संशयात्मनः ॥ ४-४०.

४. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग। त. सू १-१.

५. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। त. सू. १-२.

और वही अपना शत्रु है—दूसरा कोई अपना बन्धु और शत्रु नहीं है[1]।

जैन दर्शन के अन्तर्गत समाधितन्त्र मे भी प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि अपनी आत्मा ही अपने लिए जन्म को—जन्म-मरणरूप ससार को—प्राप्त कराती है और वही निर्वाण को—मुक्तिसुख को—भी प्राप्त कराती है। इसीलिए वास्तव मे अपनी आत्मा ही अपना गुरु—हित की शिक्षा देने वाला बन्धु है, अन्य कोई गुरु नही है[2]।

८ गीता में योग की स्थिरता के लिए दीपक की उपमा देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार वायु से रहित दीपक स्थिर रहता है उसी प्रकार चित्त की चचलता से रहित योगी का योग भी स्थिर रहता है[3]।

ध्यानशतक मे उक्त दीपक की उपमा देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार घर मे स्थित वायु-विहीन दीपक अतिशय स्थिर रहता है उसी प्रकार एकत्व-वितर्क-अविचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान उत्पाद, स्थिति (ध्रुवता) और व्यय से किसी एक ही पर्याय मे स्थिर रहता है—वह एक अर्थ से अर्थान्तर मे, शब्द से शब्दान्तर मे और एक योग से योगान्तर मे संक्रमण नही करता है[4]।

९ गीता मे कहा गया है कि जो योगी स्थिर होकर शरीर, शिर और ग्रीवा को समान और निश्चल धारण करता हुआ दिशाओ को नही देखता है, किन्तु अपनी नासिका के अग्रभाग का अवलोकन करता है वह निर्वाणस्वरूप परम शान्ति को प्राप्त करता है। यथा—

समं काय-शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ ६-१३

लगभग यही भाव वरागचरित, तत्त्वानुशासन और अमितगति-श्रावकाचार के निम्न श्लोको मे उपलब्ध होता है—

मध्ये ललाटस्य मनो निधाय नेत्रभ्रुवोर्वा खलु नासिकाग्रे।
एकाग्रचिन्ता प्रणिधानसंस्था समाधये ध्यानपरो बभूव॥ वरांगच. ३१-९९.
नासाग्रन्यस्तनिष्पन्दलोचनो मन्दमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः॥ तत्त्वानु. ९३.
स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यंकबन्धस्थितपाणि-पद्मः।
नासाग्रसंस्थापितदृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेगः॥ अमित. श्रा. १५-९१.

जैन दर्शन के साथ योगसूत्र की समानता

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र यह योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमे सक्षेप से योग के महत्त्व को प्रगट करते हुए उसकी सागोपाग प्ररूपणा की गई है। वह समाधि, साधना, विभूति और

---

१. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन.॥६-५.
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित.।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६-६

२. नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५.
लगभग यही अभिप्राय इष्टोपदेश के ३४वें श्लोक मे भी प्रगट किया गया है।

३. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥६-१९.

४. ध्या. श. ७९-८०.

कैवल्य इन चार पादों में विभक्त है। समस्त सूत्रसंख्या उसकी १९५ (५१+५५+५५+३४) है। उसके प्रथम पाद में चित्तवृत्तिनिरोध को योग का स्वरूप बतलाकर उसके उपाय को दिखलाते हुए प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाच वृत्तियों को क्लिष्ट व अक्लिष्ट बतलाया है। आगे संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि के स्वरूप के साथ ईश्वर के स्वरूप को भी प्रगट किया गया है।

द्वितीय पाद में क्रियायोग का निर्देश करते हुए हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चार के स्वरूप को प्रगट किया गया है। इसी से भाष्यकार ने उसे चतुर्व्यूहरूप शास्त्र कहा है[1]। साथ ही वहां यम-नियम आदि आठ योगागो का निर्देश करते हुए वहां उनमे प्रथम पाच योगागों का विचार किया गया है। प्रथम यम योगाग के प्रसंग मे अहिंसा व सत्य आदि के तथा द्वितीय नियम योगांग के प्रसग मे शौच व सन्तोष आदि के स्वरूप को दिखलाते हुए उनके पृथक् पृथक् फल को भी प्रगट किया है।

तृतीय पाद मे धारणा, ध्यान और समाधि इन शेष तीन योगांगो के स्वरूप का निर्देश करते हुए उन तीनो के समुदाय को संयम बतलाया है। आगे अन्य प्रासगिक कथन के साथ योग के आश्रय से उत्पन्न होने वाली विभूतियो को दिखलाया गया है।

चतुर्थ पाद मे उक्त विभूतियो (सिद्धियो) को जन्म, औषधि, मत्र, तप और समाधि इन यथासम्भव पाच निमित्तो से उत्पन्न होने वाली बतलाकर आगे शका-समाधानपूर्वक कुछ अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए सत्कार्यवाद के साथ परिणामवाद को प्रतिष्ठित और विज्ञानाद्वैत का निराकरण किया गया है। विशेष इतना है कि परिणामवाद को प्रतिष्ठित करते हुए भी पुरुष को अपरिणामी--चित्स्वरूप से कूटस्थ नित्य---स्वीकार किया गया है। अन्त मे कैवल्य के स्वरूप को प्रगट करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया गया है।

प्रस्तुत योगसूत्र यद्यपि प्रमुखता से साख्य सिद्धान्त के आश्रय से रचा गया है, फिर भी उसकी रचना मे अन्य दर्शनो की उपेक्षा नही की गई है, उनका भी यथावसर आश्रय लिया गया है। महर्षि पतञ्जलि की इस मध्यस्थ वृत्ति के कारण उनका यह योगसूत्र प्राय सभी सम्प्रदायो मे प्रिय रहा है। प्रकृत मे हम जैन दर्शन के साथ भी उसकी कितनी समानता रही है, इसका विचार करेंगे। जैन दर्शन के साथ उसकी समानता शब्दो और विषयविवेचन की भी अपेक्षा दृष्टिगोचर होती है।

शब्दसाम्य—

योगसूत्र मूल और उसके व्यास विरचित भाष्य मे भी ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते है जो प्राय. जैन दर्शन को छोडकर अन्य दर्शनो मे प्रचलित नहीं हैं। यथा—

वितर्क, विचार—ये दो शब्द निम्न योगसूत्र मे प्रयुक्त हुए है—**वितर्क-विचारानन्दास्मितानुगमात्** सम्प्रज्ञात (१-१७)[2]। ये दोनो शब्द जैन दर्शन के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र (९, ४१-४४) और स्थानाग (४-२४७) आदि अनेक ग्रन्थो मे पाये जाते है।

भवप्रत्यय—यह शब्द योगसूत्र मे इस प्रकार उपयुक्त हुआ है—**भवप्रत्ययो** विदेह-प्रकृतिलयानाम् (१-१९)। यह षट्खण्डागम (५, ५, ५३), तत्त्वार्थसूत्र (१-२१), नन्दीसूत्र हरि. वृ. (पृ २९) और धवला (पु १३, पृ २९०) आदि अनेक जैन ग्रन्थो में उपलब्ध होता है।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—इन चार शब्दो का उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार हुआ है—मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दु ख-पुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसाधनम् (१-३३)। भगवती आराधना

---

१ यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्य भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः ससारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः ससारो हेय, प्रधान-पुरुषयो सयोगो हेयहेतु. सयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। यो. सू. भा २-१५. (लगभग यही अभिप्राय तत्त्वानुशासन श्लोक ३-५ मे भी प्रगट किया गया है)।

२. आगे समापत्ति के चार भेदो का उल्लेख करते हुए सूत्र १, ४२-४४ मे भी उनका उपयोग हुआ है।

(१६६६); तत्त्वार्थसूत्र (७-११), ज्ञानार्णव (४, पृ. २७२) और योगशास्त्र (४-११७) आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे उक्त मैत्री आदि भावनाओ को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तत्त्वार्थसूत्र मे मुदिता के स्थान में प्रमोद और उपेक्षा के स्थान मे माध्यस्थ्य शब्दो का उपयोग हुआ है, जिनके अर्थ मे कुछ भेद नही है।

अविद्या – योगसूत्र (२-३) मे क्लेश के इन पाच भेदो का निर्देश किया गया है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इनमे अविद्या यह अस्मिता आदि उत्तर चार क्लेशो की जनक है। उसका स्वरूप आगे इस प्रकार कहा गया है—अनित्याशुचि-दु खानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या (२-५)। आगे (२-२४) मोहरूप इस अविद्या को विवेकख्यातिरूप सयोग का कारण कहा गया है। यह शब्द समाधिशतक (१२ व ३७) तथा तत्त्वार्थवार्तिक आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। अभिप्राय भी उसका उभय सम्प्रदायो मे समान है[1]। अविद्या के स्थान मे अधिकाश जैन ग्रन्थो मे अज्ञान[2] और मोह[3] शब्दो का भी व्यवहार हुआ है।

राग, द्वेष—पूर्वोक्त क्लेश के भेदभूत राग और द्वेष का स्वरूप योगसूत्र मे इस प्रकार कहा गया है—सुखानुशयी राग, दु खानुशयी द्वेष. (२ ७-८)। इन दोनो शब्दो का उपयोग षट्खण्डागम (४, २, ८, ८ -पु, १२, पृ २८३), कषायप्राभृत (३ व १३), श्रावकप्रज्ञप्ति टीका (३९३) और ध्यानशतक (१० व ४९) आदि जैन ग्रन्थो मे प्रचुरता से हुआ है।

यम—इस शब्द का उपयोग योगसूत्रगत निम्न सूत्र मे किया गया है—अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा (२-३०)। जैन दर्शन मे इस शब्द का उपयोग रत्नकरण्डक (८७), स्थानाग (२-३) और उपासकाध्ययन (७६१) आदि ग्रन्थो मे हुआ है।

महाव्रत—इस शब्द का उपयोग इस योगसूत्र मे हुआ है—जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् (२-३१)। उसका उपयोग चारित्रप्राभृत (३१), मूलाचार (१-४ व ५-९७), दशवैकालिक (४-३), पाक्षिकसूत्र (पृ. १८) और तत्त्वार्थसूत्र (७-२) आदि अनेक जैन ग्रन्थों मे हुआ है।

नियम—इसका उपयोग योगसूत्र मे इस प्रकार किया गया है—शौच-सन्तोष-तप स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियम (२-३२)। इस शब्द का उपयोग नियमसार (३), रत्नकरण्डक (८७) और उपासकाध्ययन (७६१) आदि जैन ग्रन्थो मे किया गया है।

कृत, कारित, अनुमोदित—इन शब्दो का व्यवहार योगसूत्र मे इस प्रकार किया गया है—वितर्का हिंसादय कृत-कारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दु खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् (२-३४)। इनका उपयोग तत्त्वार्थसूत्र (६-८) व श्रावकप्रज्ञप्ति (३३१) आदि जैन ग्रन्थो मे हुआ है। विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र मे अनुमोदित के स्थान मे अनुमत तथा श्रावकप्रज्ञप्ति मे क्रम स करोति, कारयति और अनुजानाति इन क्रियापदो का उपयोग हुआ है। परन्तु अभिप्राय उनका दोनो मे समान ही है।

सोपक्रम, निरुपक्रम – इन दो शब्दो का उपयोग योगसूत्र मे इस प्रकार किया गया है—सोपक्रम निरुपक्रम च कर्म तत् सयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा (३-२२)। इनमे मूल शब्द **उपक्रम** है,

---

१ अविद्या विपर्ययात्मिका सर्वभावेष्वनित्यानात्माशुचि-दु खेषु नित्य सात्मक-शुचि-सुखाभिमानरूपा। त. वा. १, १, ४६; अविद्या कर्मकृतो बुद्धिविपर्यास। आव नि हरि वृ मल हेम टि पृ ५३.

२. इष्टोप ११ व २३; ध्या श हरि. वृ ५० ('अज्ञान खलु कष्ट' इत्यादि उद्धृत पद्य); ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञानम, कुत्सितत्वात् कार्याकरणादशीलवदपुत्रवद्वा। त. भा. सिद्ध. वृ २-५; किमज्ञानम् ? मोह-भ्रम-सन्देहलक्षणम्। इष्टोप टी २३

३. अज्ञानलक्षणश्च मोह। ध्या श हरि वृ ४९.; क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा स्त्री-पुनपुसकवेद-मिथ्यात्वाना समूहो मोहः। धव पु १२, पृ २८३.

उससे सहित का नाम सोपक्रम और रहित का नाम निरुपक्रम है। यह उपक्रम शब्द तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२-५२) व उसकी हरि. व सिद्ध. वृत्तियो (२, ५१-५२) आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे व्यवहृत हुआ है। सोपक्रम और निरुपक्रम शब्दो का भी उपयोग तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२, ५१-५२)। उसकी हरिभद्र व सिद्धसेन विरचित वृत्तियो (२-५२) और षट्खण्डागम की धवला टीका (पु. ९ पृ ८९ व पु. १०, पृ. २३३-३४ व २३८) आदि में हुआ है।

प्रकाशावरण—इसका उपयोग योगसूत्र के इन सूत्रो में हुआ है—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (२-५२), बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः (३-४३)। षट्खण्डागम (१, ९-१, ५—पु. ६, पृ. ६ आदि) व तत्त्वार्थसूत्र (८-४) आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे इसके समानार्थक ज्ञानावरण व ज्ञानावरणीय शब्दो का उपयोग हुआ है।

अणिमा—इसका उपयोग योगसूत्र मे इस प्रकार हुआ है—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पद्धर्मानभिघातश्च (३-४५)। अणिमा व महिमा आदि ऐसे शब्दो का व्यवहार तिलोयपण्णत्ती (४-१०२६), तत्त्वार्थवार्तिक (३, ३६, २) और धवला टीका (पु. ९, पृ ७५) आदि जैन ग्रन्थो मे बहुतायत से हुआ है।

वज्रसहननत्व—इसका उपयोग योगसूत्र मे इस प्रकार हुआ है—रूप-लावण्य-बल-वज्रसहननत्वानि कायसम्पत् (३-४६)। वज्रर्षभनाराचसहनन और वज्रनाराचसहनन जैसे शब्दो का उपयोग षट्खण्डागम (१, ९-१, ३६- पु ६, पृ. ७३) व सर्वार्थसिद्धि (८-११) आदि अनेक जैन ग्रन्थो में हुआ है।

कैवल्य—इसका उपयोग योगसूत्र के इन सूत्रो मे किया गया है—तदभावात् सयोगाभावो हानम्, तद दृशे कैवल्यम् (२-२५), तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् (३-५०), सत्त्व-पुरुषयो. शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् (३-५५), पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति (४-३४)। 'केवलस्य भाव कैवल्यम्' इस निरुक्ति के अनुसार 'केवल' शब्द से कैवल्य बना है। जैन दर्शन मे सर्वज्ञ व सर्वदर्शी के ज्ञान को केवलज्ञान स्वीकार किया गया है। केवलज्ञान शब्द का उपयोग षट्खण्डागम (५, ५, ८१—पु. १३, पृ. ३४५), तत्त्वार्थसूत्र (१०-१), तिलोयपण्णत्ती (४-९७४) और पचसग्रह (दि. १-१२६) आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे हुआ है। केवलज्ञान से सम्पन्न अरहन्त को केवली और उनकी उस अवस्था को कैवल्य कहा गया है। कैवल्य इस शब्द का उपयोग भी स्वयम्भूस्तोत्र,[1] समाधिशतक[2], आत्मानुशासन[3] और सिद्धिविनिश्चय (७-२१) व उसकी टीका[4] आदि मे किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भली भाति विदित हो जाता है कि जैन दर्शन मे व्यवहृत बहुत मे शब्द योगसूत्र मे भी उसी रूप मे व्यवहृत हुए हैं तथा अभिप्राय भी उनका प्राय दोनो दर्शनों मे समान रहा है।

विषय की समानता—

जिस प्रकार जैन दर्शन और योगसूत्र मे अनेक शब्दो का समान रूप मे व्यवहार हुआ है उसी प्रकार दोनो की विषयविवेचनप्रक्रिया मे भी बहुत कुछ समानता पायी जाती है। जैसे -

वितर्क, विचार— जैन दर्शन मे शुक्लध्यान के जिन चार भेदो का निरूपण किया गया है उनमे प्रथम शुक्लध्यान वितर्क व विचार से सहित तथा द्वितीय शुक्लध्यान वितर्क से सहित होकर भी विचार

१. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिर्मोह-रिपु निरस्य।
अमि स्म कैवल्य-विभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥११-५

२. समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणा × × ×॥ समाधि. ३.

३. × × × कैवल्यालोकितार्थे × × × ॥ आत्मानु १४

४. केवलस्य कर्मविकलस्य आत्मनो भाव. कैवल्यम्। सिद्धिवि. टी ७-२१, पृ ४९१.

से रहित माना गया है। उनमे श्रुतज्ञान—विशेषरूप से ऊहापोह करने—का नाम वितर्क है। द्रव्य को छोड़कर पर्याय का और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का चिन्तन करना, एक आगमवाक्य को ग्रहण कर अन्य आगमवाक्य का व उसको भी छोड़कर वाक्यान्तर का चिन्तन करना, तथा एक योग को छोड़कर दूसरे योग का व उसको भी छोड़कर योगान्तर का चिन्तन करना; इसका नाम विचार है[1]।

उधर योगसूत्र में योग के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। जिस समाधि के द्वारा संशय-विपर्ययादि से रहित भाव्य (ईश्वर और पच्चीस तत्त्व) का स्वरूप जाना जाता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि और जिसमे किसी ज्ञेय का ज्ञान नही होता उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। दूसरे शब्दों मे उन्हे क्रम से सबीज (सालम्ब) समाधि और निर्बीज[2] (निरालम्ब) समाधि भी कहा गया है। उनमें सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कादि से अन्वित होने के कारण सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित के भेद से चार प्रकार की है। जब स्थूल महाभूतों (आकाशादि) और इन्द्रियो को विषयरूप से ग्रहण करके पूर्वापर के अनुसन्धानपूर्वक शब्द व अर्थ के उल्लेखभेद के साथ भावना की जाती है तब सवितर्क समाधि होती है। इसी आलम्बन मे जब पूर्वापर के अनुसन्धान और शब्दोल्लेख के बिना भावना प्रवृत्त होती है तब निर्वितर्क समाधि होती है। तन्मात्रा (शब्दादि) और अन्त.करणरूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन लेकर जब तद्विषयक देश, काल व धर्म के अवच्छेदपूर्वक भावना प्रवृत्त होती है तब सविचार समाधि होती है। इसी आलम्बन मे जो देश, काल व धर्म के अवच्छेद के बिना धर्मी मात्र को प्रकाशित करने वाली भावना की जाती है उसे निर्विचार समाधि कहा जाता है[3]।

इस प्रकार जैसे जैन दर्शन प्ररूपित प्रथम शुक्लध्यान मे द्रव्य-पर्यायादि के ज्ञानपूर्वक शब्द व अर्थ के परिवर्तन के साथ चिन्तन होता है, जिससे कि उसे सवितर्क व सविचार कहा गया है; वैसे ही योगसूत्र प्ररूपित सम्प्रज्ञात समाधि मे भी पूर्वापरानुसन्धानपूर्वक शब्द व अर्थ के विकल्प के साथ स्थूल (आकाशादि महाभूतो व इन्द्रियों) और सूक्ष्म (तन्मात्रा व अन्त करण) तत्त्वो का चिन्तन होता है, इसीलिए उसे सवितर्क व सविचार समाधि कहा गया है।

जिस प्रकार जैन दर्शन प्ररूपित द्वितीय शुक्लध्यान मे शब्द, अर्थ और योग का सक्रमण (परस्पर मे परिवर्तन) न होने के कारण उसे अविचार—उक्त विचार से रहित—कहा गया है उसी प्रकार योगदर्शन मे तन्मात्रा और अन्तःकरण रूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन लेने वाली चतुर्थ (निर्विचार) समाधि मे भी देश, काल और धर्म के अवच्छेद से रहित धर्मी मात्र का प्रतिभास होने के कारण उसे निर्विचार कहा गया है।

जैन दर्शन के अनुसार मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का जब विनाश हो जाता है तब केवलज्ञान के प्रगट हो जाने पर केवली के तीसरा और चौथा शुक्लध्यान होता है। ये दोनों ध्यान मन के विनष्ट हो जाने के कारण समस्त चित्तवृत्तियो से रहित होते हैं। इसीलिए उनमे ज्ञान-ज्ञेय आदि का विकल्प नहीं रहता।

यही अवस्था प्रायः योगसूत्रोपदिष्ट असम्प्रज्ञात समाधि की है। वहां भी समस्त चित्तवृत्तियो का विनाश हो जाने के कारण पूर्णतया चित्त का निरोध हो जाता है। इसलिए वहा भी कुछ ज्ञेय नही रहता। इसी कारण उसकी 'असम्प्रज्ञात' यह संज्ञा सार्थक है[4]।

हरिभद्र सूरि ने अपने योगबिन्दु में पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानों को सम्प्रज्ञात समाधि तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति इन दो शुक्लध्यानो

---

१. त. सू. ६, ४१-४४.

२. सबीज और निर्बीज ध्यान का उल्लेख उपासकाध्ययन (६२२-२३) मे भी हुआ है।

३ योगसूत्र भोजदेव विरचित वृत्ति १-१७.

४. स निर्बीज समाधिः। न तत्र किंचित् सप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञात (यो. सू भाष्य १-२); न तत्र किंचिद् वेद्य सप्रज्ञायत इति असप्रज्ञातो निर्बीज. समाधि.। यो सू. भोज. वृ. १-१८.

को असंप्रज्ञात समाधि जैसा कहा है[1]।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—जैन दर्शन में अहिंसादि व्रतो के दृढ़ीकरण तथा धर्मध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री आदि चार भावनाओ के चिन्तन का उपदेश दिया गया है[2]। इसी प्रकार योगसूत्र मे भी समाधि की सिद्धि मे अन्तरायभूत चित्तविक्षेपो के निषेधार्थ प्रथमतः किसी एक अभिमत तत्त्व के अभ्यास का—चित्त को पुनः पुनः उसमें संलग्न करने का—उपदेश दिया गया है और तत्पश्चात् उक्त चित्त की प्रसन्नता के लिए उपर्युक्त मैत्री आदि के चिन्तन की प्रेरणा की गई है[3]। तत्त्वार्थसूत्र आदि जैन ग्रन्थों मे जहां मैत्री शब्द के साथ कारुण्य, प्रमोद और माध्यस्थ्य शब्दों का उपयोग किया गया है वहां योगसूत्र मे उक्त मैत्री शब्द के साथ करुणा, मुदिता और उपेक्षा शब्दो का उपयोग किया गया है। यह केवल शब्दभेद है, अर्थभेद कुछ भी नही है। हरिभद्र सूरि ने तो अपने षोडशक प्रकरण मे योगसूत्रगत उन चार शब्दो का उसी रूप मे उपयोग किया है[4]। विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में जहां मैत्री को प्राणिमात्रविषयक, करुणा या कारुण्य को क्लेशयुक्त (दुखी) जीवविषयक, प्रमोद या मुदिता को गुणी जीवविषयक और माध्यस्थ्य (उपेक्षा या उदासीनता) को अविनेय (विपरीतवृत्ति) जीवविषयक निर्दिष्ट किया गया है वहा योगसूत्र मे मैत्री को सुखी जीवविषयक, करुणा को तत्त्वार्थसूत्र के ही समान दुखी जीवविषयक, मुदिता (प्रमोद) को पुण्ययुक्त जीवविषयक और उपेक्षा को पुण्यहीन (धर्म-विहीन या प्रतिकूल) जीवविषयक निर्दिष्ट किया गया है[5]। इस प्रकार चित्त की स्थिरता की प्रमुख कारण होने से दोनो ही दर्शनो मे उपर्युक्त चार भावनाओं पर जोर दिया गया है। उनके आश्रय से जहा अहिंसादि व्रतो मे दृढ़ता होती है वहा समाधि या ध्यान मे स्थिरता भी होती है।

तत्त्वार्थसूत्र मे उपर्युक्त मैत्री आदि भावनाओ के निर्देश के पूर्व मे अहिंसादि पाच व्रतो की पृथक् पृथक् पाच भावनाओ का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि हिंसादि पापों मे उभय लोको से सम्बन्धित अपाय (अनर्थ) और अवद्य (पाप या निन्दा) के दर्शन का चिन्तन करना चाहिए। अनन्तर अगले सूत्र मे तो वहा यहा तक कह दिया है कि आत्महितैषी जीव को उपर्युक्त हिंसादि महा पापों को दुख ही समझना चाहिए[6]।

अब योगसूत्र को भी देखिये। वहा जाति (मनुष्यादि), आयु और भोग (इन्द्रियविषयादि) को शुभाशुभ कर्मों का फल बतलाकर यह कहा गया है कि उनमे जो पुण्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं वे प्राणियो को सुखप्रद होते है तथा जो पाप के आश्रय से उत्पन्न होते हैं वे उन्हे दुखप्रद होते हैं। अन्त मे विवेकी योगी को लक्ष्य करके यही कह दिया है कि विषमिश्रित भोजन के समान उक्त जाति आदि जहा परिणाम मे दुखप्रद होते है वहा वे तृष्णा के बढ़ाने वाले होने से सन्ताप के जनक भी होते हैं। इसके अतिरिक्त अभीष्ट विषयो की प्राप्ति मे जो सुख का अनुभव होता है तथा अनिष्ट विषयों की प्राप्ति मे

---

१. समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥४१९.
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥ ४२१. (इनकी स्वोपज्ञवृत्ति द्रष्टव्य है)

२. त. सू. ७-११; ज्ञानार्णव ४, पृ. २७२ (आगे श्लोक १६-१९ भी द्रष्टव्य है); योगशास्त्र (४-११७).

३. यो. सू. १, ३२-३३.

४. परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषेक्षणमुपेक्षा ॥ ४-१५.

५. यो. सू. भोज. वृ. १-३३.

६. हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् । दुःखमेव वा । त. सू. ७, ९-१०.

जो दुख का अनुभव होता है वह ऐसे सस्कार को उत्पन्न करता है कि जिससे संसार का कभी विनाश नही हो सकता । इन सब कारणों से योगी को उक्त जाति आदि दुख ही प्रतीत होते है [1]।

इस प्रकार से जैन दर्शन के समान योग दर्शन मे भी हिंसादि पापो अथवा उन्ही जैसे जाति, आयु एवं भोगों के विषय में दुःखरूपता के ही अनुभव करने की प्रेरणा की गई है ।

महाव्रत—जैन दर्शन के अन्तर्गत चारित्रप्राभृत (२६-३०), मूलाचार (१, ४-६ व ५, ६१ से ६७), तत्त्वार्थसूत्र (७, १-२), दशवैकालिक (४-७, पृ १४८-४६) और पाक्षिकसूत्र (पृ. १८-२६) आदि अनेक ग्रन्थो मे अहिंसादि महाव्रतो का विधान किया गया है । इन व्रतों का परिपालन चूकि जीवन पर्यन्त किया जाता है, इसलिए उन्हे यम कहा जाता है[2] ।

इसी प्रकार से उक्त पाच महाव्रतो का विधान योगसूत्र मे भी किया गया है । यहा योग के जिन आठ अगो का वर्णन किया गया है उनमे प्रथम योगाग यम ही है । हिंसा के अभावरूप अहिंसा, सत्य, परकीय द्रव्य के अपहरण के अभाव रूप अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वहा (२-३०) यमरूप से निर्देश करते हुए आगे (२-३१) यह कहा गया है कि जाति, देश, काल और समय के अवच्छेद से रहित उक्त अहिंसादि पाच सार्वभौम महाव्रत माने जाते हैं । सार्वभौम कहने का कारण यही है कि उनके परिपालन मे जाति व देश आदि की कोई मर्यादा नही रहती । उदाहरणार्थ "मैं ब्राह्मण का घात नही करूगा, तीर्थ पर किसी प्राणी का घात नही करूगा, चतुर्दशी के दिन किसी जीव की हत्या नही करूगा, अथवा देव व ब्राह्मण के प्रयोजन को छोडकर अन्य किसी भी प्रयोजन के वश जीवहिंसा न करूगा" इस प्रकार से जो अहिसा का परिपालन किया जाता है उसे क्रमश जाति, देश, काल और समय की अपेक्षा रखने के कारण सार्वभौम नही कहा जा सकता । किन्तु उक्त जाति आदि की मर्यादा से रहित जो पूर्णरूप से हिंसा का परित्याग किया जाता है उसे ही सार्वभौम अहिंसामहाव्रत माना जाता है । यही अभिप्राय सत्यमहाव्रत आदि के विषय मे भी ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार से उक्त अहिंसा आदि पाच महाव्रतो का स्वरूप जैसा जैन दर्शन मे प्ररूपित है ठीक उसी रूप मे उनका स्वरूप योगसूत्र मे भी निर्दिष्ट किया गया है ।

कृत, कारित, अनुमत—जैन दर्शन मे आस्रव व उसके भेद-प्रभेदो का निर्देश करते हुए उनके आधार जीव और अजीव बतलाये गये है । सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ, मन, वचन व काय ये तीन योग, कृत, कारित व अनुमत; तथा क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें; इनका परस्पर सम्बन्ध रहने से उक्त जीवाधिकरण के १०८ (=३×३×३×४) भेद माने गये है । वह आस्रव कषाय के वश होकर मन, वचन अथवा काय के आश्रय से हिंसादि के स्वय करने, अन्य से कराने अथवा करते हुए अन्य का अनुमोदन करने पर जीव के होता है । उसमे तीव्र या मन्द एव ज्ञात या अज्ञात भाव की अपेक्षा विशेषता हुआ करती है[3] ।

प्रकारान्तर से यही भाव योगसूत्र मे भी प्रगट किया गया है । वहां उपर्युक्त महाव्रतो के प्रसग मे यह कहा गया है कि वितर्क स्वरूप—योग के प्रतिकूल माने जाने वाले—जो हिंसादि पाप है वे क्रोध, लोभ अथवा मोह के वश होकर स्वय किये जाते हैं, अन्य से कराये जाते हैं, अथवा उनमे प्रवृत्त अन्य की अनुमोदना के विषय होते है । साथ ही वे मृदु (मन्द), मध्य अथवा अधि (तीव्र) मात्रा में हुआ करते है । उनका फल अपरिमित दुख व अज्ञान होता है । इसलिए योगी को उक्त हिंसादि के स्वरूप व

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा. । ते ह्लाद-परितापफला पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । परिणाम-ताप-सस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु.खमेव सर्वं विवेकिन. । यो. सू. २, १३-१५.

२. नियम· परिमितकालो यावज्जीव यमो ध्रियते ॥ रत्नक. ८७.

३. त. सू. ६, ६-८.; स. सि. ६, ६-८; त. वा. ६, ८, ७-६.

कारण आदि को जानकर प्रतिकूल भावना के आश्रय से उनका परित्याग करना चाहिए[1]।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि उक्त हिंसादि के परित्याग के विषय मे जो पद्धति जैन दर्शन मे अपनायी गई है लगभग वही पद्धति योगसूत्र में भी स्वीकार की गई है।

अहिंसा का महत्त्व— तिलोयपण्णत्ती, हरिवंशपुराण और ज्ञानार्णव आदि अनेक जैन ग्रन्थों में यह निर्देश किया गया है कि जो महात्मा हिंसा एवं राग द्वेषादि को छोडकर वीतरागता की परमकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है उसके समक्ष स्वभावत: जातिविरोधी जीव भी—जैसे सर्प व न्योला, बिल्ली व चूहा एव सिंह व हिरण आदि भी—अपने उस स्वाभाविक वैर को छोडकर आनन्दपूर्वक साथ साथ विचरण करते हैं[2]।

यही अभिप्राय योगसूत्र मे "अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग. (२-३५)" इस सूत्र के द्वारा प्रगट किया गया है।

सोपक्रम-निरुपक्रम—अनेक जैन ग्रन्थो मे आयु के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। जिस आयु का विघात—प्राणी का असमय मे मरण—विष व शस्त्रादि के निमित्त से हो सकता है वह सोपक्रम आयु कहलाती है तथा जिस आयु का विघात असमय मे नही हो सकता है—जैसे देवो की आयु का—उसे निरुपक्रम आयु कहा जाता है[3]। तत्त्वार्थसूत्र मे उन्हे अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयु कहा गया है। जिस कारणकलाप के द्वारा दीर्घ काल की स्थिति वाली आयु को अल्प काल की

---

१. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वितर्का हिंसादय कृत-कारितानुमोदिता लोभ-मोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दु खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। यो. सू २, ३३-३४

२. ति. प. (४-८९९) मे कहा गया है कि तीर्थंकर के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर जो ग्यारह अतिशय प्रगट होते है उनमे तीसरा अहिंसा—हिंसा का अभाव है। आगे वहा यह भी कहा गया है कि वीतराग जिनके माहात्म्य से उनकी समवसरण सभा मे आतक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैरभाव, कामबाधा और भूख-प्यास की पीडा नही होती। यथा—

आतक-रोग-मरणुप्पत्तीओ वैर-कामबाहाओ।
तण्हा-छुहपीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवति ॥ ४-९३३.

यही अभिप्राय हरिवशपुराण मे भी प्रगट किया गया है—

ततोऽहि-नकुलेभेन्द्र-हर्यश्व-महिषादय।
जिनानुभावसम्भूतविश्वासा शमिनो बभु ॥ २-८७.
अविद्या-वैर-मायादिदोषापायाप्ततद्गुणा।
हरीभाद्या विभान्त्यन्ये तिर्यञ्चस्तादृशो यथा ॥ ह पु ५७-१६०.

ज्ञानार्णव मे भी कहा गया है—

सारङ्गी सिंहशाव स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोत
मार्जारी हसबाल प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढ प्रशमितकलुष योगिनं क्षीणमोहम् ॥ ज्ञानार्णव २६, पृ २५०.

३. द्विविधान्यायूषि—अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च। अनपवर्तनीयानि पुनर्द्विविधानि सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च। अपवर्तनीयानि तु नियत सोपक्रमाणीति। त. भा २-५१; औपपातिकाश्चा-सख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमा.। चरमदेहा. सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चेति। एभ्य औपपातिक-चरमदेहा-सख्येयवर्षायुर्भ्य शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजा सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। × × × उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। त. भा. २-५२. (शेष आगे के पृष्ठ पर)

स्थिति से युक्त किया जाता है उसका नाम उपक्रम है[1]। इस प्रकार के उपक्रम से युक्त आयु को सोपक्रम और उससे रहित आयु को निरुपक्रम कहा जाता है।

योगसूत्र में भी योग के आश्रय से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की सिद्धियों का निरूपण करते हुए उस प्रसंग मे यह कहा गया है कि सोपक्रम और निरुपक्रम के भेद से कर्म दो प्रकार का है। जो योगी उसके विषय मे ध्यान, धारणा और समाधिरूप संयम को करता है कि कौन कर्म शीघ्र विपाक वाला और कौन दीर्घकालीन विपाकवाला है उसके ध्यान की दृढता से अपरान्तज्ञान—शरीर के छूटने का ज्ञान—उत्पन्न होता है कि अमुक देश व काल मे शरीर छूट जाने वाला है। यह ज्ञान आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रूप तीन प्रकार के अरिष्ट से भी उत्पन्न होता है[2]।

उक्त योगसूत्र के भाष्य और टीकाओ मे प्रकृत उपक्रम को स्पष्ट करते हुए ये दो उदाहरण दिये गये हैं—१ जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैला देने पर वह शीघ्र ही सूख जाता है उसी प्रकार सोपक्रम कर्म भी कारणकलाप के आश्रय से शीघ्र विनष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जिस प्रकार उक्त वस्त्र को संकुचित रूप मे रखने पर वह दीर्घ काल मे सूख पाता है यही अवस्था निरुपक्रम कर्म की भी समझना चाहिए। २ जिस प्रकार सूखे वन में छोडी गई अग्नि वायु से प्रेरित होकर शीघ्र ही उसे जला देती है तथा इसके विपरीत तृणसमूह मे क्रम से छोडी गई वही अग्नि उस तृणराशि को दीर्घ काल में जला पाती है उसी प्रकार सोपक्रम और निरुपक्रम कर्म के विषय मे भी जानना चाहिए।

ये दोनो उदाहरण तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२-५२) मे अपवर्तन के प्रसग मे दिये गये है। विशेषता यह है कि वहां प्रथमतः तृणराशि का उदाहरण देकर मध्य मे एक गणित का भी उदाहरण दिया गया है और तत्पश्चात् वस्त्र का उदाहरण दिया गया है। गणित का उदाहरण देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार कोई गणितज्ञ किसी संख्याविशेष को लाने के लिए विवक्षित राशि को गुणकार और भागहार के द्वारा खण्डित करके अपवर्तित करता है उसी प्रकार करणविशेष के आश्रय से कर्मविशेष का भी अपवर्तन (ह्रस्वीकरण) होता है। इस प्रकार सोपक्रम और निरुपक्रम का विचार दोनो ही दर्शनो मे समानरूप से किया गया है।

उत्पादादित्रय—जैन दर्शन मे द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् माना गया है[3]। उसका अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उक्त उत्पादादि तीन से सहित है। वस्तु मे पूर्व पर्याय को छोडकर जो नवीन पर्याय उत्पन्न होती है उसका नाम उत्पाद और पूर्व पर्याय के विनाश का नाम व्यय है। इन दोनो के साथ वस्तु मे जो अनादि स्वाभाविक परिणाम सदा विद्यमान रहता है उसे ध्रौव्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ जब सुवर्णमय कडे को तोडकर उसकी साकल बनवायी जाती है तब साकल रूप अवस्था का उत्पाद और कडेरूप अवस्था का व्यय होता है। इन दोनो के होते हुए भी जो उनमें सुवर्णरूपता सदा विद्यमान रहती है, यह उसका ध्रौव्य है। जैन दर्शन का यह एक

तत्रोपक्रमणमुपक्रम. प्रत्यासन्नीकरणकारणमुपक्रमशब्दाभिधेयम्, अतिदीर्घकालस्थित्यप्यायुर्येन कारणविशेषेणाध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापद्यते स कारणकलाप उपक्रम, तेन तादृशोपक्रमेण सोपक्रमाण्यनपवर्तनीयान्यायूंषि भवन्ति। निर्गतोपक्रमाणि निरुपक्रमाण्यध्यवसानादिकारणकलापाभावात्। त. भा. सिद्ध. वृ २-५१., धवला पु. ९, पृ. ८९ तथा पु १०, पृ. २३३-३४ व पृ. २३८ भी द्रष्टव्य है।

१. स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६ पृ. २१०.

२. यो. सू. ३-२२.

३. त. सू. ५, २९-३०.

प्रमुख सिद्धान्त है[1]।

इस प्रकार की परिणमनशीलता योगसूत्र में भी स्वीकार की गई है। वहां चित्त की एकाग्रतारूप परिणाम के प्रसंग में आकाशादि भूतो व श्रोत्रादि इन्द्रियो में धर्म, लक्षण और अवस्था रूप तीन परिणामो का व्याख्यान करते हुए धर्मी के लक्षण मे यह कहा गया है कि जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों से अन्वित होता है उसे धर्मी कहा जाता है[2]। जो धर्म अपने अपने व्यापार को करके अतीत अध्वान में प्रविष्ट होते हैं—व्यय या विनाश को प्राप्त होते हैं—वे शान्त कहलाते हैं तथा जो अनागत अध्वान को छोडकर वर्तमान अध्वान मे अपने व्यापार को किया करते है उन्हें उदित—उत्पाद अवस्था से सहित—कहा जाता है। साथ ही जो धर्म उक्त दोनो अवस्थाओं में शक्तिरूप से विद्यमान रहते हुए कहने में नही आते है उन्हें अव्यपदेश्य (ध्रौव्य) कहते है। इसे स्पष्ट करते हुए योगसूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति मे यह उदाहरण दिया गया है-- सुवर्ण रुचकरूप धर्म को छोड़कर स्वस्तिक रूप धर्मान्तर को जब ग्रहण करता है तब वह सुवर्णरूपता से अन्वित रहता है—दोनो ही अवस्थाओं मे वह उसे नही छोडता है। इस प्रकार वह सुवर्ण कथचित् भिन्नरूपता को प्राप्त उन धर्मों मे सामान्य (धर्मी) व विशेष (धर्म) रूप से अवस्थित होता हुआ अन्वयी रूप से प्रतिभासित होता है[3]।

आगे कहा गया है कि पूर्वोक्त धर्मों का जो क्रम है—जैसे मिट्टी के चूर्ण से उसका पिण्ड, उससे कपाल और उनसे घट; उसकी भिन्नता पूर्व धर्म को छोडकर धर्मान्तर के ग्रहणरूप धर्मी के परिणाम की भिन्नता मे हेतु है—उसकी अनुमापक है। उक्त तीन परिणामो के धारणा, ध्यान और समाधिरूप सयम से---धर्म-धर्मी आदिरूप उपर्युक्त विकल्पो के निरोध से—योगी के अतीत व अनागत का ज्ञान प्रादुर्भूत होता है[4]।

आगे कैवल्यपाद मे भी सत्कार्यवाद[5] का समर्थन व विज्ञानवाद का निराकरण करते हुए परिणामवाद को प्रतिष्ठित किया गया है। विशेष इतना है कि पुरुष को अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) स्वीकार किया गया है[6]।

---

१. न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥
घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ आ. मी. ५७-६०.
स्थिति-जनन-निरोधलक्षण चरमचर च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छन वचनमिदं वदता वरस्य ते ॥ स्व. स्तो २०-४.

२ शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म-लक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता। शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी। यो. सू ३, १२-१४.

३ तत. पुन यथा सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्तमान तेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेन अवभासते। यो सू भोज वृत्ति ३-१४.

४. क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हेतुः। परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। यो सू. ३, १५-१६.

५ तस्मात् सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते। यो. सू. भोज वृ. ४-१२. ६. यो. सू. ४, १२-१७

इस प्रकार जैन दर्शन मे स्वीकृत उत्पादादि तीन के आश्रय से जैसे वस्तु को कथंचित् परिणामी स्वीकार किया गया है लगभग उसी प्रकार योगदर्शन मे भी शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों के आश्रय से वस्तु को परिणामी स्वीकार किया गया है। वहा उत्पाद का समानार्थक शब्द उदित, व्यय का समानार्थक शान्त और ध्रौव्य का समानार्थक अव्यपदेश्य है।

कैवल्य— जैन दर्शन के अनुसार मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय हो जाने पर जीव के जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तब उसे केवली कहा जाता है। केवली समस्त पदार्थों का ज्ञाता-द्रष्टा (सर्वज्ञ) होता हुआ वीतराग— राग-द्वेष से पूर्णतया रहित होकर आत्मस्वरूप मे अवस्थित होता है[1]। केवली की इस अवस्था का नाम ही कैवल्य है। केवली के उपर्युक्त स्वरूप को मूलाचार (७-६७), आवश्यक निर्युक्ति (८६ व १०७६), सर्वार्थसिद्धि (६-१३), तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१०, ५-६, पृ ३१६) और तत्त्वार्थवार्तिक (६, १३, १ व ६, १, २३) आदि अनेक ग्रन्थो मे प्रगट किया गया है।

योगसूत्र मे कैवल्य का उल्लेख चार सूत्रों मे हुआ है[2]। सर्वप्रथम वहा सूत्र २-२५ मे यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव हो जाने से जो द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (बुद्धिसत्त्व) के सयोग का अभाव हो जाता है उसे हान कहते है। यही हान —दुःखरूप ससार का नाश—केवल पुरुष का कैवल्य कहलाता।

आगे योग से प्रादुर्भूत होने वाली अनेक प्रकार की विभूतियो का निर्देश करते हुए सूत्र ३-५० मे यह कहा गया है कि रजोगुण के परिणामस्वरूप शोक के विनष्ट हो जाने पर चित्त की स्थिरता की कारणभूत जो विशोका सिद्धि[3] प्रगट होती है उसके प्रगट हो जाने पर जब योगी के वैराग्य उत्पन्न होता है तब उसके समस्त रागादि दोषो की कारणभूत अविद्या (मोह या मिथ्याज्ञान) के विनष्ट हो जाने से दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप कैवल्य प्रादुर्भूत होता है। उस समय सत्त्वादि गुणो के अधिकार के समाप्त हो जाने पर पुरुष (आत्मा) स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है[4]।

तत्पश्चात् सूत्र ३-५५ मे प्रकारान्तर से फिर यह कहा गया है कि सत्त्व और पुरुष दोनों की शुद्धि के समानता को प्राप्त हो जाने पर पुरुष के कैवल्य उत्पन्न होता है—वह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। समस्त कर्तृत्वविषयक अभिमान के निवृत्त हो जाने पर सत्त्व गुण का जो अपने कारण मे प्रवेश होता है, इसका नाम सत्त्वशुद्धि तथा उपचरित भोक्तृत्व का जो अभाव हो जाता है, इसका नाम पुरुषशुद्धि है[5]।

आगे कैवल्य पाद मे दस (४, २४-३३) सूत्रो द्वारा कैवल्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि योग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के समाप्त हो जाने पर जो सत्त्वादि गुणो का प्रतिप्रसव—प्रतिपक्षभूत परिणाम के समाप्त हो जाने से विकार की अनुत्पत्ति है—उसे कैवल्य कहा जाता है, अथवा चित्शक्ति का जो स्वरूप मात्र मे अवस्थान है उसे कैवल्य समझना चाहिये[6]।

---

१ स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम्॥ तत्त्वानु. २३४

२. देखो पीछे 'कैवल्य' शब्द, पृ. ३७.

३. विशोका विगत. सुखमयसत्त्वाभ्यासवशाच्छोको रज परिणामो यस्याः सा विशोका चेतसः स्थिति-निबन्धिनी। यो. सू. भोज. वृत्ति १-३६.

४. यो. सू. (भोज वृत्ति ३-५०)

५ सत्त्व-पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। यो. सू. ३-५५। (सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः, पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभावः, इति द्वयो समानाया शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते। भोज. वृत्ति)

६. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। यो. सू ४-३३।

इस प्रकार जैसे जैन दर्शन में केवलीकी कैवल्य अवस्था को राग, द्वेष, मोह एवं अज्ञानता आदि दोषों से रहित स्वात्मस्थिति स्वरूप माना गया है वैसे ही योगदर्शन मे भी राग-द्वेषादि दोषो की बीजभूत अविद्या के विनष्ट हो जाने पर आविर्भूत होने वाली उक्त कैवल्य अवस्था को आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरूप स्वीकार किया गया है। वही पुरुष, आत्मा अथवा चेतना शक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा है। जैन दर्शन में उसे आत्यन्तिक स्वास्थ्य कहा गया है[1]।

जिस प्रकार सिद्धिविनिश्चय की टीका (७-२१) मे **'केवलस्य कर्मविकलस्य आत्मनो भावः कैवल्यम्'** इस निरुक्ति के अनुसार कैवल्य का स्वरूप प्रगट किया गया है उसी प्रकार योगसूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति मे (२-२५) 'यदेव च सयोगस्य हान तदेव नित्य **केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्य व्यपदिश्यते**' यह निर्देश करते हुए उसका स्वरूप प्रगट किया गया है।

भाष्यगत शब्दसाम्य—

जिस प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत उपर्युक्त कितने ही शब्द मूल योगसूत्र मे प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार उसके व्यास विरचित भाष्य व भोजदेव विरचित वृत्ति आदि मे भी ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते है जो जैन दर्शन मे यत्र तत्र व्यवहृत हुए है। यथा —

सर्वज्ञ- यह शब्द योगसूत्र मे इस प्रकार व्यवहृत हुआ है—तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् (१-२५)। इसके भाष्य मे सर्वज्ञ के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि त्रिकालवर्ती अतीन्द्रिय पदार्थों का जो हीनाधिक रूप मे बोध होता है, यह सर्वज्ञ का बीज (हेतु) है। यह क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर जहा निरतिशय— उस वृद्धि रूप अतिशय से रहित—होकर परम काष्ठा को प्राप्त हो जाता है—वह सर्वज्ञ कहलाता है[2]।

जैन दर्शन के अन्तर्गत समयसार (२९), पंचास्तिकाय (१५१), आप्तमीमासा (५) और आप्तपरीक्षा (१०७-९) आदि अनेक ग्रन्थो मे उस शब्द का व्यवहार हुआ है तथा उसके लक्षण का निर्देश जैसा पूर्वोक्त योगसूत्र के भाष्य मे किया गया है लगभग वैसा ही उसका लक्षण उन जैन ग्रन्थो मे भी पाया जाता है। वहा उसके समानार्थक आप्त, अर्हत्, जिन व केवली आदि अनेक शब्दो का उपयोग किया गया है।

जिस प्रकार योगसूत्र के भाष्य मे उसकी सिद्धि "अस्ति काष्ठाप्राप्ति सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात् परिमाणवत्" इस अनुमान के द्वारा की गई है—उसी प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत आप्तमीमांसा मे उसकी सिद्धि ज्ञान के अतिशय के स्थान मे अज्ञानादि दोषो की अतिशयित हानि के द्वारा की गई है। यथा—दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ॥ आ मी ४.

कुशल, चरमदेह—योगसूत्र मे अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाच क्लेशो का निर्देश करते हुए उनमे अविद्या को शेष अस्मितादि चार का क्षेत्र—उत्पत्तिस्थान—कहा गया है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार स्वरूप उन अविद्या आदि का विवेचन करते हुए उसके भाष्य (२-४) मे कहा गया है कि चित्त मे शक्ति मात्र से स्थित उक्त अविद्या आदि का, बीज रूप मे अवस्थित रहकर भी प्रबोधक के अभाव मे अपने कार्य को न कर सकना, इसका नाम प्रसुप्त है। इस प्रसंग मे भाष्य मे कहा गया है कि जिसका क्लेशरूप बीज दग्ध हो चुका है उसके अवलम्बन के सन्मुख होने पर भी उन

---

१. स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेव पुसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा.
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्व ॥ स्व. स्तो. ७-१.

२ यदिदमतीतानागत-प्रत्युत्पन्न-प्रत्येक-समुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञ-बीजमेतद् विवर्धमान यत्र निरतिशय स सर्वज्ञ; । भाष्य.

अविद्या आदि क्लेशों के अंकुरित होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए क्षीणक्लेश को कुशल[1] व चरमदेह कहा गया है (चरमदेह शब्द का उपयोग आगे सूत्र ४-७ के भाष्य में भी किया गया है)।

आगे योगसूत्र २-२७ के भाष्य में केवली पुरुष के स्वरूप को दिखलाते हुए कुशल का लक्षण इस प्रकार प्रगट किया गया है—एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमल. केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति।

उपर्युक्त कुशल शब्द आगे सूत्र २-१३, ४-१२ और ४-३३ के भाष्य में भी व्यवहृत हुआ है। ४-१२ के भाष्य में तो उसके साथ अनुष्ठान भी जुड़ा हुआ है। योगसूत्र २-१४ की भोज-वृत्ति में कुशल कर्म को पुण्य कहा गया है। प्रकृत में उसका अर्थ क्षीणमोह जैसा है।

जैन दर्शनगत आप्तमीमांसा (८) आदि ग्रन्थों में कुशल शब्द प्राय पुण्य कर्म सदाचरण—के लिये व्यवहृत हुआ है[2]। सर्वार्थसिद्धि (९ ७) आदि में निर्जरा के प्रसग मे उसे कुशलमूला निर्दिष्ट किया गया है। चरमदेह शब्द का उपयोग तत्त्वार्थसूत्र (२-५३) हरिवंशपुराण (६१-६२) और तत्त्वानुशासन (२२४) आदि में तद्भवमोक्षगामी जीव के लिये—जिसे आगे नवीन शरीर नहीं धारण करना पड़ेगा—किया गया है[3]। योगसूत्रगत चरमदेह शब्द का भी अभिप्राय वही है।

प्रक्षीणमोहावरण, क्षीणक्लेश—योगसूत्र १-२ के भाष्य में प्रक्षीणमोहावरण और सूत्र २-४ के भाष्य में क्षीणक्लेश शब्दों का उपयोग हुआ है। जैन दर्शन में इनके समानार्थक क्षीणमोह व क्षीणकषाय शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे—समयसार (३८), तत्त्वार्थसूत्र (९-४५) और दि पंचसंग्रह (१-२५) आदि। आप्तमीमांसा[4] में अरहन्त अवस्था में दोष और आवरण की हानि सिद्ध की गई है। दोष से अभिप्राय वहाँ राग, द्वेष, मोह एवं अज्ञानादि का तथा आवरण से अभिप्राय ज्ञानावरण व दर्शनावरण आदि का रहा है। योगसूत्र के भाष्य में उपर्युक्त प्रक्षीणमोहावरण का भी प्रायः वैसा ही अभिप्राय रहा है। वहाँ प्रक्षीणमोहावरण यह चित्त के विशेषणरूप से प्रयुक्त हुआ है[5]।

सम्यग्दर्शन—योगसूत्र के भाष्य में यह कहा गया है कि अनादि दुःखरूप प्रवाह से प्रेरित योगी आत्मा और भूतसमूह को देखकर समस्त दुःखों के क्षय के कारणभूत सम्यग्दर्शन की शरण में जाता है—दुःखनिवृत्ति का कारण मानकर वह उसे स्वीकार करता है। यहीं पर आगे उसे संसार के हान का —उससे मुक्ति पाने का—उपाय भी कहा गया है[6]।

---

१. तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुष. कुशलः (इसके स्थान में 'केवल' पाठ भी पाया जाता है) इत्युच्यते। यो. सू. भोज वृ २-२७।

२. योगसूत्र १-२४ के भाष्य में भी कुशल व अकुशल के भेद से कर्म को दो प्रकार निर्दिष्ट किया गया है। यथा—कुशलाकुशलानि कर्माणि।

३. चरमं संसारान्तवर्ति तद्भवमोक्षकारणं रत्नत्रयाराधकजीवसम्बन्धि शरीरं वज्रवृषभनाराचसंहनन-युक्तं यस्यासौ चरमशरीरः। गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टीका ३७४।

४. दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

५. तदेव (प्रख्यारूपमेव चित्तसत्त्वम्) प्रक्षीणमोहावरणं सर्वत. प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति। यो. सू भाष्य. १-२

६. तदेवमनादिना दुःख-स्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति। × × × हानोपाय. सम्यग्दर्शनम्। यो. सू भाष्य २-१५, आगे सूत्र ४ १५ के भाष्य में भी उक्त सम्यग्दर्शन शब्द इस प्रकार उपलब्ध होता है—सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहां तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों मे उसे हेयस्वरूप संसार की हानि का—उससे मुक्त होने का—प्रमुख कारण कहा गया है[1]। उसकी इस प्रमुखता का कारण यह है कि उसके बिना ज्ञान-चारित्र भी यथार्थता को नहीं प्राप्त होते[2]।

सम्यग्ज्ञान—यह शब्द योगसूत्र २-२८ के भाष्य मे उपलब्ध होता है। जैन दर्शन के अन्तर्गत उक्त तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो मे सम्यग्दर्शन के साथ इसे भी मोक्ष का कारण कहा गया है। योगसूत्र २-४ की भोजदेव विरचित वृत्ति मे यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञानरूप अविद्या के हट जाने पर दग्धबीज के समान हुए क्लेश अंकुरित नही होते[3]। आगे सूत्र २-१६ की उत्थानिका मे भी उक्त वृत्ति मे उसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है[4]।

केवली—योगसूत्र ३-५५ के भाष्य मे कहा गया है कि जब पुरुष के कैवल्य प्रगट हो जाता है तब वह स्वरूपमात्र-ज्योति निर्मल केवली हो जाता है। कैवल्य के स्वरूप को दिखलाते हुए वहां यह निर्देश किया गया है कि ज्ञान से अदर्शन हट जाता है, अदर्शन के हट जाने से अस्मिता आदि आगे के क्लेश नही रहते, तथा उन क्लेशो के विनष्ट हो जाने से कर्मविपाक का अभाव हो जाता है। इस प्रकार इस अवस्था मे सत्त्वादि गुणो का अधिकार समाप्त हो जाने से वे दृश्यत्वेन उपस्थित नही रहते। यही पुरुष का कैवल्य है[5]।

मूलाचार (७-५७), आवश्यक निर्युक्ति (८९ व १०७९), सर्वार्थसिद्धि (६-१३) और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (का ६, पृ ३१९) आदि अनेक जैन ग्रन्थो मे उक्त केवल शब्द व्यवहार हुआ है। अज्ञान, अदर्शन, राग, द्वेष एव मोह आदि के हट जाने से पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) होकर स्वरूप मे स्थित होना, यह जो केवली का स्वरूप है वह प्रायः दोनो दर्शनो मे समान है।

जैन दर्शन, भगवद्गीता और योगदर्शन आदि मे प्रतिपादित ध्यान अथवा योग के विषय मे परस्पर कितनी समानता है, इसके विषय मे यहां कुछ तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। यद्यपि यह कुछ अप्रासंगिक सा दिखता है, फिर भी जो पाठक अन्य सम्प्रदाय के ध्यानविषयक ग्रन्थो से परिचित नही हे वे कुछ उससे परिचित हो सके, इस विचार से यह प्रयत्न किया गया है। जैन दर्शन के समान अन्य दर्शनो मे भी योगविषयक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध है। उसमे योगवाशिष्ठ आदि कुछ ग्रन्थ प्रमुख है।

अब आगे हम प्रस्तुत ध्यानशतक पर पूर्ववर्ती कौन से जैन ग्रन्थो का कितना प्रभाव रहा है, इसका कुछ विचार करेंगे—

ध्यानशतक और मूलाचार

आचार्य वट्टकेर (सम्भवतः प्र.-द्वि. शती) विरचित मूलाचार यह एक मुनि के आचारविषयक

---

१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। त. सू. १-१.

२. विद्या-वृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ रत्नक. ३२.

३. तस्या च मिथ्यारूपायामविद्याया सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पाना येषा न क्वचित् प्ररोहोऽस्ति। यो. सू. भोज. वृत्ति २-४.

४ तदेवमुक्तस्य क्लेश-कर्म-विपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात्तदभिधानायाह—

५. परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन् निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा: न पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत् पुरुषस्य कैवल्यम्। तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति। भा. ३-५५.

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह बारह अधिकारों में विभक्त है। उसके पचाचार नामक पांचवें अधिकार मे तप आचार की प्ररूपणा करते हुए अभ्यन्तर तप के जो छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमे पाँचवा ध्यान है। इस ध्यान की वहाँ सक्षेप मे (गा. १९७-२०८) प्ररूपणा की गई है। वहाँ सर्वप्रथम ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदो का निर्देश करते हुए उनमे आर्त और रौद्र इन दो को अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल इन दो को प्रशस्त कहा गया है (१९७)। आगे उन चार ध्यानों के स्वरूप को यथाक्रम से प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ (अनिष्ट) के सयोग, इष्ट के वियोग, परीषह (क्षुधादि की वेदना) और निदान के विषय मे जो कषाय सहित ध्यान (चिन्तन) होता है उसे आर्तध्यान कहते है (१९८)। चोरी, असत्य, सरक्षण—विषयभोगादि के साधनभूत धनादि के सरक्षण—और छह प्रकार के आरम्भ के विषय मे जो कषायपूर्ण चिन्तन होता है उसे रौद्रध्यान कहा जाता है (१९९)। उपर्युक्त आर्त और रौद्र ये दोनो ध्यान चूंकि सुगति—देवगति व मुक्ति की प्राप्ति मे बाधक हैं, अतएव यहां उन्हे छोड़कर व धर्म और शुक्ल ध्यान मे उद्यत होकर मन की एकाग्रतापूर्वक उनके चिन्तन की प्रेरणा की गई है (२००-२०१)।

आगे क्रमप्राप्त धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय इन चार भेदो का निर्देश करते हुए पृथक् पृथक् उनके स्वरूप को भी प्रगट किया गया है। अन्तिम सस्थानविचय के प्रसग मे यह भी कहा गया है कि धर्मध्यानी यहा अनुगत अनुप्रेक्षाओ का भी विचार करता है। तदनन्तर उन बारह अनुप्रेक्षाओ के नामो का निर्देश भी किया गया है (२०१-२०६)।

तत्पश्चात् शुक्लध्यान के प्रसग मे यहा इतना मात्र कहा गया है कि उपशान्तकषाय पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान का, क्षीणकषाय एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान का, सयोगी केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यान का और अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिय शुक्लध्यान का चिन्तन करता है (२०७-२०८)।

मूलाचार मे जहा प्रसगप्राप्त इस ध्यान की सक्षेप में प्ररूपणा की गई है वहा ध्यानविषयक एक स्वतत्र ग्रन्थ होने से ध्यानशतक मे उसकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है। दोनो मे जो कुछ समानता व असमानता है वह इस प्रकार है—

मूलाचार मे सामान्य से चार ध्यानो के नामो का निर्देश करते हुए आर्त व रौद्र को अप्रशस्त और धर्म व शुक्ल को प्रशस्त कहा गया है (५-१९७)। इसी प्रकार ध्यानशतक मे भी उक्त चार ध्यानो के नाम का निर्देश करते हुए उनमे अन्तिम दो ध्यानो को मुक्ति के साधनभूत तथा आर्त व रौद्र इन दो को ससार का कारणभूत कहा गया हे (५)। यही उनकी अप्रशस्तता और प्रशस्तता है।

मूलाचार मे आर्तध्यान के चार भेदो का नामनिर्देश न करके सामान्य से उसका स्वरूप मात्र प्रगट किया गया है। उस स्वरूप को प्रगट करते हुए अमनोज्ञ के योग, इष्ट के वियोग, परीषह और निदान इस प्रकार से उसके चिन्तनीय विषय के भेद का जो दिग्दर्शन कराया गया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं (५-१९८)। तत्त्वार्थसूत्र (९-३२) मे जहा उसके तृतीय भेद को वेदना के नाम से निर्दिष्ट किया गया है वहा प्रकृत मूलाचार मे उसका निर्देश परीषह के नाम से किया गया है।

ध्यानशतक मे भी उसके चार भेदो का नामनिर्देश नहीं किया गया, फिर भी उसके चार भेदों का स्वरूप जो पृथक् पृथक् चार गाथाओ (६-९) के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है उससे उसके चार भेद प्रकट है (१९-२२)। यहा उनका कुछ क्रमव्यत्यय अवश्य है। जैसे प्रथम भेद मे अमनोज्ञ के वियोग, द्वितीय भेद मे शूल रोगादि की वेदना के वियोग, तृतीय भेद मे अभीष्ट विषयो की वेदना (अनुभवन) के अवियोग और चतुर्थ भेद मे निदान के विषय मे चिन्तन। इस प्रकार मूलाचार मे जो द्वितीय है वह ध्यानशतक में तृतीय है तथा मूलाचार मे जो तृतीय है वह ध्यानशतक मे द्वितीय है। इसके अतिरिक्त दोनों में वियोग और अवियोग विषयक भी कुछ विशेषता रही है। जैसे—मूलाचार मे अमनोज्ञ का योग (सयोग) होने पर जो उसके विषय में सक्लेशरूप परिणति होती है उसे प्रथम आर्तध्यान कहा गया है।

पर ध्यानशतक में अमनोज्ञ विषयों के वियोग के लिए तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में पुनः उनका संयोग न होने के विषय में जो चिन्तन होता है उसे प्रथम आर्तध्यान कहा गया है। यह केवल उक्तिभेद है, अभिप्राय में कुछ भेद नहीं है।

मूलाचार मे आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी स्वरूप का सामान्य से निर्देश किया गया है, उसके भेदो का नामनिर्देश नहीं किया गया (५-१९९)। फिर भी विषयक्रम के निर्देश से उसके चार भेद स्पष्ट दिखते हैं। यहां चतुर्थ भेद का विषय जो छह प्रकार का आरम्भ निर्दिष्ट किया गया है उसे हिंसा का ही द्योतक समझना चाहिए।

ध्यानशतक में भी यद्यपि रौद्रध्यान के उन चार भेदो का नामनिर्देश तो नही किया, फिर भी आगे वहां चार (१९-२२) गाथाओ द्वारा उनके लक्षणो का जो पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते है। आगे (२३) उनकी चार संख्या का भी निर्देश कर दिया गया है।

मूलाचार मे धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार भेदो का स्पष्टतया नामनिर्देश करते हुए उनके पृथक् पृथक् लक्षण भी कहे गये है (२०१-५)।

ध्यानशतक मे उसके उन चार भेदो का नामर्दिश तो नही किया गया, किन्तु उसके प्ररूपक भावना आदि बारह द्वारो के अन्तर्गत ध्यातव्य द्वार की प्ररूपणा (४५-६२) मे जो आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण व सस्थान आदि के स्पष्टीकरणपूर्वक उनके चिन्तन की प्रेरणा की गई है उससे उसके वे नाम स्पष्ट हो जाते है[1]।

विशेष इतना है कि मूलाचार मे उसके द्वितीय भेद के लक्षण में जहा कल्याणप्रापक उपायो, जीवो के अपायो और उनके सुख-दुख को चिन्तनीय कहा गया है (५ २०३) वहा ध्यानशतक मे राग-द्वेषादि मे वर्तमान जीवो के उभय लोको से सम्बद्ध अपायो को चिन्तनीय निर्दिष्ट किया गया है (५०)। इसके अतिरिक्त मूलाचार मे धर्मध्यान के चतुर्थ भेद के लक्षण को प्रगट करते हुए उसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक के आकारादि के चिन्तन के साथ अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन की भी आवश्यकता प्रगट की गई है तथा आगे उन अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं के नामो का निर्देश भी कर दिया गया है (५, २०५-६)। परन्तु ध्यानशतक मे व्यापक रूप मे उसका व्याख्यान करते हुए यह कहा गया है कि धर्मध्यानी को उसमे द्रव्यो के लक्षण, सस्थान, आसन, विधान, मान (प्रमाण) और उनकी उत्पादादि पर्यायो के साथ ऊर्ध्वादि भेदो मे विभक्त लोक के स्वरूप का भी चिन्तन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यहां यह भी कहा गया है कि जीव के स्वरूप, उसके ससार परिभ्रमण के कारण, और उससे उद्धार होने के उपाय का भी विचार करना आवश्यक है (५२-६२)। यहां अनुप्रेक्षा द्वार एक पृथक् ही है जहा यह कहा गया है कि ध्यान के विनष्ट होने पर मुनि अनित्यादि भावनाओ के चिन्तन मे उद्यत होता है (६५)। यहा उन अनित्यादि भावनाओ की सख्या और नामो का कोई निर्देश नही किया गया[2]।

मूलाचार मे शुक्लध्यान के प्रसंग मे इतना मात्र कहा गया है कि उपशान्तकषाय पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान का, क्षीणकषाय एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान का, सयोगी केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिय ध्यान का और अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिय ध्यान का चिन्तन करता है (२०७-८)। परन्तु ध्यान-शतक मे उसके आलम्बन व क्रम (योगनिरोधक्रम) आदि की चर्चा करते हुए ध्यातव्य के प्रसग मे पृथक्त्व-वितर्क-सविचार आदि चार प्रकार के शुक्लध्यान के पृथक् पृथक् लक्षणो का भी निर्देश किया गया है

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में (९-३६) भी उसके इन चार भेदों की सूचना विषयभेद के अनुसार ही की गई है।

२. टीकाकार हरिभद्र सूरि ने उसके स्पष्टीकरण मे अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार इन चार भावनाओं का निर्देश किया है (इसका आधार स्थानांग का ध्यान प्रकरण रहा है—सूत्र २४७, पृ. १८८)। इसी प्रसंग में आगे हरिभद्र सूरि ने प्रशमरतिप्रकरण से बारह भावनाओं के प्ररूपक पद्यों को भी उद्धृत किया है।

(७७-८२)। उनके स्वामियों का निर्देश धर्मध्यान के प्रसग (६४) मे किया गया है।

मूलाचार मे शुक्लध्यान को छोडकर अन्य आर्त आदि किसी भी ध्यान के स्वामियों का निर्देश नही किया गया, जब कि ध्यानशतक मे पृथक् पृथक् उन चारों ही ध्यानों के स्वामियों का निर्देश यथास्थान किया गया है (१८, २३, ६३, व ६४)।

इन दोनो ग्रन्थो में ध्यान के वर्णन मे जहा कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है वहा कुछ उसमे विशेषता भी उपलब्ध होती है। इसको देखते हुए भी एक ग्रन्थ का दूसरे की रचना मे कुछ प्रभाव रहा है, ऐसा प्रतीत नही होता।

ध्यानशतक व भगवती-आराधना

भगवती-आराधना आचार्य शिवार्य (सम्भवत २ ३री शती) के द्वारा रची गई है। आराधक को लक्ष्य करके उसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओ की प्ररूपणा की गई है। उनमे भी समाधिमरण के प्रमुख होने के कारण क्षपक के आश्रय से मरण के १७ भेदो मे पण्डित-पण्डितमरण, पण्डित-मरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण इन पाच मरण-भेदो का कथन किया गया है। वहा भक्तप्रत्याख्यान के भेदभूत सविचार भक्तप्रत्याख्यान के प्रसग मे यह कहा गया है कि जो संसार परिभ्रमण के दु खो से डरता है वह सक्लेश के विनाशक चार प्रकार के धर्म और चार प्रकार के शुक्लध्यान का ही चिन्तन किया करता है। वह परीषहो से सन्तप्त होकर भी कभी आर्त और रौद्र इन दुर्ध्यानो का चिन्तन नही करता (१६६९-७०)। इसी प्रसग मे वहा दो गाथाओ द्वारा क्रम से चार प्रकार के आर्त और चार प्रकार के रौद्रध्यान की सक्षेप मे सूचना की गई है और तत्पश्चात् यह कहा गया है कि इन दोनो को उत्तम गति का प्रतिबन्धक जानकर क्षपक उनसे दूर रहता हुआ निरन्तर धर्म और शुक्ल इन दोनो ध्यानो मे अपनी बुद्धि को लगाता है (१७०२-४)।

पश्चात् शुभ ध्यान मे प्रवृत्त रहने की उपयोगिता को प्रगट करते हुए संक्षेप मे ध्यान के परिकर की सूचना की गई है। तदनन्तर धर्मध्यान के लक्षण व आलम्बन का निर्देश करते हुए उसके आज्ञाविचयादि चारो भेदों का पृथक् पृथक् लक्षण कहा गया है (१७०५-१४)।

धर्मध्यान के चतुर्थ भेदभूत सस्थानविचय के स्वरूप को दिखलाते हुए यहां भी मूलाचार के समान इस संस्थानविचय मे अनुगत अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन की आवश्यकता प्रगट की गई है। प्रसगवश यहां उन अध्रुवादि बारह अनुप्रेक्षाओ का नामनिर्देश करके उनमें किस प्रकार क्या चिन्तन करना चाहिए, इसकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है (१७१४-१८७३)।

आगे यह कहा गया है कि उक्त बारह अनुप्रेक्षायें धर्मध्यान की आलम्बनभूत हैं। ध्यान के आलम्बनों के आश्रय से मुनि उस ध्यान से च्युत नहीं होता। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा ये उक्त धर्मध्यान के आलम्बन हैं। लोक धर्मध्यान के आलम्बनो से भरा हुआ है, ध्यान का इच्छुक क्षपक मन से जिस ओर देखता है वही उस धर्मध्यान का आलम्बन हो जाता है (१८७४-७६)।

इस प्रकार से क्षपक जब धर्मध्यान का अतिक्रमण कर देता है तब वह अतिशय विशुद्ध लेश्या से युक्त होकर शुक्लध्यान को ध्याता है। आगे उस शुक्लध्यान के चार भेदो का निर्देश करके उनका पृथक् पृथक् स्वरूप भी प्रगट किया गया है (१८७७-८९)।

आगे कहा गया है कि इस प्रकार से क्षपक जब एकाग्रचित्त होता हुआ ध्यान का आश्रय लेता है तब वह गुणश्रेणि पर आरूढ होकर बहुत अधिक कर्म की निर्जरा करता है। अन्त में ध्यान के माहात्म्य को दिखलाते हुए इस प्रकरण को समाप्त किया गया है।

भगवती-आराधना में आर्जव, लघुता (नि:सगता), मार्दव और उपदेश इनको धर्म्यध्यान का लक्षण—परिचायक लिंग—कहा गया है। ये धर्म्यध्यानी के स्वभावतः हुआ करते हैं। अथवा उसकी

सूत्र में--आगमविषयक उपदेश मे—स्वभावत: रुचि हुआ करती है[1]।

प्रस्तुत ध्यानशतक (६७) मे भी धर्मध्यान के परिचायक लिंग का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग (स्वभाव) से जो धर्मध्यानी के जिनोपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान हुआ करता है, वह धर्मध्यान का लिंग (हेतु) है।

दोनो ग्रन्थगत उन गाथाओ मे शब्द व अर्थ से यद्यपि बहुत कुछ समानता दिखती है, फिर भी ध्यानशतक मे उक्त अभिप्राय भगवती-आराधना से न लेकर सम्भवत: स्थानांग से लिया गया है। उसके साथ समानता भी अधिक है[2]।

इसी प्रकार भगवती-आराधना मे धर्मध्यान के जिन आलम्बनों का निर्देश किया गया है[3] उनका उल्लेख यद्यपि ध्यानशतक (४२) मे किया गया है, फिर भी वहा उनका उल्लेख भगवती-आराधना के आश्रय से न करके उक्त स्थानाग से ही किया गया दिखता है[4]।

भगवती-आराधनागत इस ध्यान प्रकरण की समानता पूर्वोक्त मूलाचार के उस प्रकरण के साथ अवश्य कुछ रही है। दोनो ग्रन्थो मे विषयविवेचन की पद्धति ही समान नही दिखती, बल्कि कुछ गाथायें भी दोनो ग्रन्थो मे समान रूप से उपलब्ध होती है। यथा—मूला. ५, १९८-२०० व भ. आ. १७०२-४. तथा मूला. २०२-६ व भ. आ. १७११-१५.

ध्यानशतक और तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य उमास्वाति (वि. द्वि.-तृ. शती) विरचित तत्त्वार्थसूत्र १० अध्यायो मे विभक्त है। उसमे मुक्ति के प्रयोजनीभूत जीवादि सात तत्त्वो की संक्षेप मे प्ररूपणा की गई है। उसके नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा के कारणभूत तप का वर्णन करते हुए अभ्यन्तर तप के छठे भेदभूत ध्यान का संक्षेप मे व्याख्यान किया गया है--उसका प्रभाव ध्यानशतक पर विशेषरूप मे रहा दिखता है। यथा—

१ तत्त्वार्थसूत्र मे सर्वप्रथम ध्यान के स्वरूप, उसके स्वामी और काल का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि एकाग्रचिन्तानिरोध का नाम ध्यान है। वह उत्तम संहनन वाले जीव के अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है[5]।

ध्यानशतक मे उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए जो यह कहा गया है कि स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते है, उसका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र जैसा ही है। कारण यह कि स्थिर का अर्थ निश्चल और अध्यवसान का अर्थ एकाग्रता का आलम्बन लेने वाला मन है। तदनुसार इसका भी यही अभिप्राय हुआ कि मन की स्थिरता या एक वस्तु मे चिन्ता के निरोध को ध्यान कहते है। आगे उसे स्पष्ट करते हुए यही कहा गया है कि एक वस्तु मे जो चित्त का अवस्थान—चिन्ता का निरोध है—उसे ध्यान कहा जाता है और वह अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। तत्त्वार्थसूत्र मे जहा उसके स्वामी का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह उत्तम संहनन वाले के होता है वहा ध्यानशतक मे उसे और अधिक स्पष्ट करते

---

१ धम्मस्स लक्खण से अज्जव-लहुगत्त मद्दवोवसमा।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ भ आ १७०९

२ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुती। स्थानांग २४७, पृ. १८८.

३. आलबण च वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाओ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ भ. आ. १७१० व १८७५.

४. धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि आलबणा प० तं०—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। स्थानाग २४७, पृ १८८.

५. त. सू ९-२७.

हुए यह कहा गया है कि इस प्रकार का वह ध्यान छद्मस्थों के—केवली से भिन्न अल्पज्ञ जीवों के—ही होता है। केवलियों का वह ध्यान स्थिर अध्यवसानरूप न होकर योगों के निरोधस्वरूप है। इसका कारण यह है कि उनके मन का अभाव हो जाने से चिन्तानिरोधरूप ध्यान सम्भव नही है[1]। अब रह जाती है संहनन के निर्देश की बात, सो उसका निर्देश ध्यानशतक मे आगे जाकर शुक्लध्यान के प्रसंग मे किया गया है[2]।

२ तत्त्वार्थसूत्र मे जो अन्तिम दो ध्यानो को—धर्म और शुक्ल ध्यान को—मोक्ष का कारण निर्दिष्ट किया गया है उससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि पूर्व के दो ध्यान—आर्त और रौद्र—मोक्ष के कारण नही हैं, किन्तु ससार के कारण है[3]।

यह सूचना ध्यानशतक मे स्पष्टतया शब्दों द्वारा ही कर दी गई है[4]।

३ तत्त्वार्थसूत्र में जहा अमनोज्ञ पदार्थ का सयोग होने पर उसके वियोग के लिए होने वाले चिन्ताप्रबन्ध को प्रथम आर्तध्यान कहा गया है वहा ध्यानशतक मे उसे कुछ और भी विकसित करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ शब्दादि विषयो और उनकी आधारभूत वस्तुओ के वियोगविषयक तथा भविष्य में उनका पुनः सयोग न होने विषयक भी जो चिन्ता होती है, यह प्रथम आर्तध्यान का लक्षण है[5]। इसी प्रकार से यहा शेष तीन आर्तध्यानो के भी लक्षणो को विकसित किया गया है[6]।

४ तत्त्वार्थसूत्र मे सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार मनोज्ञ पदार्थो का वियोग होने पर उनके सयोगविषयक चिन्तन को दूसरा और वेदनाविषयक चिन्तन को तीसरा आर्तध्यान सूचित किया गया है[7]। इसके विपरीत ध्यानशतक मे शूलरोगादि वेदनाविषयक आर्तध्यान को दूसरा और इष्ट विषयादिको की वेदना (अनुभवन) विषयक चिन्तन को तीसरा आर्तध्यान कहा गया है[8]। यह कथन तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उसके विपरीत नही है[9]।

५ अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन गुणस्थानो मे उक्त आर्तध्यान की सम्भावना जैसे तत्त्वार्थसूत्र मे प्रगट की गई है वैसे ही वह ध्यानशतक मे भी इन्ही गुणस्थानो मे प्रगट की गई है[10]।

६ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा ध्यानशतक मे प्रकृत आर्तध्यान से सम्बन्धित कुछ अन्य बातो की भी चर्चा की गई है। जैसे—वह किस प्रकार के जीव के होता है, कौनसी गति का कारण है, वह ससार का बीज क्यो है, आर्तध्यानी के लेश्यायें कौनसी होती हैं, तथा उसकी पहिचान किन हेतुओ के द्वारा हो सकती है; इत्यादि[11]।

७ तत्त्वार्थसूत्र मे जहां एक ही सूत्र के द्वारा रौद्रध्यान के भेदो व स्वामियो का निर्देश करते हुए उसके प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है[12] वहां ध्यानशतक मे तत्त्वार्थसूत्रोक्त उन चार भेदो के स्वरूप

---

१. ध्या. श. २-३.

२. ध्या. श. ६४.

३. त. सू. ९-२९ (परे मोक्षहेतू इति वचनात् पूर्वे आर्त-रौद्रे ससारहेतू इत्युक्तं भवति—स. सि. ९-२९.)

४. ध्या. श ५.

५. त सू. ९-३० ; ध्या. श. ६

६. त. सू ९, ३१-३३ ; ध्या. श. ७-९.

७. विपरीतं मनोज्ञस्य। वेदनायाश्च। त. सू ९, ३१-३२.

८. ध्या. श. ७-८.

९. वेदनायाश्च। विपरीत मनोज्ञानाम्। त. सू. ९, ३२-३३.

१०. त. सू. ९-३४.; ध्या. श. १८.

११. ध्या. श. १०-१७.

१२. त. सू. ९-३५.

को स्पष्ट करते हुए उसके स्वामियों का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त वहां आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी फल व लेश्या आदि की चर्चा की गई है[1]।

८ तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र द्वारा धर्मध्यान के चार भेदों का निर्देश मात्र करके उसके प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है[2]। पर ध्यानशतक मे उसकी प्ररूपणा भावना, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल इन बारह अधिकारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गई है[3]। तत्त्वार्थसूत्रोक्त उसके चार भेदों की सूचना यहां ध्यातव्य अधिकार में करके उनके पृथक् पृथक् स्वरूप को भी प्रगट किया गया है[4]।

९ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तत्त्वार्थसूत्र मे सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार धर्मध्यान के चार भेदो का निर्देश मात्र किया गया है, उसके स्वामियों का निर्देश वहा नहीं किया गया[5]। पर उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि मे उसके स्वामियो का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत इनके होता है[6]। उक्त तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यभूत तत्त्वार्थवार्तिक मे पृथक् से उसके स्वामियो का उल्लेख तो नही किया गया, किन्तु इस सम्बन्ध मे जो वहा शका-समाधान है उससे सिद्ध है कि वह, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि मे निर्देश किया गया है तदनुसार, असंयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसंयत जीवो के होता है[7]।

पर उक्त तत्त्वार्थसूत्र मे ही तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उस धर्मध्यान के भी स्वामियो का उल्लेख किया गया है। वहा यह कहा गया है कि वह चार प्रकार का धर्मध्यान अप्रमत्तसयत के साथ उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के भी होता है[8]। जैसा कि यहा उसके स्वामियो का निर्देश किया गया है, तदनुसार ही ध्यानशतक (६३) मे भी यह कहा गया है कि धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादो से रहित मुनि जन, उपशान्तमोह और क्षीणमोह निर्दिष्ट किए गए है[9]। इसकी टीका मे हरिभद्र सूरि ने उपशान्तमोह का अर्थ उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षीणमोह का अर्थ क्षपक निर्ग्रन्थ प्रगट किया है।

१० तत्त्वार्थसूत्र मे शुक्लध्यान की प्ररूपणा करते हुए उसके चार भेदो में प्रथम दो का सद्भाव श्रुतकेवली के और अन्तिम दो का सद्भाव केवली के बतलाया गया है। पश्चात् योग के आश्रय से उनके स्वामित्व को दिखलाते हुये यह कहा गया है कि प्रथम शुक्लध्यान तीन योग वाले के, दूसरा तीनों योगो मे से किसी एक ही योगवाले के, तीसरा काययोगी के और चौथा योग से रहित हुए अयोगी के होता है। आगे यह सूचित किया गया है कि श्रुतकेवली के जो पूर्व के दो शुक्लध्यान होते हैं उनमे प्रथम वितर्क व वीचार से सहित और द्वितीय वितर्क से सहित होता हुआ वीचार से रहित है। आगे प्रसगप्राप्त वितर्क और वीचार का लक्षण भी प्रगट किया गया है।

---

१. ध्या. श. १९-२७.

२. त. सू. ९-३६.

३. ध्या श २८-६८.

४. आज्ञाविचय ४५-४९, अपायविचय ५०, विपाकविचय ५१, सस्थानविचय ५२-६२.

५. आज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्म्यम्। त. सू ९-३६. (यहा मूल सूत्रो मे आर्तध्यान (९-३४), रौद्रध्यान (९-३५) और शुक्लध्यान (९, ३७-३८) के स्वामियो का निर्देश करके भी धर्मध्यान के स्वामियों का उल्लेख क्यो नहीं किया गया, यह विचारणीय है।)

६. तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसयतानां भवति। स सि. ९-३६.

७. त. वा ९, ३६, १४-१६. (देखो पीछे पृ. १३)

८ आज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-कषाययोश्च। त. सू. ९, ३७-३८.

९. गाथा ६३ मे उपयुक्त 'निद्दिट्ठा' पद से यह प्रगट है कि ग्रन्थकार के समक्ष उक्त प्रकार धर्मध्यान के स्वामियो का प्ररूपक तत्त्वार्थसूत्र जैसा कोई ग्रन्थ रहा है।

यह सभी शुक्लध्यानविषयक विवेचन ध्यानशतक मे यथास्थान किया गया है। उससे सम्बन्धित तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र और ध्यानशतक की गाथायें इस प्रकार है—

त. सू.—९, ३७-३८; ९-४०; ९, ४१-४४.

ध्या. श.—६४; ८३; ७७-८०.

ध्यानशतक और स्थानांग

आचारादि बारह अगों में स्थानांग तीसरा है। वर्तमान में वह जिस रूप मे उपलब्ध है उसका सकलन वलभी वाचना के समय देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान मे वीरनिर्वाण के बाद ९८० वर्ष के आस पास हुआ है। उसमे दस अध्ययन या प्रकरण है, जिनमे यथाक्रम से १, २, ३ आदि १० पर्यन्त पदार्थों व क्रियाओं का निरूपण किया गया है। उदाहरण स्वरूप प्रथम स्थानक मे एक आत्मा है, एक दण्ड है, एक क्रिया है, एक लोक है; इत्यादि[१]। इसी प्रकार द्वितीय स्थानक मे लोक मे जो भी वस्तु विद्यमान है वह दो पदावतार युक्त है। जैसे —जीव-अजीव, त्रस-स्थावर, इत्यादि[२]। इसी क्रम से अन्तिम दसम स्थान में १०-१० पदार्थों का सकलन किया गया है।

प्रकृत मे चौथे अध्ययन या स्थानक में ४-४ पदार्थों का निरूपण किया गया है। वहा चार प्रकार का ध्यान भी प्रसगप्राप्त हुआ है। उसका निरूपण करते हुए वहां सामान्य से ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् उनमे से प्रत्येक के भी चार-चार भेदो का निर्देश करते हुए यथासम्भव उनके चार-चार लक्षणो, चार चार आलम्बनो और चार चार अनुप्रेक्षाओं का भी निर्देश किया गया है।

स्थानाग प्ररूपित यह सब विषय प्रकारान्तर से ध्यानशतक मे आत्मसात् कर लिया गया है। साथ ही उसे स्पष्ट करते हुए यहां कुछ अधिक विस्तृत भी किया गया है। यथा—

१ आर्तध्यान—

स्थानांग मे चार प्रकार के आर्तध्यान मे से प्रथम आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ विषयो के सम्बन्ध से सम्बद्ध हुआ प्राणी जो उनके वियोगविषयक चिन्ता को प्राप्त होता है, इसे आर्तध्यान (प्रथम) कहा जाता है[३]।

इसे कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए ध्यानशतक मे यह कहा गया है कि द्वेष के वश मलिनता को प्राप्त हुए प्राणी के जब अमनोज्ञ इन्द्रियविषयो और उनकी आधारभूत वस्तुओ का सयोग होता है तब वह उनके वियोग के लिए जो अधिक चिन्तातुर होता है कि किस प्रकार से ये मुझसे पृथक् होंगे इसे, तथा उनका वियोग हो जाने पर भी भविष्य मे उनका पुन सयोग न होने के लिए भी जो चिन्ता होती है उसे, प्रथम आर्तध्यान कहते हैं[४]।

इसी प्रकार से स्थानाग मे निर्दिष्ट द्वितीय और तृतीय आर्तध्यान के लक्षणो को भी यहा अधिक स्पष्ट किया गया है[५]। विशेष इतना है कि स्थानाग मे जिसे दूसरा आर्तध्यान कहा गया है वह ध्यानशतक मे तीसरा है तथा जिसे स्थानाग में तीसरा आर्तध्यान कहा गया है वह ध्यानशतक मे दूसरा है।

---

१. एगे आया। एगे दडे। एगा किरिया। एगे लोए। स्थानक १, सूत्र १-४.

२. जदत्थि ण लोगे त सव्वं दुपओवआर, त जहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव। तसे चेव थावरे चेव। स्थानक २, सूत्र ८०.

३. अमणुन्नसपओगसपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति। स्थाना. ४-२४७, पृ. १८७.

४. ध्या. श. ६

५. मणुन्नसंपओगसपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति २, आयकसपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति ३। स्थाना. पृ. १८७-८८, ध्या. श. ८ व ७.

स्थानांग में परिजुषित (अनुभूत) कामभोगों से संयुक्त होने पर प्राणी को जो उनके अवियोग-विषयक चिन्ता होती है उसे चतुर्थ आर्तध्यान कहा गया है[1]। परन्तु ध्यानशतक में इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की गुण-ऋद्धियों की प्रार्थनारूप निदान को चौथा आर्तध्यान कहा गया है[2]।

इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि स्थानांगगत उक्त चतुर्थ आर्तध्यान का लक्षण द्वितीय आर्तध्यान से भिन्न नहीं दिखता। स्थानाग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी टीका मे इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि द्वितीय आर्तध्यान अभीष्ट धनादि से जहां सम्बद्ध है वहा चतुर्थ आर्तध्यान उस धनादि से प्राप्त होने वाले शब्दादि भोगो से सम्बद्ध है, इस प्रकार उन दोनो मे यह भेद समझना चाहिए। शास्त्रान्तर मे द्वितीय और चतुर्थ के एक होने से—उनमे भेद न रहने से—उन्हें तीसरा आर्तध्यान माना गया है तथा चतुर्थ आर्तध्यान निदान को स्वीकार किया गया है[3]। यह कहते हुए उन्होंने आगे ध्यान-शतक की आर्तध्यान से सम्बद्ध चारो गाथाओ को (६-९) को भी उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार शास्त्रान्तर—से उनका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र[4] और ध्यानशतक का ही रहा दिखता है।

स्थानाग मे जो प्रकृत आर्तध्यान के चार लक्षण (लिंग) निर्दिष्ट किये गये हैं[5] उनमे क्रन्दनता, शोचनता और परिदेवनता इन तीन को ध्यानशतक मे प्राय: उसी रूप मे ले लिया गया है, किन्तु 'तेपनता' के स्थान मे वहा ताडन आदि को ग्रहण किया गया है[6]। अभयदेव सूरि ने 'तिपि' धातु को क्षरणार्थक मानकर तेपनता का अर्थ अश्रुविमोचन किया है[7]।

रौद्रध्यान—

स्थानाग मे रौद्रध्यान का निरूपण करते हुए उसके चार भेद गिनाये गये है—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसरक्षणानुबन्धी[8]। ध्यानशतक मे उनका इस प्रकार से नामोल्लेख तो नही किया गया, किन्तु वहा जो उनका स्वरूप कहा गया है उससे इन नामो का बोध हो जाता है[9]।

स्थानाग मे रौद्रध्यान के ये चार लक्षण निर्दिष्ट किये गये है—ओसन्नदोष, बहुदोष, अज्ञानदोष, और आमरणान्तदोष[10]। ध्यानशतक मे वे इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—उस्सण्ण (उत्सन्न) दोष, बहुल-दोष, नानाविधदोष और आमरणदोष[11]। इनमे ओसण्ण और उस्सण्ण, बहु और बहुल तथा आमरणान्त और आमरण इनमे अर्थत कोई भेद नही है। केवल अण्णाण और णाणाविह (नानाविध) मे कुछ भेद

१. परिजुसितकामभोगसपओगसपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवइ ४। स्थाना पृ. १८८.

२. ध्या. श. ९.

३: द्वितीय वल्लभधनादिविषयम्, चतुर्थं तत्सपाद्यशब्दादिभोगविषयमिति भेदोऽनयोर्भावनीय:। शास्त्रान्तरे तु द्वितीय-चतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तु तत्र निदानमुक्तम्। उक्त च—(ध्या. श. ६-९)। स्थाना. टीका २४७, पृ. १८९.

४. निदान च। त. सू ९-३३.

५. अट्टस्स ण झाणस्स चत्तारि लक्खणा प० (पण्णत्ता) त० (त जहा)—कदणता सोचणता तिप्पणता परिदेवणता। स्थाना. पृ. १८९.

६. ध्या. श. १५.

७. तेपनता—तिपे. क्षरणार्थत्वादश्रुविमोचनम्। स्थाना. टीका.

८. रोद्दे झाणे चउव्विहे प० त०—हिंसाणुबन्धि मोसाणुबधि तेणाणुबधि सारक्खणाणुबधि। स्थाना. पृ. १८८.

९. ध्यानशतक १९-२२.

१०. रुद्दस्स ण झाणस्स चत्तारि लक्खणा प० तं०—ओसण्णदोसे बहुदोसे अन्नाणदोसे आमरणदोसे। स्थाना. पृ. १८८.

११. ध्या. श. २६.

ही गया दिखता है। फिर भी दोनों ग्रन्थो के टीकाकार क्रम से अभयदेव सूरि और हरिभद्र सूरि ने उनका जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह प्रायः समान ही है[1]।

३ धर्मध्यान—

स्थानांग मे धर्मध्यान के ये चार भेद निर्दिष्ट किए गए हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय[2]। ध्यानशतक मे उसके इन नामो का निर्देश नही किया गया है। किन्तु वहां उसके भावनादि बारह अधिकारों मे से ध्यातव्य अधिकार के प्रसंग में आज्ञा एव अपाय आदि का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है उससे उसके वे चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं[3]।

स्थानाग मे धर्मध्यान के ये चार लक्षण कहे गए हैं—आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढरुचि[4]। ध्यानशतक मे प्रकारान्तर से उनका निर्देश इस प्रकार किया गया है—आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से जिनप्ररूपित तत्त्वो का श्रद्धान[5]। इनमे श्रद्धान शब्द 'रुचि' का समानार्थक है। आज्ञा और निसर्ग ये दोनो ग्रन्थो मे शब्दश समान ही है। सूत्र के पर्यायवाची आगम शब्द का यहा उपयोग किया गया है। स्थानाग मे चौथा लक्षण जो अवगाढरुचि कहा गया है उसमे अवगाढ का अर्थ द्वादशाग का अवगाहन है, उससे होने वाली रुचि या श्रद्धा का नाम अवगाढरुचि है। इसके स्थान मे ध्यानशतक में जो 'उपदेश' पद का उपयोग किया गया है उसका भी अभिप्राय वही है। कारण यह कि आगम के अनुसार तत्त्व के व्याख्यान का नाम ही तो उपदेश है। इस प्रकार अवगाढरुचि और उपदेशश्रद्धा मे कुछ भेद नहीं है।

स्थानांग मे धर्मध्यान के ये चार आलम्बन कहे गए हैं—वाचना, प्रतिप्रच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा[6]। इनमे से वाचना, प्रच्छना और परिवर्तना ये तीन ध्यानशतक मे शब्दश समान ही है। स्थानाग में चौथा आलम्बन जो अनुप्रेक्षा कहा गया है उसके स्थान मे ध्यानशतक मे अनुचिन्ता को ग्रहण किया गया है। वह अनुप्रेक्षा का ही समानार्थक है[7]। दोनो का ही अर्थ सूत्रार्थ का अनुस्मरण है।

स्थानाग में धर्मध्यान की ये चार अनुप्रेक्षायें कही गई है—एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और ससारानुप्रेक्षा[8]।

ध्यानशतक मे धर्मध्यान से सम्बद्ध एक अनुप्रेक्षा नाम का पृथक् प्रकरण है। उसके सम्बन्ध मे वहा इतना मात्र कहा गया है कि धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर मुनि सर्वदा अनित्यादि भावनाओं के

---

१. अज्ञानात्—कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽभ्युदयार्थं वा प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः। स्थाना. टी पृ. १६०.; नानाविधेषु त्वक्त्वक्षण-नयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येव प्रवर्तते इति नानाविधदोषः। ध्या. श. टीका २६.

२. धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे प० त०—आणाविजते अवायविजते विवागविजते संठाणविजते। स्थानां. पृ. १८८.

३. ध्या. श.—आज्ञा ४५-४६, अपाय ५०, विपाक ५१, सस्थान ५२-६२

४. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० त०—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुती। स्थानां. पृ. १८८.

५. ध्या. श. ६७.

६. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा प० त०—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

७. ध्या. श. ४२.

८. धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ प० तं०—एगाणुप्पेहा अणिच्चाणुप्पेहा असरणाणुप्पेहा संसाराणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

चिन्तन में तत्पर होता है। वहां अनित्यादि भावनाओं की संख्या का कोई निर्देश नहीं किया गया[1]। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने उसको स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि 'अनित्यादि' में जो आदि शब्द है उससे अशरण, एकत्व और संसार भावनाओं को ग्रहण किया गया है। साथ ही आगे उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि मुनि को 'इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदः' इत्यादि ग्रन्थ के आश्रय से बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए[2]।

स्थानांग में चतुर्थ स्थान का प्रकरण होने से सम्भवतः वहां चार ही अनुप्रेक्षाओ की विवक्षा रही है; पर ध्यानशतक मे ऐसा कुछ नही रहा। इससे वहां उनकी सख्या का निर्देश न करने पर भी 'अनित्यादि' पद से तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण आदि में निर्दिष्ट बारहों अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन का अभिप्राय रहा दिखता है। सम्भवत यही कारण है जो ध्यानशतककार ने 'अणिच्चाइभावणापरमो' ऐसा कहा है। यदि उन्हें पूर्वोक्त चार अनुप्रेक्षाओं का ही ग्रहण अभीष्ट होता तो वे 'अनित्यादि' के साथ 'चार' संख्या का भी निर्देश कर सकते थे[3]। पर वैसा यहा नही किया गया। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र (९-७) और प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रन्थो मे सर्वप्रथम अनित्यानुप्रेक्षा उपलब्ध होती है। पर स्थानांग मे निर्दिष्ट उन चार अनुप्रेक्षाओं मे प्रथमतः एकानुप्रेक्षा का निर्देश किया गया है। अतः तदनुसार यहां अनित्यादि के स्थान मे 'एकत्वादि' ऐसा निर्देश करना कही उचित था।

४ शुक्लध्यान—

स्थानाग मे शुक्लध्यान के ये चार भेद निर्दिष्ट किए गये हैं—पृथक्त्ववितर्क सविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ती और समुछिन्नक्रिय-अप्रतिपाती[4]।

ध्यानशतक मे शुक्लध्यान के इन चार भेदो की सूचना उनके विषय का निरूपण करते हुए ध्यातव्य प्रकरण मे की गई है[5]।

स्थानाग मे शुक्लध्यान के जिन चार लक्षणो का निर्देश किया गया है[6] उनको ध्यानशतककारने उसी रूप मे ग्रहण कर लिया है[7]। विशेषता यह है कि यहां दो गाथाओं के द्वारा उनके स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया गया है[8]।

स्थानांग मे शुक्लध्यान के जिन चार आलम्बनो का निर्देश किया गया है[9] उन्हीं का सग्रह ध्यानशतक मे भी कर लिया गया हैं[10]।

---

१. ध्या. श. ६५.

२. हरिभद्र सूरि ने इस प्रारम्भिक वाक्य के द्वारा प्रशमरतिप्रकरण नामक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। वहां 'इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिगुणसम्पदः' इत्यादि १२ श्लोकों मे बारह अनुप्रेक्षाओ का वर्णन किया गया है। उन सब श्लोको को यहा प्रकृत वाक्यांश के आगे प्रशमरतिप्रकरण से चौकोण [ ] कोष्ठक मे ले लिया है।

३. जैसे कि शुक्लध्यान के प्रसंग मे 'णियमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसपण्णो' वाक्य के द्वारा चार सख्या का निर्देश किया गया है। ध्या. श. ८७.

४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे प० त०—पुहुत्तवितक्के सवियारी १, एकत्तवितक्के अवियारी २, सुहुमकिरिते अणियट्टी ३, समुच्छिन्नकिरिये अप्पडिवाती ४। स्थाना. पृ. १८८.

५. पृथक्त्ववितर्क-सविचारी ७७-७८, एकत्ववितर्क-अविचारी ७९-८०, सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ती ८१, व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाती ८२.

६. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं० —अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे। स्थानां. पृ. १८८.

७. ध्या. श. ९०. ८. ध्या. श. ९१-९२.

९. सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—खंती मुत्ती मद्दवे अज्जवे। स्थानां पृ. १८८.

१०. ध्या. श. ६९.

स्थानांग में शुक्लध्यान की ये चार अनुप्रेक्षायें निर्दिष्ट की गई है—अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा[1]। इन्ही चारो का सकलन कुछ स्पष्टीकरण के साथ ध्यानशतक में भी किया गया है[2]। भेद केवल उनके क्रम मे रहा है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन को देखते हुए इसमे सन्देह नही रहता कि स्थानाग के अन्तर्गत ध्यानविषयक उस सभी सन्दर्भ को ध्यानशतक मे यथास्थान गर्भित कर लिया गया है।

प्रकृत स्थानाग मे ध्यान के भेद-प्रभेदों का निर्देश करते हुए उनमे से चार प्रकार के आर्त और चार प्रकार के रौद्रध्यान के स्वरूप को दिखला कर उनके लक्षणो (लिंगों) का भी निर्देश किया गया है तथा धर्म और शुक्लध्यान के चार चार भेदो के स्वरूप को प्रगट करते हुए उनके चार चार लक्षणों, आलम्बनो और अनुप्रेक्षाओं की भी प्ररूपणा की गई है। पर वहा न तो ध्यानसामान्य का लक्षण कहा गया है और न उसके काल का भी निर्देश किया गया हैं। इसके अतिरिक्त उक्त चार ध्यान किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक सम्भव है, जीव किस ध्यान के आश्रय से कौन सी गति को प्राप्त होता है, तथा प्रत्येक के आश्रित कौनसी लेश्या आदि होती हैं; इत्यादि का विचार भी वहां नहीं किया गया। किन्तु ध्यानशतक में उन सबका भी विचार किया गया है। इससे यह समझना चाहिए कि ध्यानशतक की रचना का प्रमुख आधार स्थानाग तो रहा है, पर साथ ही उसकी रचना मे तत्त्वार्थसूत्र आदि अन्य ग्रन्थो का भी आश्रय लिया गया है।

ध्यानशतक और भगवतीसूत्र व औपपातिकसूत्र

पूर्वोक्त ध्यानविषयक जो सन्दर्भ स्थानाग मे पाया जाता है वह सब प्राय. शब्दश. उसी रूप मे भगवतीसूत्र और औपपातिकसूत्र मे भी उपलब्ध होता है[3]। अतः पुनरुक्त होने से उनके आश्रय से यहा कुछ विचार नही किया गया। उनमे जो साधारण शब्दभेद व क्रमभेद है वह इस प्रकार है—

स्थानाग और भगवतीसूत्र मे आर्तध्यान के लक्षणो मे जहा चौथा 'परिदेवनता' है वहा औपपातिकसूत्र मे वह 'विलपनता' है। इन दोनो के अभिप्राय मे कुछ भेद नही है।

स्थानाग और भगवतीसूत्र मे जहा धर्मध्यान के चार लक्षणो मे तीसरा सूत्ररुचि और चौथा अवगाढरुचि है वहा औपपातिकसूत्र मे तीसरा उपदेशरुचि और चौथा सूत्ररुचि है। ध्यानशतक मे भी दूसरा लक्षण उपदेशश्रद्धान कहा गया है। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्टीकरण किया जा चुका है, तदनुसार उन दोनो मे अभिप्रायभेद कुछ नही रहा।

स्थानाग और भगवतीसूत्र के अन्तर्गत धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाओ मे जहा प्रथमत· एकत्वानुप्रेक्षा है वहा औपपातिक मे प्रथमतः अनित्यानुप्रेक्षा का निर्देश किया गया है, एकत्वानुप्रेक्षा का स्थान यहा तीसरा है। ध्यानशतक मे भी 'अनित्यादिभावना' के रूप मे निर्देश किया गया है, सख्या की कुछ सूचना वहां नही की गई है।

स्थानाग और भगवतीसूत्र मे निर्दिष्ट शुक्लध्यान के चार भेदो मे तीसरा सूक्ष्मक्रियानिवर्ती और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती है। पर औपपातिकसूत्र मे अनिवर्ती और अप्रतिपातीमे क्रमव्यत्यय होकर वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती के रूप मे निर्दिष्ट हुए है।

इसी प्रकार औपपातिकसूत्र मे शुक्लध्यान के लक्षणो, आलम्बनो और अनुप्रेक्षाओ मे भी कुछ थोड़ासा शब्दभेद व क्रमभेद हुआ है।

---

१. सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं० तं०—अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्परिणामाणुप्पेहा असुभाणुप्पेहा अवायाणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

२. ध्या. श. ८७-८८.

३. भगवतीसूत्र (अमदाबाद) २५, ७, पृ २८१-८२.; औपपातिक २०, पृ. ४३.

ध्यानशतक और धवला का ध्यानप्रकरण

आचार्य भूतबलि-पुष्पदन्त (प्राय: प्रथम शताब्दी) विरचित षट्खण्डागम पर आ. वीरसेन स्वामी (९वीं शताब्दी) द्वारा एक धवला नामक विस्तृत टीका रची गई है। षट्खण्डागम के वर्गणा नामक पांचवें खण्ड मे एक कर्म अनुयोगद्वार है। उसमे १० कर्मभेदो के अन्तर्गत दवें तपःकर्म का निर्देश करते हुए उसे छह अभ्यन्तर और छह बाह्य तप के भेद से बारह प्रकार का कहा गया है[1]। उसकी व्याख्या करते हुए आ. वीरसेन ने अपनी उस टीका मे अभ्यन्तर तप के पांचवें भेदभूत ध्यान की प्ररूपणा इन चार अधिकारों के द्वारा की है—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। तदनुसार वहां प्रथमत: ध्याता का विचार करते हुए उसमे कौन कौनसी विशेषतायें होना चाहिए, इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषणो का उपयोग किया गया है। इस प्रसग मे उन्होने 'एत्थ गाहा' या 'गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की इन गाथाओं को उद्धृत किया है[2]—२, ३९-४०, ३७, ३५-३६, ३८, ४१-४३ और ३०-३४। कुछ गाथायें यहां भगवती आराधना से भी उद्धृत की गई हैं।

आगे धवला मे क्रमप्राप्त ध्येय की प्ररूपणा मे अनेक विशेषणो से विशिष्ट अरहन्त, सिद्ध और जिनप्ररूपित नौ पदार्थों आदि को ध्येय—ध्यान के योग्य—कहा गया है[3]।

तत्पश्चात् ध्यान का निरूपण करते हुए उसके धर्म और शुक्ल इन दो भेदो का ही वहां निर्देश किया गया है, तप.कर्म का प्रकरण होने से वहा सम्भवतः आर्त और रौद्र इन दो ध्यानो को ग्रहण नही किया गया[4]। वह धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का कहा गया है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय।

आज्ञा, आगम, सिद्धान्त और जिनवचन ये समानार्थक शब्द है। इस आज्ञा के अनुसार प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणो के विषयभूत पदार्थो का जो चिन्तन किया जाता है उसका नाम आज्ञाविचय है। इस प्रसग मे यहा 'एत्थ गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की ४५-४९ गाथायें उद्धृत की गई हैं[5]। इसके आगे एक गाथा (३८) और उद्धृत की गई है जो मूलाचार (५-२०२) मे उपलब्ध होती है।

मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग से उत्पन्न होने वाले जन्म, जरा और मरण की पीडा का अनुभव करते हुए उनसे होने वाले अपाय का विचार करना, इसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस प्रसग मे यहा ध्यानशतक की ५०वी गाथा उद्धृत की गई है[6]। इसके साथ वहा कुछ पाठभेद को लिए हुए एक गाथा मूलाचार[7] की भी उद्धृत की गई है, जिसका अभिप्राय यह है कि अपायविचय में ध्याता कल्याणप्रापक उपायो—तीर्थंकरादि पद की प्राप्ति की कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओ—का चिन्तन करता है, अथवा जीवो के जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनके अपाय (विनाश) का चिन्तन करता है।

विपाकविचय धर्मध्यान के स्वरूप को बतलाते हुए यहा यह कहा गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग

---

१. ष. ख. ५, ४, २५-२६—पु १३, पृ. ५४

२. धवला मे इनकी क्रमिकसख्या इस प्रकार है—१२, १४-१५, १६, १७-१८, १९, २०-२२ और २३-२७. (पु. १३, पृ. ६४-६८).

३. धवला पु. १३, पृ. ६९-७०.

४. हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्र मे भी इन दो दुर्ध्यानो को ध्यान मे सम्मिलित नहीं किया गया है (४-११५)।

५. धवला में इनकी क्रमिकसख्या ३३-३७ है (पृ. ७१)।

६. धवला मे उसकी क्रमिकसंख्या ३९ है (पृ. ७२)।

७. मूलाचार ५-२०३. (यह गाथा भगवती आराधना (१७११) मे भी उपलब्ध होती है); धवला में उसकी क्रमिकसख्या ४० (पृ. ७२)।

और प्रदेश के भेद से चार प्रकार के शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का स्मरण करना, इसका नाम विपाक-विचय है। इस प्रसंग में वहां ध्यानशतक की ५१वीं गाथा उद्धृत की गई है[१]। इसके साथ ही वहां मूलाचार की भी एक गाथा उद्धृत की गई है[२]।

धवला में संस्थानविचय धर्मध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि तीनों लोकों के आकार, प्रमाण एवं उनमें वर्तमान जीवों की आयु आदि का विचार करना; यह संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है। इस प्रसंग मे वहां ध्यानशतक की ५ (५२-५६) गाथायें उद्धृत की गई हैं[३]। इसके आगे वहां एक गाथा ऐसी है जो क्रम से ध्यानशतक की ५८वी और ५७वी गाथाओ के उत्तरार्धों के योग से निष्पन्न हुई है[४]। तदनन्तर इसी प्रसग मे वहां ध्यानशतक की ६२, ६५, ३-४, ६६-६८, ६३ और १०२ ये गाथायें क्रम से उद्धृत की गई हैं[५]।

अन्त में धवला में जो शुक्लध्यान की प्ररूपणा की गई है[६] वह प्राय: तत्त्वार्थसूत्र और ध्यानशतक के ही समान है। इस प्रसग मे यहां ध्यानशतक की ६९, १०१, १००, ९०-९२, १०३, १०४ (पू.), ७५ और ७१-७२ ये गाथायें क्रम से उद्धृत की गई है[७]। साथ ही वहां भगवती आराधना की भी १८८०-८८ गाथायें उद्धृत की गई हैं[८]।

दोनों में कुछ पाठभेद—

इस प्रकार धवला (पुस्तक १३) मे जो ध्यानशतक की लगभग ४६-४७ गाथायें उद्धृत की गई हैं उनमे ऐसे कुछ पाठभेद भी हैं, जिनके कारण वहां कुछ गाथाओं का अनुवाद भी असंगत हो गया है[९]। यहां हम 'होइ—होज्ज, भूदोव—भूओव, ट्ठियो—ठिओ, लाह—लाभ' ऐसे कुछ पाठभेदो को छोड़कर अन्य जो महत्त्वपूर्ण पाठभेद उक्त दोनो ग्रन्थो मे रहे हैं, और जिनके कारण अर्थभेद होना भी सम्भव है, उनको एक तालिका दे रहे हैं। सम्भव है उससे पाठकों को कुछ लाभ हो सके। इसके अतिरिक्त भविष्य में यदि धवला पु. १३ के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता हुई तो उसमे तदनुसार कुछ संशोधन भी किया जा सकता है।

---

१. धवला मे उसकी क्रमिकसंख्या ४१ है (पृ. ७२)।

२. मूलाचार ५-२०४.; यह गाथा भगवती आराधना (१७१३) मे भी पायी जाती है।

३. धवला मे इनकी क्रमिकसंख्या ४३-४७ (पृ. ७३) है।

४. धवला में उसकी क्रमिकसंख्या ४८ (पृ ७३) है।

५. धवला मे उनकी क्रमिकसंख्या ४९, ५०, ५१-५२, ५३-५५, ५६, ५७, (पृ. ७६-७७) है।

६. धवला पु. १३, पृ. ७७-८८.

७. धवला में उनकी क्रमिकसंख्या इस प्रकार है—६४, ६५, ६६, ६७-६९, ७०, ७१, ७४, ७५-७६.

८. धवला में उनकी क्रमिकसंख्या इस प्रकार है—५८-६३, ७२-७४.

९ जैसे—पृ. ६७, गा २१ व २२; पृ ६८ गा २४ व २७; पृ ७१ गा. ३५-३७। पृ. ७३, गा. ४८ का पाठभेद सम्भवत: प्रतिलेखक की असावधानी से हुआ है—ध्यानशतक की गा. ५८ और ५७ के क्रमश: उत्तरार्धों के मेल से यह गाथा बनी है। इस अवस्था में वह प्रकरण से सर्वथा असम्बद्ध हो गई है। ध्यानशतक के अन्तर्गत गा ५६-५७ मे संसार-समुद्र का स्वरूप दिखलाया गया है तथा आगे वहां गा ५८-५९ मे उक्त संसार-समुद्र से पार करा देने वाली नौका का स्वरूप प्रगट किया गया है। वहां गा. ५८ के उत्तरार्ध में उपयुक्त 'णाणमयकण्णधार (ज्ञानरूप कर्णधार से संचालित)', यह विशेषण वहां चारित्ररूप महती नौका का रहा है, वह धवला मे हुए इस पाठभेद के कारण संसार-समुद्र का विशेषण बन गया है। यह एक वहां सोचनीय असगति हो गई है।

धव. पु. १३, पृ.	गाथांक	पाठ	ध्या. श. गा.	पाठ
६४	१२	चलंतयं	२	चलं तयं
६६	१४	जया ण ज्झाणावरोहिणी	२	जिया ण झाणोवरोहिणी
,,	१५	खविय	४०	समिय
,,	१६	तो जत्थ	३७	जो[तो] जत्थ[1]
६७	१८	झाणेसु णिच्चल	३६	झाणे सुणिच्चल
,,	२०	तहा पयइयव्वं	४१	तहा[प][2] यइयव्व
,,	२१	णाणुपेहाओ	४२	णाणुचिंताओ
,,	,,	सव्वभावासयाइं	,,	सद्धम्मावस्सयाइ
,,	२२	इ दव्वालंबणो	४३	इ दढदव्वालंबणो
६८	२३	वेरग्गजणियाओ	३०	वेरग्गनियताओ[3]
,,	२४	मणोवारणं	३१	मणोधारण
,,	,,	ज्झायइ णिच्चल	,,	झाइ सुनिच्चल
,,	२५	सकाइसल्लरहियो	३२	संकाइदोसरहिओ
,,	,,	पसमत्थेयादिगुणगणोवईयो	,,	पसमत्थेज्जादिगुणगणोवेओ
,,	२६	पोराणवि णिज्जरा	३३	पोराणविणिज्जर
,,	२७	णिब्भवो	३४	णिब्भओ
७१	३३	-णमणग्घ	४५	-णमहु[ण]ग्घ[4]
,,	३४	ज्झाएज्जो	४६	झाइज्जा
,,	३५	तत्थ मइदुव्वलेण य तव्विज्जाइरियविरहदो	४७	तत्थ य मइदोब्बेण तव्विहायरियविरहओ
,,	,,	णाणावरणादिएणं	,,	णाणावरणोदएण
,,	३६	य सरि-सुट्ठुज्जाणबुज्झेज्जो	४८	य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा
,,	,,	-मवितत्थं तहाविह	,,	-मवितहं तहावि त
,,	३७	अणुवगय	४९	अणुवकय
,,	,,	-मोहा ण अण्णहा	,,	-मोहा य णण्णहा
७२	३९	-लोगावाए ज्झाएज्जो	५०	-लोयावाओ झाइज्जा
७३	४४	लोगभागादि	५३	लोयभेयाइ
,,	४५	णयर	५४	णरय
,,	४६	भोइ	५५	भोय
,,	४७	सयसावमोण	५६	सयसावयमण
,,	४८	णाणमयकण्णहार वर-चारित्तमयमहापोय ।	५७	अण्णाण-मारुएरियसजोग-विजोगवीइसताणं ।

१. ध्या. श. मे यहा 'जो' पद के असम्बद्ध होने से कोष्ठक मे उसके स्थान मे 'तो' पद की सम्भावना प्रगट की गई है । पर धवला के निर्देशानुसार वह मूल मे ही पाठ रहा है ।

२. यहां कोष्ठक मे जो [प] पाठ की सम्भावना प्रगट की गई है वह भी धवला के उक्त पाठ से सिद्ध है।

३. गा. ३० की टीका में 'जनित:' यह पाठान्तर भी प्रगट किया गया है ।

४. यहां अर्थ की सगति बैठाने के लिए जो 'हु' के स्थान मे 'ण' की कल्पना की गई है वह धवला के इस पाठ से सुसंगत है ।

७३	४८	विचितेज्जो	५७	विचितेज्जा
,,	४६	कि बहुसो	६२	कि बहुणा
,,	५०	-मणिच्चादिचितणापरमो	६५	-मणिच्चाइभावणापरमो
,,	,,	धम्मज्झाणे जिह व पुव्वं	,,	धम्मज्झाणेण जो पुव्वि
७६	५१	चितावत्थाण	३	चित्तावत्थाण
,,	५२	चिता-ज्झाणतरं	४	चिता झाणतर
,,	५४	तल्लिग	६७	त लिगं
,,	५५	सपण्णा	६८	सपण्णो
,,	,,	संजमरदा × × × मुणेयव्वा	,,	सजमरम्रो × × × मुणेयव्वो
७७	५६	संवर-णिज्जरा	६३	सवर-विणिज्जरा
,,	५७	ज्झाणप्पवणोवहया	१०२	झाण-पवणावहूया
८०	६४	ग्रालबणेहि	६६	ग्रालबणाइ
८२	६५	पवणुग्गदो धुव	१०१	पवणसहिग्रो दुय
,,	६७	ग्रभयासमोहविवेगविसग्गा	६०	ग्रवहाऽसमोह-विवेग-विउस्सग्गा
,,	६८	वीहेइ	६१	बीभेइ
,,	६६	देहविचित्त × × × सव्वदो	६२	देहविवित्त × × × सव्वहा
,,	७०	वि	१०३	य
,,	७१	सीयायवादिएहि मि सारी- रेहि बहुप्पयारेहि ।	१०४	सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहि सुबहुप्पगारेहि ।
८६	७४	कमेण तहा जोगजल ज्झाणजलणेण ।।	७५	कमेण जहा तह जोगिमणोजल जाण ।।
८७	७५	पहाणज्झरमत	७१	पहाणयरमत
,,	७६	तह बादरतणुविसय जोग- विस ज्झाणमतबलजुत्तो । अणुभावम्मि णिरु भदि	७२	तह तिहुयण-तणुविसय मणोविस जोग-मतबलजुत्तो । परमाणुमि णिरु भइ

ध्यानशतक व आदिपुराण का ध्यानप्रकरण

ग्राचार्य जिनसेन (९वीं शती) द्वारा विरचित महापुराण एक पौराणिक ग्रन्थ है। वह ग्रादि-पुराण ग्रौर उत्तरपुराण इन दो भागों में विभक्त है। राजा श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो उसके लिए ध्यान का व्याख्यान किया था उसकी चर्चा करते हुए ग्रादिपुराण के २१वें पर्व में जो विस्तार से ध्यान का निरूपण किया गया है वह ध्यानशतक से काफी प्रभावित दिखता है। इन दोनों की विवेचनपद्धति में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं, ग्रादिपुराण में वहां ऐसे कितने ही श्लोक भी उपलब्ध होते हैं जो ध्यानशतक की गाथाग्रों के छायानुवाद जैसे हैं। इसका स्पष्टीकरण ग्रागे यथाप्रसग किया जाने वाला है। यथा—

ध्यानशतक में मगल के पश्चात् सर्वप्रथम ध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो स्थिर ग्रध्यवसान या एकाग्रता युक्त मन है उसका नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो ग्रनवस्थित (ग्रस्थिर) चित्त है वह भावना, ग्रनुप्रेक्षा ग्रौर चिन्ता के भेद से तीन प्रकार का है। एक वस्तु में चित्त के ग्रवस्थानरूप वह ध्यान ग्रन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ग्रौर वह छद्मस्थों के ही होता है।

जिनों का—सयोग केवली और अयोग केवली का—ध्यान स्थिर अध्यवसानरूप न होकर योगों के निरोधस्वरूप है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ध्यानकाल के समाप्त हो जाने पर चिन्ता अथवा ध्यानान्तर—अनुप्रेक्षा या भावनारूप चिन्तन—होता है। इस प्रकार से बहुत वस्तुओं में संक्रमण के होने पर ध्यान का प्रवाह चलता रहता है[1]।

यही बात आदिपुराण मे भी इस प्रकार से कही गई है—एक वस्तु में जो एकाग्रतारूप से चिन्ता का निरोध होता है वह ध्यान कहलाता है और वह जिसके वज्रर्षभनाराचसंहनन होता है उसके अन्तर्मुहूर्त काल तक ही होता है। जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है और इसके विपरीत जो चलाचल चित्त है—चित्त की अस्थिरता है—उसका नाम अनुप्रेक्षा, चिन्ता अथवा भावना है। पूर्वोक्त लक्षणरूप वह ध्यान छद्मस्थो के होता है तथा विश्वदृश्वा—सर्वज्ञ जिनों के—जो योगास्रव का निरोध होता है उसे उपचार से ध्यान माना गया है[2]। समानता के लिए दोनो के इन पद्यो को देखिये—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तय चित्तं।
त होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता॥ ध्या श. २.
स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा॥ आ. पु. २१-९

ध्यान के भेद—

आगे ध्यानशतक मे आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन ध्यान के चार भेदो का निर्देश करते हुए उनमें अन्तिम दो ध्यानो को निर्वाण का साधक तथा आर्त व रौद्र इन दो को ससार का कारण कहा गया है[3]।

आदिपुराण मे आगे सामान्य ध्यान से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रासगिक चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से ध्यान दो प्रकार का है। इस भेद का कारण शुभ व अशुभ अभिप्राय (चिन्तन) है। उक्त प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानो मे से प्रत्येक दो दो प्रकार का है। इस प्रकार से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है—आर्त व रौद्र ये दो अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त। इनमे प्रथम दो ससारवर्धक होने से हेय और अन्तिम दो योगी जनो के लिए उपादेय है[4]।

१ आर्तध्यान—

आगे ध्यानशतक मे चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए उसके फल, लेश्या, लिंग (अनुमापक हेतु) और स्वामियो का निर्देश किया गया है[5]।

इसी प्रकार आदिपुराण मे भी उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए उसके स्वामी, लेश्या, काल, आलम्बन, भाव, फल और परिचायक हेतुओ का निर्देश किया गया है[6]।

२ रौद्रध्यान—

आर्तध्यान के पश्चात् ध्यानशतक में पृथक् पृथक् चार प्रकार के रौद्रध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए उसके स्वामियो, फल, उसमे सम्भव लेश्याओ और परिचायक लिंगो का विवेचन किया गया है[7]।

आदिपुराण मे भी इस प्रसग मे प्रथमतः 'प्राणिना रोदनाद् रुद्रः, तत्र भव रौद्रम्' इस निरुक्ति के साथ उसके हिंसानन्द आदि चार भेदो का नामनिर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्टतर तीन दुर्लेश्याओ के प्रभाव से वृद्धिगत होकर छठे गुणस्थान से पूर्व पाच गुणस्थानो मे सम्भव है। काल उसका अन्तर्मुहूर्त है। तदनन्तर उसके उपर्युक्त चार भेदो का पृथक् पृथक् स्वरूप बतलाकर उसके परिचायक लिंगों

१. ध्या. श. २-४.
२. आ. पु. २१, ८-१०.
३. „ „ ५.
४. आ. पु. २१, ११-२९.
५. „ „ ६-१८.
६. आ. पु. २१, ३१-४१.
७. „ „ १९-२७.

और फल का निर्देश किया गया है। हिंसानन्द के प्रसंग मे वहा सिक्थ्य मत्स्य और अरविन्द नामक विद्याधर का उदाहरण दिया गया है[1]।

आदिपुराण में कुछ विशेष कथन—

पश्चात् इस प्रसग में यहां यह कहा गया है कि अनादि वासना के निमित्त से ये दोनों अप्रशस्त ध्यान बिना किसी प्रयत्नविशेष के होते है। मुनि जन इन दोनों दुर्ध्यानों को छोड़कर अन्तिम दो ध्यानों का अभ्यास करते हैं। उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिये यहा ध्यानसामान्य की अपेक्षा उसके कुछ परिकर्म[2] —देश, काल व आसन आदिरूप सामग्रीविशेष—को अभीष्ट बतलाया है[3]।

परिकर्म का यह विवेचन यद्यपि सामान्य ध्यान को लक्ष्य मे रखकर किया गया है, फिर भी इस प्रसंग मे कुछ ऐसा भी कथन किया गया है जो यथास्थान ध्यानशतकगत धर्मध्यान के प्रकरण मे उपलब्ध होता है और जिससे वह विशेष प्रभावित भी है। उदाहरणार्थ उक्त दोनो ग्रन्थो के इन पद्यो का मिलान किया जा सकता है—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जिय जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि॥ ध्या. श. ३५.
स्त्री-पशु-क्लीब-संसक्तरहितं विजनं मुनेः।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः॥ आ. पु. २१-७७.

× × ×

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा॥ ध्या. श. ३९.
देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा॥ आ पु. २१-७५.

× × ×

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा॥ ध्या श. ४०.
यद्देस-काल-चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः।
सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः॥ आ. पु. २१-८२.

आदिपुराणगत उक्त तीनो श्लोको में ध्यानशतक की गाथाओ का भाव तो पूर्णतया निहित है ही, साथ ही उनके प्राकृत शब्दो के सस्कृत रूपान्तर भी ज्यो के त्यों लिए गए हैं।

इस प्रकार परिकर्म की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् वहा ध्याता, ध्येय, ध्यान और उसके फल के कहने की प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार आगे उनकी क्रमशः प्ररूपणा भी की गई है[4]।

ध्येय की प्ररूपणा के बाद वहां क्रमप्राप्त ध्यान का कथन करते हुए यह कहा गया है कि एक वस्तुविषयक प्रशस्त प्रणिधान का नाम ध्यान है। वह धर्म्य और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है। यह प्रशस्त प्रणिधान रूप ध्यान मुक्ति का कारण है[5]।

यह कथन यद्यपि आदिपुराण मे सामान्य ध्यान के आश्रय से किया गया है, फिर भी जैसा कि पाठक ऊपर देख चुके हैं; उसमें जो देश, काल एवं आसन आदि की प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान के प्रकरण से काफी प्रभावित है।

---

१. आ. पु. २१, ४२-५३.
२. ध्यान के परिकर्म का विचार त. वा. (९-४४) और भ. आ. (१७०६-७) में भी किया गया है।
३. आ. पु. २१, ५४-८४.
४. ध्याता २१, ८५-१०३; ध्येय १०४-३१, ध्यान १३२, फल धर्मध्यान १६२-६३ और शुक्लध्यान १८६.
५. आ. पु. २१-१३२.

पूर्वोक्त ध्याता की प्ररूपणा में वहां यह कहा गया है कि जिन ज्ञान-वैराग्य भावनाओं का पूर्व में कभी चिन्तन नहीं किया गया है उनका चिन्तन करने वाला मुनि ध्यान मे स्थिर रहता है। वे भावनायें ये हैं—ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना। इन चारों भावनाओं के स्वरूप का भी वहां पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है[1]।

इस कथन का आधार भी ध्यानशतक रहा है। वहां धर्मध्यान के बारह अधिकारों में प्रथम अधिकार भावना ही है। इस प्रसग में निम्न गाथा और श्लोक की समानता देखिये—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दंसण चरित्त-वेरग्गजणियाओ॥ ध्या. श. ३०.
भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत्।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः॥ आ. पु. २१-९५.

इस प्रसग मे आदिपुराणकार ने वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन और सद्धर्मदेशन इनको ज्ञानभावना कहा है[1]। ध्यानशतककार ने इन्हें धर्मध्यान के आलम्बनरूप से ग्रहण किया है[3]। ज्ञानभावना का स्वरूप दिखलाते हुए ध्यानशतक मे यह कहा गया है कि ज्ञान के विषय में किया जाने वाला नित्य अभ्यास मन के धारण—अशुभ व्यापार को रोककर उसके अवस्थान—को तथा सूत्र व अर्थ की विशुद्धि को भी करता है। जिसने ज्ञान के आश्रय से जीव-अजीवादि सम्बन्धी गुणों को यथार्थता को जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है[4]।

३ धर्मध्यान—

ध्यानशतक मे धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए उस पर आरूढ होने के पूर्व मुनि को किन किन बातो का जान लेना आवश्यक है, इसका निर्देश करते हुए प्रथमतः भावना आदि बारह अधिकारों की सूचना की गई है।

उनमे से आदिपुराण मे ध्यानसामान्य से सम्बद्ध परिकर्म के प्रसंग मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; देश[5], काल[6], आसनविशेष[7] और आलम्बन[8] की जो प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक से बहुत कुछ प्रभावित है।

ध्यानशतक में ध्यातव्य का निरूपण करते हुए ध्यान के विषयभूत (ध्येयस्वरूप) आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यो के लक्षण-सस्थानादि इन चार की प्ररूपणा की गई है[9]।

ध्यातव्य या ध्येय के भेद से जो धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय ये चार भेद निष्पन्न होते हैं उनकी प्ररूपणा आदिपुराण मे भी यथाक्रम से की गई है[10]।

ध्यानशतक मे आज्ञा की विशेषता को प्रगट करते हुए उसके लिए जो अनेक विशेषण दिए गये हैं उनमें अनादिनिधना, भूतहिता, अमिता, अजिता (अजय्या) और महानुभावा इन विशेषणो का उपयोग आदिपुराण मे किया गया है[11]।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में द्रव्यों के लक्षण व सस्थान आदि तथा उनकी उत्पादादि पर्यायो के साथ पंचास्तिकायस्वरूप लोक, तद्गत पृथिवियों, वातवलयो

---

१. आ. पु. २१, ९४-९९.
२. आ. पु. २१-९६.
३. ध्या. श. ४२.
४. ध्या श. ३१.
५ आ. पु २१, ५७-५८ व ७९-८०.
६ आ पु २१, ८१-८३.
७ आ. पु. २१, ५९-७५.
८. आ. पु. २१-८७.
९. ध्या. श.—आज्ञा ४५-४९, अपाय ५०, विपाक ५१, सस्थान ५२-६०.
१०. आ. पु.—आज्ञा २१, १३५-४१, अपाय १४१-४२, विपाक १४३-४७, संस्थान १४८-५४.
११. ध्या. श. ४५.; आ. पु. २१, १३७-३८.

और द्वीप-समुद्रादिकों को चिन्तनीय (ध्येय) बतलाया है। साथ ही उपयोगादिस्वरूप जीव व उसके कर्मोदयजनित संसार-समुद्र के भयावह स्वरूप को दिखलाते हुए उससे पार होने के उपायविषयक विचार करने की भी प्रेरणा की गई है[1]।

इसी प्रकार आदिपुराण मे भी संस्थानविचय धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए लोक के आकार जीवादि तत्त्वो, द्वीप-समुद्रो एवं वातवलयादि को चिन्तनीय कहा गया है[2]। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि जीवभेदो व उनके गुणो का विचार करते हुए उनका जो अपने ही पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से संसार-समुद्र मे परिभ्रमण हो रहा है उसका तथा उससे पार होने के उपाय का भी विचार करना चाहिए। तुलना के रूप मे इस प्रसग की निम्न दो गाथायें और श्लोक द्रष्टव्य हैं—

खिइ-बलय दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसठाणं।
बोमाइपइट्ठाणं निययं लोगट्ठिइविहाणं ॥ ध्या. श ५४.
द्वीपाब्धि-वलयानद्रीन् सरितश्च सरांसि च।
विमान-भवन-व्यन्तरावास-नरकक्षितिः ॥ आ. पु. २१-१४६.

× × ×

किं बहुणा सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वनयसमूहमय झाएज्जा समयसब्भावं ॥ ध्या. श ६२.
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः।
नय-भङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ आ. पु २१-५४

आगे आदिपुराण मे उक्त धर्मध्यान के काल व स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि वह अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है तथा अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तो में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसका अवस्थान आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियो और शेष सयता-सयतो व प्रमत्तसंयतों मे भी जानना चाहिए। आगे लेश्या का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त तीन लेश्याओ से वृद्धिगत होता है[3]।

तत्पश्चात् वहां धर्मध्यान मे सम्भव क्षायोपशमिक भाव का निर्देश करते हुए उसके अभ्यन्तर व बाह्य चिह्नों (लिंगो) की सूचना की गई है। उसका फल पाप कर्मों की निर्जरा और पुण्योदय से प्राप्त होने वाला देवसुख बतलाया है। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि उसका साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति और पारम्परित मोक्ष की प्राप्ति है। इस ध्यान से च्युत होने पर मुनि को अनुप्रेक्षाओ के साथ भावनाओ का चिन्तन करना चाहिए, जिससे ससार का अभाव किया जा सके[4]।

ध्यानशतक मे जिन भावनादि १२ अधिकारो के आश्रय से धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उनमे उसके स्वामी, लेश्या और फल आदि का भी क्रमानुसार विवेचन किया गया है। स्वामी के विषय मे प्रकृत दोनो ग्रन्थो मे कुछ मतभेद रहा है। यथा—

ध्यानशतक में प्रकृत धर्मध्यान के ध्याता का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि सब प्रमादों से रहित मुनि तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह उसके ध्याता होते हैं[5]। उपशान्तमोह और क्षीणमोह का अर्थ हरिभद्र सूरि ने उसकी टीका मे क्रमशः उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षपक निर्ग्रन्थ किया है[6]। अभिप्राय उसका यह प्रतीत होता है कि उक्त धर्मध्यान सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है।

---

१. ध्या श. ५२-६०. २ आ. पु २१, १४८-५४
३. आ. पु. २१, १५५-५६. ४. आ. पु. २१, १५७-६४.
५. ध्या. श. ६३.
६. क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहा उपशामकनिर्ग्रन्थाः।

परन्तु आदिपुराण में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उक्त धर्मध्यान के स्वामित्व का विचार करते हुए उसका सद्भाव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक ही बतलाया गया है[1]। यह अवश्य विचारणीय है कि वहां 'वह अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है' यह जो कहा गया है उसका अभिप्राय क्या सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से ही रहा है या आगे के कुछ अन्य अप्रमत्तों से भी। आगे वहां यह भी कहा गया है कि आगमपरम्परा के अनुसार वह सम्यग्दृष्टियों, संयतासयतों और प्रमत्तसंयतों मे भी होता है। यह मान्यता सर्वार्थसिद्धिकार और तत्त्वार्थवार्तिककार की रही है[2]।

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यान का निरूपण करते हुए आदिपुराण मे आम्नाय के अनुसार उसके शुक्ल और परम-शुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमे छद्मस्थों के शुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल कहा गया है[3]। इन भेदों का सकेत ध्यानशतक मे भी उपलब्ध होता है, पर वहां परमशुक्ल से समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान अभीष्ट रहा है[4]।

आगे दोनो ग्रन्थों में जो शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क सविचार आदि चार भेदों का निरूपण किया गया है वह बहुत कुछ समान है।

ध्यानशतक मे शुक्लध्यानविषयक क्रम का निरूपण करते हुए एक उदाहरण यह दिया गया है कि जिस प्रकार सब शरीर मे व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा क्रम से हीन करते हुए डंकस्थान मे रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् उसे प्रधानतर मंत्र के द्वारा उस डकस्थान से भी हटा दिया जाता है उसी प्रकार तीनो लोको के विषय करने वाले मन को ध्यान के बल से क्रमशः हीन करते हुए परमाणु मे रोका जाता है और तत्पश्चात् जिनरूपी वैद्य उसे उस परमाणु से भी हटाकर उस मन से सर्वथा रहित हो जाते हैं[5]।

यही उदाहरण प्रकारान्तर से आदिपुराण मे भी दिया गया है। यथा—वहां कहा गया है कि जिस प्रकार सब शरीर मे व्याप्त विष को मन्त्र के सामर्थ्य से खींचा जाता है उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी विष को ध्यान के सामर्थ्य से पृथक् किया जाता है[6]।

उक्त दोनो ग्रन्थों मे एक अन्य उदाहरण मेघों का भी दिया गया है। यथा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति॥ ध्या. श. १०२.
यद्वद् वाताहताः सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः।
तद्वत् कर्म-घना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः॥ आ. पु. २१-२१३.

इस प्रकार दोनों ग्रन्थो की वर्णनशैली तथा शब्द, अर्थ और भाव की समानता को देखते हुए इसमे सन्देह नही रहता कि आदिपुराण के अन्तर्गत वह ध्यान का वर्णन ध्यानशतक से अत्यधिक प्रभावित है। यहा इस शका के लिए कोई स्थान नही है कि सम्भव है आदिपुराण का ही प्रभाव ध्यानशतक पर रहा हो, कारण इसका यह है कि ध्यानशतक पर हरिभद्र सूरि के द्वारा एक टीका लिखी गई है, अतः ध्यानशतक की रचना निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व में हो चुकी है और हरिभद्र सूरि निश्चित ही आ. जिनसेन के पूर्ववर्ती है। इससे यही समझना चाहिए कि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के समक्ष प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होने उसका उपयोग उसमे किये गये ध्यान के वर्णन में किया है।

ध्यानशतक व ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र (सम्भवतः वि. की ११वीं शती) विरचित ज्ञानार्णव यह एक ध्यानविषयक

१. आ. पु. २१, १५५-५६.
२. स. सि. ६-३६; त. वा. ६, ३६, १३-१५.
३. आ. पु. २१-१६७.
४. ध्या. श. ८९.
५. ध्या. श. ७१-७२.
६. आ. पु. २१-२१४.

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें मुद्रित प्रति (परम श्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई) के अनुसार ४२ प्रकरण हैं। पद्यसंख्या लगभग २२१० है। संस्कृत भाषामय ये पद्य अनुष्टुभ्, आर्या, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवंशा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, शिखरिणी और स्रग्धरा जैसे छन्दों में रचे गये हैं। ग्रन्थ की भाषा, कविता और पदलालित्य आदि को देखते हुए ग्रन्थकार की प्रतिभाशालिता का पता सहज में लग जाता है। सिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के साथ वे एक प्रतिभासम्पन्न उत्कृष्ट कवि भी रहे हैं। ग्रन्थ मे उक्त ४२ प्रकरण स्वय ग्रन्थकार के द्वारा विभक्त किये गये हैं, ऐसा प्रतीत नही होता। मूल ग्रन्थ मे वही किसी भी प्रकरण का प्राय. निर्देश नहीं किया गया है। विषयविवेचन भी प्रकरण के अनुसार क्रमबद्ध नही है, किसी एक विषय की चर्चा करते हुए बहां बीच बीच मे अन्य विषय भी चर्चित हुए हैं। अन्य ग्रन्थो के भी बहुत-से पद्य उसमें 'उक्त च' आदि के संकेत के साथ और विना किसी संकेत के भी समाविष्ट हुए है, भले ही उनका समावेश वहा चाहे स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा किया गया हो अथवा पीछे अन्य अध्येताओं के द्वारा। ग्रन्थ मे प्रमुखता से ध्यान की प्ररूपणा तो की ही गई है, पर साथ मे उस ध्यान की सिद्धि मे निमित्तभूत अनित्यादि भावनाओं, अहिंसादि महाव्रतो और प्राणायामादि अन्य भी अनेक विषय चर्चित हुए हैं। इसीलिए उसके 'ज्ञानार्णव' और 'ध्यानशास्त्र' ये दो सार्थक नाम ग्रन्थकार को अभीष्ट रहे है[1]। ग्रन्थ का कुछ भाग सुभाषित जैसा रहा है।

प्रस्तुत ध्यानशतक में ध्यान व उससे सम्बद्ध जिन विषयो का वर्णन किया गया है उन सबका कथन इस ज्ञानार्णव में भी प्राय· यथाप्रसग किया गया है। पर दोनों की वर्णनशैली भिन्न रही है। ध्यानशतक का विषयविवेचन पूर्णतया क्रमबद्ध व व्यवस्थित है, किन्तु जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, ज्ञानार्णव मे वह विषयविवेचत का क्रम प्राय: व्यवस्थितरूप मे नहीं रह सका है।

इन दोनों ग्रन्थो मे कही कही शब्द व अर्थ की जो समानता दिखती है वह इस प्रकार है—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिता ॥ ध्या श. २.
एकाग्रचिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ ज्ञाना. १६, पृ. २५६.

× × ×

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसक-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाण वियजण भणिय विसेसओ झाणकालंमि ॥ ध्या. श. ३५.
यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥ ज्ञाना. पृ. ८, २७८.

× × ×

थिरकयजोगाण पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाण।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥ ध्या. श. ३६.
विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
यदि धत्ते स्थिरं चित्त न तदास्ति निषेधनम् ॥ ज्ञाना. २२, पृ. २८०.

× × ×

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४०.

---

१. श्लोक ११, पृ. ७; श्लोक ८८, पृ. ४४७; व श्लो ८७, पृ. ४४६. (प्रत्येक प्रकरण के अन्तिम पुष्पिकावाक्य में उसके 'योगप्रदीपाधिकार' इस नाम का भी निर्देश किया गया है।)

तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइयव्वं ।। ध्या. श. ४१.
वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्पाः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ।। १३, पृ. २७९.
संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ।। २१, पृ. २८०.

इस प्रकार की समानता को देखते हुए भी ज्ञानार्णव पर ध्यानशतक का कुछ प्रभाव रहा है, यह सम्भावना नही की जा सकती है। इसका कारण यह है कि आ. जिनसेन के द्वारा आदिपुराण के २१वें पर्व में जो ध्यान का वर्णन किया गया है उसका प्रभाव ज्ञानार्णव पर अत्यधिक रहा है। अतः यही सम्भव है कि ज्ञानार्णवकार ने ध्यानशतक को आधार न बनाकर आदिपुराण के आश्रय से ही ध्यानविषयक प्ररूपणा की है। ग्रन्थकार आ शुभचन्द्र ने स्वय ही ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आ. जिनसेन के वचनों के महत्त्व को प्रगट करते हुए उनका स्मरण किया है[1]। पूर्वोल्लिखित ज्ञानार्णव के श्लोक १६, ८, २२ तथा १३ और २१ क्रमशः आदिपुराण पर्व २१ के ६, ७७, ८३ और ७३ श्लोकों से प्रभावित है। आदिपुराण का वह ध्यान का प्रकरण ध्यानशतक से विशेष प्रभावित है, यह पहिले प्रगट किया ही जा चुका है।

ध्यानशतक व योगशास्त्र

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रगट है, प्रस्तुत योगशास्त्र यह योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके रचयिता सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरि (वि. की १२वी शती) हैं। वह १२ प्रकाशो मे विभक्त है। उनमें से प्रथम तीन प्रकाशों मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय; तथा चतुर्थ प्रकाश मे कषायों, इन्द्रियों एव राग-द्वेषादि की विजय के साथ समताभाव की प्राप्ति को अनिवार्य बतलाते हुए अनित्यादि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओ की भी प्ररूपणा की गई है। यही पर ध्यान के योग्य अनेक आसनों का स्वरूप भी दिखलाया गया है। पांचवें प्रकाश मे विस्तार से प्राणायाम का निरूपण करते हुए छठे प्रकाश मे उससे होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराया गया है तथा धर्मध्यान की सिद्धि मे निमित्तभूत मनकी स्थिरता की आवश्यकता प्रगट की गई है। सातवें प्रकाश मे ध्यान के इच्छुक योगी को पूर्व मे ध्याता, ध्येय और फल के जान लेने की प्रेरणा करते हुए ध्येय के प्रसंग मे उसके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदो का निर्देश किया गया है व उनमे से प्रथम पिण्डस्थ ध्येय की प्ररूपणा की गई है। आठवें प्रकाश मे पदस्थ और नौवें प्रकाश मे रूपस्थ ध्येय का निरूपण किया गया है। दशम प्रकाश मे रूपातीत ध्येय का दिग्दर्शन कराते हुए विकल्परूप मे उस ध्येय के ये चार भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान। आगे यथाक्रम से उनके आश्रय से भी धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है। ग्यारहवें प्रकाश में शुक्लध्यान का निरूपण करके बारहवें प्रकाश में अनुभवसिद्ध तत्त्व को प्रकाशित किया गया है।

ध्यानशतक का प्रभाव—

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस योगशास्त्र के ऊपर ध्यानशतक का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। यथा—

१ जिस प्रकार ध्यानशतक को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने मगलस्वरूप योगीश्वर वीर को नमस्कार करके ध्यानशतक के कहने की प्रतिज्ञा की है (१) उसी प्रकार आ. हेमचन्द्र ने योगीश्वर महावीर जिन को नमस्कार करते हुए योगशास्त्र के रचने की प्रतिज्ञा की है (१, १-४)।

२ जिस प्रकार ध्यानशतक मे स्थिर अध्यवसान को—मन की स्थिरता को—ध्यान का लक्षण

1. जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत् समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ।। ज्ञाना. १६, पृ. ८.

बतलाकर उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र कही गई है तथा साथ मे यह भी निर्देश किया गया है कि ऐसा ध्यान छद्मस्थों के होता है, केवलियो का ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है (२-३); उसी प्रकार से यही भाव योगशास्त्र में भी प्रगट किया गया है (४-११५)। आगे ध्यानशतक मे यह भी कहा है कि अन्तर्मुहूर्त मात्र ध्यानकाल के पश्चात् चिन्ता अथवा ध्यानान्तर होता है, इस प्रकार बहुत वस्तुओ में संक्रमण के होने पर ध्यान की सन्तान दीर्घ काल तक चल सकती है। ठीक यही अभिप्राय योगशास्त्र में भी व्यक्त किया गया है। दोनों में शब्दो व अर्थ की समानता द्रष्टव्य है—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणतरं व होज्जाहि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसताणो ॥ ध्या. श. ४.
मुहूर्तात् परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसक्रमे तु स्याद् दीर्घापि ध्यानसन्ततिः ॥ यो. शा. ४-११६.

इसी प्रकार शुक्लध्यान के प्रसग मे उपयुक्त ध्यानशतक की कुछ गाथाओ का योगशास्त्र मे छायानुवाद किया गया जैसा दिखता है। यथा—

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनियट्टि तइय झाण तणुकायकिरियस्स ॥ ८१.
तस्सेव य सेलीसीगयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥ ध्या. श ८२.
निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीय कीर्तितं शुक्लम् ॥
केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीय परमशुक्लम् ॥ यो. शा ११, ८-९.

इसी प्रकार आगे गा. ८३-८४ का मिलान योगशास्त्र के ११, १०-११ श्लोको से तथा गा. ८५, ८६, का मिलान योगशास्त्र के ११-१२वें श्लोको से किया जा सकता है।

कुछ विशेषता—

यहा यह विशेष स्मरणीय है कि आ हेमचन्द्र ने ग्रन्थ के प्रारम्भ (१-४) मे तथा अन्त मे (१२-१ व १२-५५) मे भी यह सूचना की है कि मैंने श्रुत के आश्रय से और गुरुमुख से जो योगविषयक ज्ञान प्राप्त किया है तदनुसार उसका वर्णन करता हुआ मैं कुछ अपने अनुभव के आधार से भी कथन करूगा। इससे सिद्ध है कि उन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगमपरम्परा के अनुसार तो योग का वर्णन किया ही है, साथ ही उन्होने अपने अनुभव के आधार से उसमे कुछ विशेषता भी प्रगट की है, जो इस प्रकार है—

१ आगमपरम्परा मे ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद कहे गये है[1]। पर आ. हेमचन्द्र ने उसके भेदो में आर्त और रौद्र इन दो दुर्ध्यानो को सम्मिलित न करके उस ध्यान को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का ही बतलाया है[2]।

२ ध्यानशतक मे धर्मध्यान की प्ररूपणा यथाक्रम से भावना आदि (२८-२९) बारह द्वारों के आश्रय से की गई है, परन्तु आ. हेमचन्द्र ने उसकी उपेक्षा करके ध्याता, ध्येय और फल के अनुसार यहा

१ जैसे—स्थानांग २४७, पृ. १८७; मूलाचार ५-१९७ और तत्त्वार्थसूत्र ९-२८ आदि।

२. मुहूर्तान्तर्मन स्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥ ४ ११५.
षट्खण्डागम की आ. वीरसेन विरचित धवला टीका (पु. १३, पृ. ७०) में भी आर्त-रौद्र को सम्मिलित न करके ध्यान के ये ही दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं।

ध्यान का कथन किया है (७-१)।

३ आगमपरम्परा मे व ध्यानशतक में भी पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित इन चार ध्येय-भेदों के अनुसार चार प्रकार के ध्यान की कही कुछ प्ररूपणा नही की गई है, पर आ हेमचन्द्र ने अपने इस योगशास्त्र में ध्यान के इन चार भेदों की विस्तार से प्ररूपणा की है[१]।

४ ध्यानशतक में ध्यातव्य (ध्येय) के प्रसग मे आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन धर्मध्यान के चार भेदो की ही प्ररूपणा की गई है। वहां पिण्डस्थ-पदस्थ आदि चार ध्यानों के विषय में कुछ भी निर्देश नही किया गया है। परन्तु योगशास्त्र मे इनको प्रमुख स्थान दिया गया है तथा उपर्युक्त आज्ञाविचयादि चार धर्मध्यान के भेदों का विवेचन विकल्परूप में किया गया है[२]।

५ ध्यानशतक मे ध्याता का विचार करते हुए समस्त प्रमादों से रहित मुनि, उपशान्तमोह और क्षीणमोह इनको धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है (६३)। परन्तु योगशास्त्र मे ध्याता की विशेषता को प्रगट करके भी (७, २-७) धर्मध्यान के स्वामियों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया[३]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्मध्यान के स्वामियों के विषय मे कुछ मतभेद रहा है। सम्भव है हेमचन्द्र सूरि ने इसी कारण से उसकी उपेक्षा की है।

६ ध्यानशतक मे धर्मध्यान से सम्बन्धित लेश्याओ का निर्देश करके भी उसमें सम्भव क्षायोपशमिक भाव का कोई उल्लेख नही किया गया है (६६)। परन्तु योगशास्त्र मे धर्मध्यान में सम्भव उन लेश्याओ के निर्देश के पूर्व ही उसमे क्षायोपशमिक आदि भाव का सद्भाव दिखलाया गया है[४]।

७ स्थानांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र एवं ध्यानशतक आदि प्राचीन ग्रन्थो मे प्राणायाम को ग्रहण नही किया गया है। परन्तु योगशास्त्र में उस प्राणायाम का वर्णन करते हुए विविध प्रकार के वायुसचार से सूचित शुभाशुभ की विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही वहा परकायप्रवेश आदि का भी कथन किया गया है। हा, यह अवश्य है कि आ हेमचन्द्र ने वहा महर्षि पतञ्जलि विरचित योगशास्त्र मे निर्दिष्ट उस प्राणायाम का विस्तार से वर्णन करते हुए भी उसे अनावश्यक और अहितकर बतलाया है[५] (६, १-५)।

---

१. यहा क्रम से ७वे प्रकाश मे पिण्डस्थ (८-२८), ८वें प्रकाश मे पदस्थ (१-८१), ९वें प्रकाश मे रूपस्थ (१-१६) और १०वें प्रकाश मे रूपातीत (१-६) ध्यान का वर्णन किया गया है।

२. एव चतुर्विधध्यानामृतमग्न मुनेर्मन: ।
साक्षात्कृतजगत्तत्त्व विधत्ते शुद्धिमात्मन: ॥
आज्ञापायविपाकाना सस्थानस्य च चिन्तनात् ।
इत्थ वा ध्येयभेदेन धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ यो. शा. १०, ६-७.

पिण्डस्थ-पदस्थ आदि उक्त चार प्रकार के ध्यान की प्ररूपणा आ. शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव में संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसंग मे (पृ, ३८१-४२३) और आ. अमितगति विरचित श्रावकाचार (१५, ३०-५६) मे विस्तार से की गई है।

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के स्वामियों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—आज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-क्षीण-कषाययोश्च। ९, ३७-३८.

४. धर्मध्याने भवेद् भाव क्षायोपशमिकादिक ।
लेश्या क्रमविशुद्धा. स्यु. पीत-पद्म-सिता. पुनः ॥ १०-१६. (क्षायोपशमिक भाव की सूचना आदिपुराण (२१-१५७) व ज्ञानार्णव (श्लोक ३९, पृ. २७०) में की गई है)

५. ज्ञानार्णव मे भी उस प्राणायाम का विस्तार से वर्णन करते हुए (श्लोक १-१०२, पृ. २८४-३०३) भी उसे अनिष्टकर सूचित किया गया है (श्लोक १००, पृ. ३०२ व व श्लोक ४-६, पृ. ३०५)।

८ ध्यानशतक में धर्मध्यान के ध्याताओं का उल्लेख करने के अनन्तर यह कहा गया है कि ये ही धर्मध्यान के ध्याता अतिशय प्रशस्त संहनन से युक्त व पूर्वश्रुत के धारक होते हुए पूर्व के दो शुक्लध्यानों के भी ध्याता होते हैं (६३-६४)। योगशास्त्र मे इसे कुछ स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि प्रथम संहनन से युक्त पूर्वश्रुत के ज्ञाता शुक्लध्यान के करने मे समर्थ होते हैं। कारण यह कि हीन बलवालों का इन विषयों के वशीभूत होने से चूंकि स्थिरता को प्राप्त नही होता, इसीलिए वे शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं हैं (११, २-३)।

लगभग यही अभिप्राय तत्त्वानुशासन (३५-३६) और ज्ञानार्णव मे भी प्रगट किया गया है। इस प्रसंग से सम्बन्धित ज्ञानार्णव और योगशास्त्र के श्लोकों की समानता देखने योग्य है—

> चलत्येवाल्पसत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम्।
> चेतः शरीरिणां शश्वद् विषयैर्व्याकुलीकृतम्॥ ज्ञाना. ५, पृ. ४२५,
> न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम्।
> आद्यसंहननस्यैव तत् प्रणीत पुरातनैः॥ ज्ञाना. ६, पृ. ४२५.
> इदमादि[म]संहनना एवाल पूर्ववेदिनः कर्तुम्।
> स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत् स्वल्पसत्त्वानाम्॥
> धत्ते न खलु स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमतां मनोविषयैः।
> शुक्लध्याने तस्मान्नास्त्यधिकारोऽल्पसाराणाम्॥ यो. शा. ११, २-३.

यहां ज्ञानार्णव में उपयुक्त 'अत्यल्पचेतसाम्' के समकक्ष जो योगशास्त्र मे 'स्वल्पसत्त्वानाम्' पद प्रयुक्त हुआ है वह भाव को अधिक स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार ध्यानशतक के साथ योगशास्त्र की समानता व असमानता को देखकर यह निश्चित प्रतीत होता है कि आ. हेमचन्द्र ने उस ध्यानशतक को हृदयगम करके उससे यथेच्छ विषय को ग्रहण किया है और उसका उपयोग अपनी रुचि के अनुसार योगशास्त्र की रचना मे किया है। पर विषयविवेचन की शैली उनकी ध्यानशतककार से भिन्न रही है।

टीका व टीकाकार हरिभद्र सूरि

टीका—प्रस्तुत ग्रन्थ मे मूल के साथ जो सस्कृत टीका मुद्रित है वह बहुश्रुत विद्वान् प्रसिद्ध हरिभद्र सूरि के द्वारा रची गई है। टीका यद्यपि सक्षिप्त है फिर भी शब्दार्थ का बोध कराते हुए मूल ग्रन्थ के भाव को भी उसमे स्पष्ट किया गया है। साथ ही वहां यथाप्रसग अनेक प्राचीन ग्रन्थो के जो प्रमाण के रूप मे उद्धरण दिये गये हैं उनसे भावावबोध अधिक हो जाता है। टीकाकार ने जो कुछ स्थलो पर व्याख्याविषयक मतभेदों की सूचना की है[1] उससे ज्ञात होता है कि इस टीका के पूर्व भी अन्य एक दो टीकायें रची जा चुकी हैं, पर वे उपलब्ध नही हैं।

टीकाकार के सामने ग्रन्थगत कुछ पाठभेद भी रहे हैं, जिनका निर्देश उन्होने यथास्थान अपनी इस टीका मे कर भी दिया है[2]।

हरिभद्र सूरि—ये जन्मना वेदानुयायी ब्राह्मण थे। निवासस्थान उनका चित्रकूट रहा है। वे तर्कणाशील विद्वान् थे। उन्होंने वैदिक सम्प्रदाय के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन के साथ इतर दर्शनों के भी कितने ही ग्रन्थो का परिशीलन किया था। एक बार उन्हें सयोग से याकिनी-महत्तरा नामक एक विदुषी साध्वी के दर्शन का लाभ हुआ। उसकी धर्मचर्चा से वे अतिशय प्रभावित हुए। तब उन्होंने वैदिक सम्प्रदाय को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा स्वीकार कर ली। उनके दीक्षादाता गुरु जिनदत्त सूरि थे।

---

१ देखिये अन्त में परिशिष्ट ८, पृ. ७२.

२ देखिये परिशिष्ट ७, पृ. ७२.

उन्होंने सद्धर्म का उपदेश देने वाली याकिनी-महत्तरा को अपनी धर्ममाता माना। इसी से उन्होंने स्वरचित अधिकांश ग्रन्थों के पुष्पिकावाक्यों में अपने को जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी याकिनी-महत्तरा का सूनु घोषित किया है। वे संस्कृत भाषा के तो अधिकारी विद्वान् पूर्व मे ही रहे हैं, अब जैन धर्म मे दीक्षित होकर उन्होंने जैनागमों का भी गम्भीर अध्ययन कर लिया व प्राकृत भाषा के भी अधिकारी विद्वान् हो गये। हरिभद्र सूरि का समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ (ई. सन् ७०० से ७७०) माना जाता है। वे कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि के कुछ समकालीन रहे है[1]। उनके द्वारा उक्त दोनों ही भाषाओ में जहा अनेक मौलिक ग्रन्थ रचे गये है वहा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो पर टीका भी की गई है। उनमे कुछ इस प्रकार हैं—

मूल ग्रन्थ—

१ धर्मसंग्रहणी
२ श्रावकप्रज्ञप्ति (स्वोपज्ञ टीका सहित)
३ पंचाशक प्रकरण
४ पंचवस्तुक प्रकरण (स्वो. टीका सहित)
५ योगविंशिका
६ योगबिन्दु (स्वो. टीका सहित)
७ योगदृष्टिसमुच्चय
८ शास्त्रवार्तासमुच्चय
९ षड्दर्शनसमुच्चय
१० धर्मबिन्दु प्रकरण
११ अष्टक प्रकरण
१२ षोडशक प्रकरण
१३ समराइच्चकहा
१४ उपदेशपद
१५ अनेकान्तजयपताका
१६ अनेकान्तवादप्रवेश
१७ लोकतत्त्वनिर्णय
१८ सम्बोध प्रकरण
१९ सम्बोधसप्तति प्रकरण, इत्यादि

टीकायें—

१ आवश्यकसूत्र
२ दशवैकालिक
३ पाक्षिकसूत्र
४ पंचसूत्र
५ प्रज्ञापनासूत्र
६ अनुयोगद्वार
७ नन्दीसूत्र
८ ललितविस्तरा
९ तत्वार्थवृत्ति, इत्यादि

इन टीकाओं मे उन्होने सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरण दिये हैं। इससे उनकी बहुश्रुतता का परिचय सहज मे मिल जाता है। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों और टीकाओ के अन्त में प्राय: उपकार की स्मृतिस्वरूप 'याकिनी-महत्तरासूनु' उपलब्ध होता है। साथ ही उन्होने अपनी इन कृतियो के अन्त में प्राय: 'भवविरह' शब्द का उपयोग किया है।

---

१. श्री-हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णय:, पृ. १-२३ (जैन साहित्यशोधक समाज, पूना) तथा 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग ३, पृ. ३५९.

प्रस्तावना ध्यानस्तव

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ का 'ध्यानस्तव' यह एक सार्थक नाम है। ग्रन्थकार श्री भास्करनन्दी ने इसमें १०० श्लोको के द्वारा जिनस्तुति के रूप में संक्षेप से ध्यान का सुव्यवस्थित व क्रमबद्ध वर्णन किया है। ग्रन्थ यद्यपि सक्षिप्त है, फिर भी उसमें ध्यान के आवश्यक सभी अगो का समावेश बडी कुशलता से किया गया है। ग्रन्थ के संक्षिप्त व सुन्दर विषयविवेचन को देखते हुए ग्रन्थकार की बहुश्रुतता का परिचय सहज मे ही मिल जाता है। ध्यानस्तव के अतिरिक्त उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर एक महत्त्वपूर्ण वृत्ति भी लिखी गई है, जो ग्रन्थगत सभी विषयो को सरल और सुबोध भाषा मे प्रस्फुटित करती है। इससे उसका 'सुखबोधा वृत्ति' यह सार्थक नाम समझना चाहिए। इस वृत्ति के आधार सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ रहे हैं। ध्यानस्तव मे जो नौ पदार्थों, सात तत्त्वो और छह द्रव्यो का विवेचन किया गया है उसका आधार उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओ के अतिरिक्त मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह भी रहा है[1]।

ग्रन्थकार भास्करनन्दी ने किस स्थान को अपने जन्म से पवित्र किया, माता-पिता उनके कौन थे तथा वे अन्त तक गृहस्थ रहे है, मुनिधर्म मे दीक्षित हुए है, अथवा भट्टारक पद पर आसीन हुए है; इत्यादि उनके जीवन सम्बन्धी वृत्त के जानने के लिए कोई साधन-सामग्री उपलब्ध नही है। ग्रन्थ के अन्त मे जो दो श्लोको मे सक्षिप्त प्रशस्ति[2] उपलब्ध है उससे इतना मात्र ज्ञात होता है कि वे सर्वसाधु के प्रशिष्य और जिनचन्द्र के शिष्य थे। सर्वसाधु यह नाम न होकर सम्भवतः उनकी एक प्रशंसापरक उपाधि रही है।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ध्यानस्तव की प्रस्तावना में उसकी विदुषी सम्पादिका कुमारी सुजुको ओहिरा के द्वारा यह सम्भावना प्रगट की गई है कि उनका नाम वृषभनन्दी तथा उपनाम चतुर्मुख व सर्वसाधु रहे हैं। उन्होने वहां यह भी सकेत किया है कि तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति मे उपयुक्त 'शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुध.' इत्यादि श्लोक मे विपरीत क्रम से 'वृषभनन्दी' नाम पढ़ा जा सकता है, पर वह किस प्रकार से पढ़ा जा सकता है, इसे उन्होने स्पष्ट नही किया[3]। भास्करनन्दी के समय पर विचार करते हुए कु. ओहिरा ने सम्भावना के रूप मे उनका समय १२वीं शताब्दी का आरम्भ (ई. १११० या ११२०) माना है[4]।

---

१. इसे आगे द्रव्यसंग्रह के साथ ध्यानस्तव की तुलना करते हुए स्पष्ट किया जायगा।

२. इसी प्रकार की प्रशस्ति तत्त्वार्थवृत्ति मे भी पायी जाती है। प्रशस्तिगत 'नो निष्ठीवेन्न शेते' इत्यादि श्लोक दोनों मे समान है (देखिये ध्या. स्त. ६६)।

३. ध्यानस्तव की प्रस्तावना पृ. ३३ (अंग्रेजी) व ३२ (हिन्दी)।

४. ध्यानस्तव की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ. ३७, हिन्दी पृ. ३५-३६.

पं. शान्तिराज जी शास्त्री ने तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में भास्करनन्दी के समय पर विचार करते हुए उन्हें १३-१४वीं शताब्दी का विद्वान् माना है[1]।

जैसी की स्व. पं. मिलापचन्द जी कटारिया के द्वारा सम्भावना व्यक्त की गई है, तदनुसार भास्करनन्दी का समय वि. सं. की सोलहवीं शताब्दी ठहरता है। ध्यानस्तव की प्रशस्ति में जिन सर्वसाधु का उल्लेख किया गया है (६६) उसमें उपयुक्त 'शुभगति' के स्थान मे 'शुभयति' पाठकी कल्पना के आधार पर वे उससे उन शुभचन्द्र को ग्रहण करते हैं, जिन्होने दिल्ली-जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चलायी व जिनका समय वि. सं. १४५० से १५०७ रहा है। इन शुभचन्द्र के पट्ट पर जो जिनचन्द्र प्रतिष्ठित हुए वे भास्करनन्दी के गुरु हो सकते हैं। इन जिनचन्द्र का समय वि. सं. १५०७ से १५७१ माना जाता है। इस प्रकार से भास्करनन्दी का समय वि. की १६वी शताब्दी सम्भावित है[2]।

ध्यानस्तव की रचना के समय ग्रन्थकार के समक्ष निम्न ग्रन्थ रहे हैं व उन्होंने उसकी रचना में यथासम्भव उनका कुछ उपयोग भी किया है—प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्रव्यसंग्रह व उसकी ब्रह्मदेव विरचित टीका, अमितगति-श्रावकाचार और ज्ञानार्णव आदि। इनका ध्यानस्तव के ऊपर कितना प्रभाव रहा है, इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। इनमे पिछले द्रव्यसंग्रह, अमितगति-श्रावकाचार और ज्ञानार्णव ये तीन ग्रन्थ हैं जो प्राय: विक्रम की ११वी शताब्दी मे रचे गये हैं। इससे इतना तो प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ध्यानस्तव के कर्ता भास्करनन्दी ११वी शताब्दी के बाद हुए हैं, पर वे उसके कितने बाद हुए हैं, इसका निर्णय तब तक नही किया जा सकता जब तक कि कुछ उपयुक्त सामग्री सुलभ न हो सके।

ग्रन्थ का विषय परिचय

जैसा कि ग्रन्थ का नाम है 'ध्यानस्तव' तदनुसार ही उसमें जिनस्तुति के रूप में ध्यान की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार का अपना अभिप्राय ग्रन्थकार ने मंगल के रूप में ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही व्यक्त कर दिया है। उन्होने सर्वप्रथम वहा यही कहा है कि मैं (भास्करनन्दी) आत्मसिद्धि के लिये योग से सम्पन्न स्तवनो के द्वारा अनन्त गुणो से व्याप्त परमात्मा की स्तुति करता हूं (१-२)। आगे उक्त आत्मसिद्धि को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि आसक्ति से रहित सम्यग्दृष्टि जीव के जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक निज आत्मा की उपलब्धि होती है उसका नाम सिद्धि है। वह स्वात्मोपलब्धि शुद्ध ध्यान के ही उपयोग से होती है, उसके बिना वह सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से फिर भी उस आत्मसिद्धि के विषय में यह कहा गया है कि अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो अनन्त ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है या स्वात्मसंवेदन होता है उसे हे भगवन्! आप के द्वारा सिद्धि कहा गया है (३-४)। आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है उसका प्रतिभास यदि किसी को समाधि मे स्थित होने पर नही होता है तो मोह स्वभाव (अज्ञानस्वरूप) होने के कारण उसे ध्यान नही कहा जा सकता है (५)।

ध्यान के लक्षण को दिखलाते हुए उसके जो आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये है उनमे प्रथम दो ससार के कारण तथा अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं (६-८)। अनन्तर उक्त आर्त और रौद्र ध्यानो के स्वरूप को दिखलाकर उनके स्वामियो का भी निर्देश किया गया है (९-११)।

धर्म्यध्यान के प्रसंग मे प्रथमत. जिनाज्ञा, अपाय, कर्मविपाक और लोकसस्थान के विचार को धर्म कहकर तत्पश्चात् विकल्प रूप मे उत्तम क्षमा आदि को, वस्तुस्वरूप को, सम्यग्दर्शनादि को और मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म का लक्षण बतलाते हुए उससे अनपेत ध्यान को धर्म्यध्यान कहा गया है।

१. त. वृत्ति की प्रस्तावना पृ ४७-४८.
२. महावीर स्मारिका १९७२, खण्ड २, पृ. २१-२२.

साथ ही वहां यह भी सूचित किया गया है कि मुख्य धर्म्यध्यान उपशमक और क्षपक इन दोनों श्रेणियों के पूर्व अप्रमत्त के, और गौण धर्म्यध्यान प्रमत्तादि तीन के—प्रमत्तसंयत, संयतासयत और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन के— होता है (१२-१६)।

शुक्लध्यान के प्रसंग में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अतिशय शुद्ध जो धर्म्यध्यान है वही शुक्लध्यान है जो दोनों श्रेणियो में होता है। वह चार प्रकार का है। उन चार भेदो में प्रथम वितर्क, वीचार और पृथक्त्व से सहित तथा इसके विपरीत दूसरा वितर्क से सहित व वीचार से रहित होकर एकत्व से युक्त होता है। वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और पृथक्त्व का अर्थ विभिन्न अर्थों का प्रतिभास है। योग, शब्द और अर्थ के सक्रम को वीचार कहा जाता है। ये दोनो शुक्लध्यान पूर्ववेदी (श्रुतकेवली) के होते हैं। योग की अपेक्षा वे क्रम से तीनो योग वाले और किसी एक ही योग वाले के होते हैं। तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती शुक्लध्यान शरीर की सूक्ष्म क्रिया से युक्त सयोग केवली के होता है। समुच्छिन्नक्रिय-अनिवर्ती नाम का चौथा शुक्लध्यान समस्त आत्मप्रदेशो की स्थिरता से युक्त अयोग केवली के होता है (१६-२१)।

यहां यह शका उपस्थित हुई है कि अनेक पदार्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता जब मोह के नष्ट हो जाने पर सर्वज्ञ जिनके सम्भव नही है तब वैसी अवस्था मे उक्त चिन्ता के निरोधस्वरूप वह ध्यान सर्वज्ञ के कैसे सम्भव है? इसके समाधान मे यह कहा गया है कि सयोग और अयोग केवलियो के जो देशत: या पूर्णरूप से योगो का निरोध होता है वही उनका ध्यान है। अथवा भूतपूर्वप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उनके ध्यान का सद्भाव समझना चाहिए (२२-२३)।

आगे पूर्वोक्त सब ध्यान को फिर से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है (२४)। उनमे से पिण्डस्थ ध्यान मे अनेक अतिशयो व प्रातिहार्यादि से विभूषित होकर कर्म को भस्मसात् करते हुए अपने शरीर मे स्थित अरहन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है (२५-२८)। पदस्थ ध्यान मे ध्याता एकाग्रतापूर्वक अरहन्त के नामपदो से सयुक्त मत्र को जपता है (२९)। रूपस्थ ध्यान उस योगी के कहा गया है जो जिनेन्द्र के नामाक्षर और धवल प्रतिबिम्ब का भिन्न ध्यान कर रहा हो। अथवा जो शुद्ध, धवल, आत्मा से भिन्न व प्रातिहार्यादि से विभूषित शरीर से सहित अरहन्त का ध्यान करता है उसके ध्यान को रूपस्थ ध्यान समझना चाहिए (३०-३१)। जो अपने मे स्थित, शरीर प्रमाण, ज्ञान-दर्शनस्वरूप, हर्ष-विषाद से रहित और कर्म-मल से निर्मुक्त आत्मसंवेद्य परमात्मा का ध्यान करता है उसके मोक्ष का कारणभूत रूपस्थ ध्यान कहा गया है (३२-३६)। यहा ध्यान का कथन समाप्त हो जाता है। यह ध्यानविषयक वर्णन चूंकि जिन देव को लक्ष्य करके उनकी स्तुति के रूप मे किया गया है, अतएव यहा 'देव' और 'हे प्रभो' आदि सम्बोधन पदो के साथ 'त्वया उक्ता' व 'त्वया गीतम्' आदि पदो का उपयोग किया है।

आगे जाकर बहिरात्मा और अन्तरात्मा के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि हे देव! जो शरीरादि के विषय मे ममकार और अहकार बुद्धि को रखता है वह बहिरात्मा कहलाता है और वह आत्मविमुख होने से आपको नही देख सकता है (३७)। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त होकर प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से यथार्थरूप में जीवादि नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों और पाच अस्तिकायो के साथ शरीर व आत्मा के भेद को जानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं। वह आपके देखने मे सदा समर्थ है (३८-३९)।

इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्मा जीवो के स्वरूप को दिखला कर आगे क्रम से प्रसंगप्राप्त उक्त नौ पदार्थों (४०-५६), सात तत्त्वो (५७), छह द्रव्यों (५८ ६४), पांच अस्तिकायों (६५-६७), प्रमाण (६८), नय (६९-७२) और निक्षेप (७३ ७६) का विवेचन किया गया है।

तत्पश्चात् अन्तरात्मा के प्रसंग मे जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का निर्देश किया गया था उन तीनो का भी क्रम से (७७-८८, ८९ व ९०-९१) विवेचन किया गया है। अनन्तर उक्त

सम्यग्दर्शनादि तीन को समुदित रूप में मोक्ष का कारण बतलाकर ग्रन्थकार ने स्तुतिविषयक अपनी असमर्थता को व्यक्त करते हुए यह कहा है कि हे देव ! आप रुष्ट या सतुष्ट होकर यद्यपि किसी का कुछ भी नहीं करते हैं, फिर भी मनुष्य आपके विषय मे एकाग्रचित्त होने से स्वयमेव उसका फल प्राप्त करता है। मैंने यह जो कुछ भी स्तुति के रूप में कहा है वह ध्यानविषयक भक्ति के वश होकर ही कहा है, न कि कवित्व के अभिमानवश। यदि मैं अल्पज्ञ होने से इसमें कुछ स्खलित हुआ हूं तो विशिष्ट निर्मल बुद्धि के धारक विद्वान् उसे शुद्ध कर लें (९२-९८)।

अन्त मे ग्रन्थकर्ता भास्करनन्दी ने अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए इतना मात्र कहा है कि शरीर की ओर से अत्यन्त निःस्पृह व दुश्चर तपश्चरण करने वाले एक सर्वसाधु हुए। उनके एक शिष्य श्रुत-समुद्र के पारगामी जिनचन्द्र हुए। उनके भास्करनन्दी नामक शिष्य ने आत्मचिन्तन के लिये ध्यान से समन्वित इस स्तवन को रचा है (९९-१००)।

ध्यानस्तव पर पूर्व साहित्य का प्रभाव

सर्वप्रथम यहा यह स्मरणीय है कि ध्यानस्तव के कर्ता भास्करनन्दी ने तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर एक सुखबोधा नाम की सुबोध वृत्ति रची है। इस वृत्ति की आधार उक्त तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर पूर्व में रची गई सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महत्त्वपूर्ण टीकायें रही हैं। प्रस्तुत ध्यानस्तव मे ध्यान व उसके प्रसग से जीवाजीवादि नौ पदार्थों, सात तत्त्वो, छह द्रव्यो, प्रमाण-नय-निक्षेपों और मोक्ष के मार्गभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान एव चारित्र का जो विवेचन किया गया है उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीकायें रही हैं। उनके अतिरिक्त पूर्वनिर्दिष्ट (पृ. ७५) अन्य भी जो ग्रन्थ उसके आधारभूत रहे हैं उनका प्रस्तुत ध्यानस्तव से कहा कितना सम्बन्ध रहा है, इसका यहा विचार किया जाता है।

१ **प्रवचनसार**—ध्यानस्तव के अन्तर्गत १४वें श्लोक मे मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म कहा गया है। इसका आधार प्रवचनसार की यह गाथा रही है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥ १-७.

२ **पचास्तिकाय**—ध्यानस्तव (४०) में जीवाजीवादि नौ पदार्थों का जिस क्रम से निर्देश किया गया है वह उनका क्रम पचास्तिकाय मे उपलब्ध होता है। यथा—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
सवर णिज्जर बंधो मोक्खो य हवति ते अट्ठा॥१०८॥

३ **समयसार**— यही उनका क्रम समयसार (गा. १५) मे भी देखा जाता है। यह उनका क्रम तत्त्वार्थसूत्र (१-४) में निर्दिष्ट उनके क्रम से भिन्न है।

४ **तत्त्वार्थसूत्र**—ध्यानस्तव (८-२१) में जो ध्यान के स्वरूप व उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है वह तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण (९, २७-४४) से प्रभावित है।

५ **रत्नकरण्डक**— ध्यानस्तव के श्लोक १४ मे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा गया है वह रत्नकरण्डक का अनुसरण करता है। रत्नकरण्डक में उपयुक्त 'सद्दृष्टि ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु' इस श्लोक (३) के अन्तर्गत 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि' पद को ध्यानस्तव मे जैसा का तैसा ले लिया गया है[1]।

६ **स्वयम्भूस्तोत्र**—ध्यानस्तव के ९३वें श्लोक में यह कहा गया है कि हे देव ! आप अनन्त गुणो से युक्त हैं, फिर भला मैं आपकी स्तुति—उन गुणो का कीर्तन—कैसे कर सकता हूं ? फिर भी मैंने

---

१. तत्त्वानुशासन (५१) में रत्नकरण्डक के उक्त श्लोक के इस पूर्वार्ध को अविकल रूप मे ग्रहण कर लिया गया है।

जो इस प्रकार से स्तुति की है वह ध्यान के अनुराग वश ही की है। यह कथन स्वयम्भूस्तोत्र के निम्न श्लोकों से प्रभावित है—

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ ८६.
तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥ ८७.

(इसका श्लोक १५वां और ७०वां भी द्रष्टव्य है)

ध्यानस्तव के ६४ व ६६वें श्लोक मे जो यह कहा गया है कि हे देव ! आप रुष्ट या सन्तुष्ट होकर यद्यपि किसी का कुछ भी बुरा भला नही करते हैं, फिर भी मनुष्य एकाग्रचित्त होकर आपका ध्यान करने से समुचित फल को प्राप्त करता है, उसका आधार स्वयम्भूस्तोत्र के ये श्लोक रहे हैं--

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७.
सुहृत्त्वयि श्री-सुभगत्वमश्नुते द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो ! पर चित्रमिदं तवेहितम् ॥६९.

७ **युक्त्यनुशासन**—ध्यानस्तव के पूर्वोक्त ६६वें श्लोक का अभिप्राय युक्त्यनुशासन के भी श्लोक २-३ के समान है।

८ **सर्वार्थसिद्धि**—ध्यानस्तव (६) मे नाना अर्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता के एक अर्थ में नियंत्रित करने को जो ध्यान का लक्षण कहा गया है वह सर्वार्थसिद्धि (९-२७) मे निर्दिष्ट ध्यान के इस लक्षण से प्रभावित है—**नानार्थावलम्बनेन चिन्ता** परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते।

ध्यानस्तव के ९१वें श्लोक मे कर्मादान की निमित्तभूत क्रियाओ के निरोध को जो सम्यक्चारित्र कहा गया है वह सर्वार्थसिद्धि मे निर्दिष्ट (१-१) चारित्र के इस लक्षण से प्रभावित है—ससारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत· **कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्**।

आगे ध्यानस्तव के ९२वें श्लोक मे औषधि का उदाहरण देते हुए सम्यग्दर्शनादि तीन को समस्त रूप मे मोक्ष का कारण कहा गया है। यह अभिप्राय सर्वार्थसिद्धि सूत्र १-१ की उत्थानिका मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है— × × × व्याध्यभिभूतस्य तद्विनिवृत्त्युपायभूतभेषजविषयव्यस्तज्ञानादिसाधनत्वाभाववद् व्यस्त ज्ञानादिर्मोक्षप्राप्त्युपायो न भवति। किं तर्हि ? तत्त्रितय समुदितमिति।

९ **समाधिशतक**—ध्यानस्तव (३६) मे जो बहिरात्मा के स्वरूप का निर्देश किया गया है वह समाधिशतक के इस लक्षण से प्रभावित है—बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्ति × × × (५)। यही भाव समाधिशतक के ७वें व ५४वें श्लोक मे भी प्रगट किया गया है।

१० **तत्त्वार्थवार्तिक**--ध्यानस्तव (१५-१६) मे धर्म्यध्यान के स्वामियो का निर्देश करते हुए उसका सद्भाव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसयत तक चार गुणस्थानों मे प्रगट किया गया है। इसका आधार तत्त्वार्थवार्तिक का वह धर्मध्यान के स्वामिविषयक सन्दर्भ (९, ३६, १३-१५) रहा है[१]।

११ **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**—ध्यानस्तव श्लोक ६ मे जो यह कहा गया है कि एकाग्रचिन्तानिरोध

१. आदिपुराण (२१, ५५-५६), तत्त्वानुशासन (४६) और ज्ञानार्णव (२८, पृ. २८२) में भी जो इसी प्रकार से उस धर्मध्यान के स्वामियो का निर्देश किया गया है उसका आधार भी मूलतः तत्त्वार्थवार्तिक का वही प्रकरण रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वानुशासन के ४६वें श्लोक में गृहीत 'तत्त्वार्थ' पद के द्वारा सम्भवतः उसकी सूचना भी कर दी गई है।

रूप ध्यान जड़ता अथवा तुच्छता स्वरूप नहीं है, उसका आधार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का वह प्रसंग रहा है[1]।

१२ तत्त्वानुशासन—१ ध्यानस्तव में ध्यान के लक्षण के पूर्व यह कहा गया है कि समाधि में स्थित योगी को यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं प्रतिभासित होती है तो मोहस्वभाव होने के कारण उसके ध्यान को यथार्थ ध्यान नहीं कहा जा सकता है (५)।

इसका आधार तत्त्वानुशासन का निम्न श्लोक रहा है जो शब्द और अर्थ दोनों से ही समान है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद् ध्यानं मूर्च्छावान्मोह एव सः।।१६९।।

२ ध्यानस्तव मे ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि चिन्ता के निरोध-स्वरूप वह ध्यान न तो जडतारूप है और न तुच्छ अभाव स्वरूप भी है, किन्तु वह ज्ञानस्वरूप आत्मा के संवेदनरूप है (६-७)।

ध्यानस्तव का यह कथन मूलतः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से प्रभावित रहा है[2]। साथ ही वह तत्त्वानुशासन के निम्न श्लोको से भी प्रभावित है।

चिन्ताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव।
दृग्बोध-साम्यरूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः।। १६०।।
स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
[3]नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ।।२३४।।

३ ध्यानस्तव मे विकल्परूप से पाच प्रकार धर्म के स्वरूप को दिखलाते हुए उससे अनपेत (सम्बद्ध) ध्यान को धर्म्यध्यान कहा गया है (१२-१५)।

यह अभिप्राय तत्त्वानुशासन के इन श्लोको मे निहित है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद् ध्यानमभ्यधुः ।।५१।।
आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद् धर्म्यमित्यपि ।।५२।।
शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ।।५३।।
ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं तद् धर्म्यध्यानमिष्यते।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ।।५४।।
यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद् धर्मो दशतयः परः।
ततोऽनपेतं यद् ध्यानं तद् वा धर्म्यमितीरितम् ।।५५।।

४ उक्त दोनो ग्रन्थो मे निश्चय और व्यवहार नयो का स्वरूप समान रूप में इस प्रकार कहा गया है—

अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः।। तत्त्वा. २९.
अभिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा।
व्यवहारः पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः।। ध्या. स्त. ७१.

---

१. देखिये ध्यानस्तव श्लोक ६ का विवेचन, पृ. ५.; यह अभिप्राय तत्त्वानुशासन में भी श्लोक १६० व २३४ के द्वारा प्रगट किया गया है।

२. त. श्लो. ९-२७, ५-६, पृ. ४९८-९९.

३. यह उत्तरार्ध भाग सोमदेव विरचित उपासकाध्ययन (११३) मे जैसा का तैसा उपलब्ध होता है।

इसके पूर्व ध्यानस्तव के ७०वें श्लोक में इन दोनों नयों के लक्षण में यह कहा जा चुका है कि जो यथावस्थित द्रव्य और पर्याय का निश्चय कराता है उसे निश्चयनय तथा इससे विपरीत को व्यवहार नय कहा जाता है। अगले श्लोक (७१) में चूंकि उन दोनों नयो का लक्षण प्रकारान्तर से पुनः कहा गया है, इसलिए उसकी सूचना करने के लिए यहां 'अथवा' पद का उपयोग किया गया है, जिसकी कि तत्त्वानुशासन में आवश्यकता नहीं रही।

१३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा—ध्यानस्तव के अन्तर्गत १३वें श्लोक मे 'उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः' यह निर्देश करते हुए उत्तम क्षमादिरूप दस धर्मों को व वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा गया है।

यह अभिप्राय कार्तिकेयानुप्रेक्षा की इस गाथा मे निहित है—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७८॥

१४ द्रव्यसंग्रह—जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रगट है, मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (११वी शती) विरचित द्रव्यसंग्रह मे जीवादि छह द्रव्यो की सक्षेप से प्ररूपणा की गई है। उसमे समस्त गाथायें ५८ हैं। उनमे प्रारम्भ की २७ गाथाओं मे उक्त छह द्रव्यो की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् ११ (२८-३८) गाथाओ मे जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की प्ररूपणा की गई है। अन्तिम मोक्ष पदार्थ का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार से उस मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं तथा निश्चय से इन तीनो स्वरूप निज आत्मा है। इस प्रकार प्रसग पाकर यहा उक्त सम्यग्दर्शनादि तीन का भी विवेचन करते हुए (३९-४६) यह कहा गया है कि निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेद रूप उस मोक्षमार्ग को चूंकि मुनि जन ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त करते हैं, अतएव प्रयत्नशील होकर उस ध्यान का अभ्यास करना योग्य है[1] (४७)। इस प्रसग से यहां आगे ध्यान की भी प्ररूपणा की गई है।

प्रस्तुत ध्यानस्तव में ध्यान की प्ररूपणा करते हुए आगे यह कहा गया है कि हे देव! जो अन्तरात्मा प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वो, छह द्रव्यों, पाच अस्तिकायो और शरीर व आत्मा के भेद को यथार्थरूप से जानता है वही आप को देख सकता है—आप का ध्यान करने मे समर्थ होता है। इस प्रसग से जो वहा उक्त पदार्थों आदि का निरूपण किया गया है वह पूर्वोक्त द्रव्यसग्रह से काफी प्रभावित है। यथा—

१ द्रव्यसग्रह मे व्यवहार और निश्चय नय की अपेक्षा जीव के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार से जिसके इन्द्रिय, बल, आयु और आन-प्राण (श्वासोच्छ्वास) ये चार प्राण पाये जाते हैं वह जीव कहलाता है तथा निश्चय नय की अपेक्षा जिसके चेतना पायी जाती है उसे जीव कहा जाता है[2]।

ध्यानस्तव मे जीव का लक्षण प्रथमतः पदार्थप्ररूपणा के प्रसग मे और तत्पश्चात् द्रव्यप्ररूपणा के प्रसग मे निर्दिष्ट किया गया है। पदार्थ के प्रकरण में जो उसका चेतना यह लक्षण निर्दिष्ट किया गया है[3] वह द्रव्यसग्रह के अनुसार निश्चय नयाश्रित लक्षण है तथा द्रव्य के प्रकरण में जो उसका 'प्राणधारण सयुक्त' यह लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वह द्रव्यसंग्रह के अनुसार उसका व्यवहार नयाश्रित लक्षण है[4]।

---

१. तत्त्वानुशासन में भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है। दोनों की समानता दर्शनीय है—
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ तत्त्वानु. ३३.
दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ द्र. सं. ४७.

२. द्रव्यसंग्रह ३. ३. ध्यानस्तव ४१. ४. ध्यानस्तव ५६.

२ द्रव्यसंग्रह में उपयोगस्वरूप जीव के लक्षण में समाविष्ट चेतना को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार नय की अपेक्षा आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन यह जीव का सामान्य लक्षण है, किन्तु निश्चय की अपेक्षा इस भेदकल्पना से रहित शुद्ध ज्ञान व दर्शन ही जीव का लक्षण है[१]।

ध्यानस्तव मे भी उस चेतना के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि वह चेतना ज्ञान और दर्शन से अनुगत है। आगे उस ज्ञान के सत्य व असत्य की अपेक्षा आठ (५+३) और दर्शन के चार भेदो का लक्षणनिर्देशपूर्वक व्याख्यान किया गया है[२]।

३ द्रव्यसंग्रह मे यथाप्रसग यह निर्देश किया गया है कि छद्मस्थो के जो ज्ञान होता है वह दर्शन-पूर्वक होता है, परन्तु केवली भगवान् के वे दोनो (ज्ञान-दर्शन) साथ ही होते हैं[३]।

उक्त ज्ञान-दर्शन की पूर्वापरता का उल्लेख ध्यानस्तव मे भी उसी प्रकार से किया गया है[४]।

४ द्रव्यसंग्रह मे आस्रव का निरूपण करते हुए उसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के जिस परिणाम के द्वारा कर्म का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, वह मिथ्यात्व आदि के भेद-प्रभेदो से बत्तीस (५+५+१५+३+४) प्रकार का है। ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल द्रव्य का आगमन होता है उसे द्रव्यास्रव कहा जाता है[५]।

लगभग इसी प्रकार का अभिप्राय ध्यानस्तव में भी संक्षेप से इस प्रकार प्रगट किया गया है—जीव के जिस भाव के द्वारा कर्म का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, जो रागादि अनेक भेदों स्वरूप है। योग अथवा द्रव्य कर्मों के आगमन को आस्रव (द्रव्यास्रव) जानना चाहिए[६]।

५ द्रव्यसग्रह मे सवर के दो भेदो का निर्देश करते हुए कर्मास्रव के रोकने के कारणभूत चेतन परिणाम को भावसवर और कर्मास्रव के रुक जाने पर जो द्रव्य कर्म का निरोध होता है उसे द्रव्यसंवर कहा गया है। आगे यहा भावसवर के ये भेद कहे गये है—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और अनेक भेदभूत चारित्र[७]।

ध्यानस्तव मे भी यही कहा गया है कि आस्रव का जो निरोध होता है उसे संवर कहते हैं। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है, जो तप व गुप्तियो आदि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार वह अनेक प्रकार का है[८]।

६ इसी प्रकार द्रव्यसग्रह मे दो प्रकार की निर्जरा का भी निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि यथाकाल—कर्मस्थितिकाल के अनुसार—अथवा तप के द्वारा जिसका रस (परिणाम) भोगा जा चुका है वह कर्मपुद्गल जिस भाव के द्वारा आत्मा से पृथक् होता है उसका नाम भावनिर्जरा है, तथा कर्म-पुद्गल का जो आत्मा से पृथक् होना है उसका नाम द्रव्यनिर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की है।

ध्यानस्तव मे भी इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि तप के द्वारा अथवा काल के अनुसार जिसकी शक्ति—फलदानसामर्थ्य—को भोगा जा चुका है वह कर्म जो विनष्ट—आत्मप्रदेशो से पृथक्—होता है उसका नाम निर्जरा है, जो चेतन-अचेतनस्वरूप है—भाव व द्रव्य के भेद से दो प्रकार की है।

उक्त दोनों ग्रन्थों के इन पद्यो मे जो शब्द व अर्थ की समानता है वह दर्शनीय है—

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ द्र. सं. ३६.

---

१. द्रव्यसंग्रह ६.

२. ध्यानस्तव ४१-४७. (तुलना के लिए द्र. सं. की ४-५ व ४२-४३ गाथायें भी द्रष्टव्य हैं)

३. द्रव्यसंग्रह ४४.

४. ध्यानस्तव ४८.

५. द्रव्यसग्रह २६-३१.

६. ध्यानस्तव ५२.

७. द्रव्यसंग्रह ३४-३५.

८. ध्यानस्तव ५३.

तयोर्यथास्वकालाभ्यां कर्म यद् भुक्तशक्तिकम् ।
गलत् तन्निर्जराभिख्यं चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ध्या. स्त. ५४.

७ इसी प्रकार पुण्य, पाप, बन्ध व मोक्ष के स्वरूप का भी कथन उक्त दोनो ग्रन्थो मे प्रायः समान रूप से किया गया है[1] ।

उक्त दोनों ग्रन्थो मे पदार्थविषयक नौ भेदो के क्रम मे अवश्य कुछ विशेषता रही है । द्रव्यसंग्रह में जहां तत्त्वार्थसूत्र[2] के अनुसार जीव व अजीव के भेदभूत आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों को पुण्य और पाप के साथ नौ पदार्थ रूप निर्दिष्ट किया गया है[3] वहां ध्यानस्तव मे पचास्तिकाय[4] व समयसार[5] आदि के अनुसार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इस क्रम से उक्त नौ पदार्थों का निर्देश किया गया है[6] ।

८ द्रव्यसग्रह के समान ध्यानस्तव मे पुण्य और पाप को भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का कहा गया है[7] । ध्यानस्तव मे निर्दिष्ट पुण्य-पाप का लक्षण पचास्तिकाय से भी अधिक समानता रखता है[8] ।

बन्ध व सवर के द्रव्य व भाव रूप इन दो भेदो का निर्देश द्रव्यसग्रह से पूर्व कुछ अन्य ग्रन्थो मे[9] भी किया गया है, पर वह समस्त रूप से जिस प्रकार द्रव्यसग्रह मे पाया जाता है उस प्रकार से वह अन्य ग्रन्थो मे नही उपलब्ध होता है । इससे यही प्रतीत होता है कि ध्यानस्तवकार ने उक्त सभी आस्रव आदि के उन दो भेदो की प्ररूपणा द्रव्यसंग्रह के आधार से ही की है[10] ।

९ द्रव्यसग्रह मे निश्चय सम्यक्चारित्र के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव के ससार के कारणभूत आस्रव के नष्ट करने के लिए जो बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओ का निरोध होता है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है[11] ।

---

१. द्र. स.—बन्ध ३२, मोक्ष ३७; ध्या. स्त.—बन्ध ५५, मोक्ष ५६.

२. त. सू. १-४

३. आसव बंधण सवर णिज्जर-मोक्खा सपुण्ण-पावा जे ।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥ द्र. स. २८

४. जीवाजीवा भावा पुण्ण पाव च आसवं तेसिं ।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ पं. का. १०८.

५. समयसार १५. ६. ध्या. स्त. ४०.

७. द्र. स. ३८; ध्या स्त. ५०-५१, ८ पं. का. १३२.

९. जैसे बन्ध के दो भेद—(क) बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति । तत्र द्रव्यबन्ध. कर्म-नोकर्म-परिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः । तत्कृत. क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः । त. वा. २, १०,२ ; (ख) अयमात्मा साकार-निराकारपरिच्छेदात्मकत्वात् परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजात येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव । योऽयमुपरागः स खलु स्निग्ध-रूक्षस्थानीयो भावबन्ध· । अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिक कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः । प्र. सा. अमृत. वृ. २-८४.; (ग) पं. का. जय. वृ. १०८.; (घ) आचा. सा ३-३७.
सवर के दो भेद—(क) ससारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसवर । तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः । स. सि. ९-१.; त. वा. ९, १, ८-९.; (ख) ह. पु. ५८-३००.; (ग) योगसार-प्राभृत ५-२.

१०. तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि आदि अन्य टीकाओ के समान भास्करनन्दी ने स्वयं अपनी सुखबोधा नामक वृत्ति में भी उनकी उस रूप में प्ररूपणा नही की है ।

११. द्रव्य सं. ४६.

लगभग इसी प्रकार से उसके लक्षण का निर्देश करते हुए ध्यानस्तव में भी यह कहा गया है कि आसक्ति से रहित होकर समीचीन श्रद्धा के धारक (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्ज्ञानी जीव के ससार के कारण को नष्ट करने के लिए कर्मादान की कारणभूत क्रियाओं का जो निरोध होता है उसका नाम सम्यक्-चारित्र है[1]।

द्रव्यसग्रह मे ध्यान के प्रसंग मे यह कहा गया है कि मुनि जन चूंकि निश्चय व व्यवहार रूप दोनो प्रकार के मोक्षमार्ग को ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त किया करते है, इसीलिए प्रयत्नशील होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए[2]। यह कहते हुए आगे उसके विषय मे इतना मात्र निर्देश किया गया है कि यदि विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त की स्थिरता अभीष्ट है तो इष्ट व अनिष्ट विषयों में मोह, राग और द्वेष को छोड देना चाहिए[3]।

इसमे ध्यान की सिद्धि के लिए जो चित्त की स्थिरता की आवश्यकता प्रगट की गई है वह ध्यान के लक्षण की ज्ञापक है, कारण यह है कि चित्त की स्थिरता का ही नाम तो ध्यान है। साथ ही वहां जो मोह, राग और द्वेष के परित्यागविषयक प्रेरणा की गई है उससे ध्याता के स्वरूप का बोध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो इष्ट-अनिष्ट विषयो से राग, द्वेष एव मोह (आसक्ति) को छोड़ चुका है वही एकाग्रचिन्तानिरोध स्वरूप ध्यान का ध्याता होता है।

यहा मूलग्रन्थकार ने ध्यान के भेद-प्रभेदो का कोई निर्देश नही किया। जैसा कि गाथा ४६ मे निर्देश किया जा चुका है, मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारणभूत होने से सम्भवतः उन्हें उस ध्यान के प्रशस्त व अप्रशस्त भेद अभीष्ट नही रहे है। फिर भी टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने गाथा ४८ मे उपर्युक्त 'विचित्त-झाणप्पसिद्धीए' पद के अन्तर्गत 'विचित्र' शब्द से अनेक प्रकार के ध्यान को ग्रहण करते हुए उसके आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदो के साथ उनमे प्रत्येक के अन्तर्भेदों का भी व्याख्यान किया है[4]। ये भेद-प्रभेद तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थो मे सुप्रसिद्ध हैं।

तदनुसार ध्यानस्तव मे भी यथास्थान उन भेद-प्रभेदो की प्ररूपणा की गई है[5]।

टीकाकार ब्रह्मदेव ने ध्यान के विशेषणरूप पूर्वोक्त 'विचित्र' शब्द से विकल्परूप मे एक श्लोक को उद्धृत करते हुए पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन ध्यान के विविध भेदो की भी सूचना की है[6]।

१५ अमितगति-श्रावकाचार—इसमे सम्यक्त्व के सराग और वीतराग इन दो भेदो के स्वरूप को दिखलाते हुए क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग और शेष दो को सराग कहा गया है। आगे यह निर्देश किया गया है कि जो सम्यक्त्व प्रशम व सवेग आदि से प्रगट होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण उपेक्षा है (२, ६५-६६)।

अमितगतिश्रावकाचार के समान ध्यानस्तव (८२-८४) मे भी सम्यक्त्व के उक्त दो भेदों का निर्देश करते हुए एक को सरागाश्रित और दूसरे को वीतरागाश्रित बतलाया है। वहा सराग सम्यक्त्व का लक्षण प्रशम-सवेगादि से प्रगट होना और वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण विशुद्धि मात्र—राग-द्वेष के अभावस्वरूप उपेक्षा—कहा गया है[7]। दोनो मे कुछ शब्दसाम्य भी इस प्रकार है—

---

१. ध्यानस्तव ९०-९१. २. देखो पीछे पृ ८० का टिप्पण १.

३. मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु। थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ द्र सं. ४८.

४ बृहद्द्र. टी ४८, पृ. १७४-७७. ५. ध्यानस्तव ८-२१.

६. बृहद्द्र. टी. ४८, पृ. १८५; ध्यानस्तव २४-३६.

७. मूल मे यह दोनो ग्रन्थों का कथन सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थवार्तिक पर आधारित है। यथा—तद् द्विविधं सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्म-विशुद्धिमात्रमितरत्। स. सि. १-२; त. वा. १, २, २९-३१.

संवेग-प्रशमास्तिक्य-कारुण्यव्यक्तलक्षणम् ।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥ अ. श्रा. २-६६.
प्रशमादथ संवेगात् कृपातोऽप्यास्तिकत्वत ।
जीवस्य व्यक्तिमायाति तत् सरागस्य दर्शनम् ॥ ध्या स्त ८३.
पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाख्यं मतम् ॥ ८४ पूर्वार्ध

दोनो ग्रन्थों मे धर्म, अधर्म और एक जीव के प्रदेशो की सख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है—

धर्माधर्मैकजीवानामसख्येयाः प्रदेशका ।
अनन्तानन्तमानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः ॥ अ श्रा. ३-३२.
धर्माधर्मैकजीवानां सख्यातीतप्रदेशता ।
व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्गलानां त्रिधा तथा ॥ ध्या. स्त. ६७.

दोनों ग्रन्थो मे द्रव्यसंवर और भावसवर का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
भाव-द्रव्यविकल्पेन द्विविध. कृतसंवरैः ॥ अ श्रा. ३-५६.
आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्य-भावाभिधात्मक. ।
तपोगुप्त्यादिभिः साध्यो नैकधा संवरो हि स ॥ ध्या स्त ५३.

अमितगति-श्रावकाचार के ३-३८, ३-५४, ३-६३ और १५-१७ इन श्लोको का भी क्रम से ध्यानस्तव के ५२, ५५, ५४ और १३-१६ इन श्लोको से मिलान किया जा सकता है।

अमितगति-श्रावकाचार मे जिन पदस्थ व पिण्डस्थ आदि ध्यानविशेषो का वर्णन किया गया है उनका वर्णन ध्यानस्तव मे भी किया है। यथा—

ध्यान	अ. श्रा.	ध्यानस्तव
पदस्थ	१५, ३१-४९	२९
पिण्डस्थ	१५, ५०-५३	२५-२८
रूपस्थ	१५-५४	३०-३१
रूपातीत	१५, ५५-५६	३२-३६

दोनो में शब्दार्थ की समानता—

अ. श्रा. १५-५० पू.—अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यैरलङ्कृतम् ।
ध्यास्तव २७—विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम् ।
अनन्तवीर्यसयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ॥
अ. श्रा. १५-५० उ.—प्रातिहार्याष्टकोपेतं; ध्या. स्त २६—प्रातिहार्यसमन्वितम् ।
अ श्रा. १५-५१ पू.—शुद्धस्फटिकसंकाशशरीरमुक्ततेजसम् ।
ध्यानस्तव २५ पू.—स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्ताविद्याविलेजसम् ।
अ. श्रा. १५-५२ —विचित्रातिशयाधार ××× (पू)।
ध्यानस्तव २६ —सर्वातिशयसम्पूर्णं ××× (पू)
अ. श्रा. १५-५४ —प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः।
ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थ ध्यानमिष्यते ॥
ध्यानस्तव ३०—तव नामाक्षर देव प्रतिबिम्बं च योगिनः।
ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यान रूपस्थमीडितम् ॥

१६ ज्ञानार्णव—आचार्य शुभचन्द्र (वि. की ११वी शती) विरचित ज्ञानार्णव यह एक ध्यान-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह सम्भवत ध्यानस्तवकार के समक्ष रहा है। ज्ञानार्णव मे जहाँ ध्यान का

वर्णन विस्तार से किया गया है वहां ध्यानस्तव मे उसका वर्णन बहुत संक्षेप से किया गया है। फिर भी वह अपने आपमे परिपूर्ण है। उसमें ज्ञानार्णव के साथ कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। यथा—

ज्ञानार्णव में बहिरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो शरीर आदि मे आत्म-बुद्धि रखता है उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। इस बहिरात्मस्वरूप को छोडकर व अन्तरात्मा होकर विशुद्ध व अविनश्वर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। यहा उस अन्तरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो बाह्य पदार्थों का अतिक्रमण करके आत्मा मे ही आत्मा का निश्चय करता है वह अन्तरात्मा कहलाता है[1]।

ध्यानस्तव मे भी लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि जो जीव शरीर, इन्द्रिय, मन और वचन मे ममकार व अहकार बुद्धि को करता है वह बहिरात्मा कहलाता है और हे भगवन्! वह आपको देख नही सकता है—आपका ध्यान करने मे असमर्थ रहता है। इसके विपरीत जो शरीर व आत्मा मे भेद करता हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र से सम्पन्न होकर प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वो, छह द्रव्यो और पाच अस्तिकायो को यथार्थरूप मे जानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं और वह आपको देख सकता है- परमात्मा के ध्यान मे समर्थ होता है[2]।

ध्यानस्तव मे जिन पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानो का संक्षेप से विचार किया गया है उनका वर्णन ज्ञानार्णव[3] मे काफी विस्तार से किया गया है[4]। दोनो के वर्णन मे शब्द व अर्थ से कुछ समानता इस प्रकार देखी जाती है—

'**पिण्डस्थ च पदस्थं च रूपस्थ रूपवर्जितम्**' यह श्लोक का अर्ध भाग समानरूप से दोनो ग्रन्थो मे पाया जाता है[5]।

'**सर्वातिशयसम्पूर्ण**' यह पद समान रूप से ज्ञानार्णव (७८, पृ. ४०१ व २, पृ. ४०९) और ध्यान-स्तव (२६) दोनो मे देखा जाता है।

ज्ञानार्णव (१३, पृ. ४३३) मे प्रथम शुक्लध्यान का निर्देश करते हुए यह कहा गया है—**सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्व तदिष्यते**।

ध्यानस्तव (१७) मे भी उसका निर्देश इस प्रकार किया गया है—**सवितर्कं सवीचार सपृथक्त्व-मुदाहृतम्**।

---

१. ज्ञाना. श्लोक ६, ७ व १०, पृ. ३१७ १८.

२. ध्यानस्तव ३७-३९. (श्लोक ३९ मे उपयुक्त 'प्रमाण-नय-निक्षेपै' पद ज्ञानार्णव के श्लोक ८ (पृ. ३३८) मे भी उसी प्रकार पाया जाता है।

३. ज्ञानार्णव के अतिरिक्त इन चारो ध्यानों का वर्णन अन्य भी कितने ही ग्रन्थो मे किया गया है (देखिये पीछे प्रस्तावना पृ १८-२५)।

४. पृ. ३८१-४२३. (इन चारो ध्यानो का विस्तार से निरूपण योगशास्त्र के सातवें, आठवें, नौवें और दसवें इन चार प्रकाशो मे भी किया गया है, पर वह ज्ञानार्णव से सर्वथा समान है।)

५. ज्ञाना. १, पृ. ३८१ (पूर्वार्ध); ध्यानस्तव २४ (उत्त.).

विषयानुक्रमणिका

(ध्यानशतक)

(ध्यानस्तव)

—. ० :—

शुद्धि पत्र

(ध्यानशतक)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	३	गुर्णद्धय.	गुणर्द्धय:
,,	६	उपजायते—	उपजायते ।
९	१४	लेश्यापेक्षय.	लेश्यापेक्षया
१०	१०	निजकानि	निजकृतानि
१३	९	-यत्यात्मानमिति	-यन्त्यात्मानमिति
१६	८	तयोच्यते	तथोच्यते
,,	१५	पग्पाषण्ड	परपाषण्ड
१९	७	-शपद्रव	शुपद्रव
२०	५	ज्इयर	जूइयर
२०	८	गंणाधरै-	गंणधरै-
२२	५	गणधैरर्नै-	गणधरैर्नै-
,,	११	धित·	स्थित:
२२	२०	मन:पर्याज्ञानादि	मन:पर्ययज्ञानादि
२३	८	सद्धर्माविध्यक-नि	सद्धर्मावध्यकानि
,,	१५	सम्यग परिकले-	सम्यगपरिकले-
२६	२४	सूत्रार्थो-व	सूत्रार्थाव
२९	१७	भंगाइ पज्जवा	भगाइपज्जवा
४१	१०	सेलेसिका	सेलेसिका-
५०	१६-१७	बिरेको(,वो-)वध	बिरेको[चको]वध

(ध्यानस्तव)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२३	है। वह चार प्रकार का है, जो	है, जो
,,	२५	होता है ॥	होता है। वह चार प्रकार का है ॥
९	५	है तो कभी	है और कभी
,,	३४	निर्वृत्ति	निवृत्ति
१०	३	सकती	सकता
,,	७	भूल	भूत
१२	१७	चेतना लक्षणस्तत्र	चेतनालक्षणस्तत्र
१३	७	इन्द्रिय से आश्रय	इन्द्रिय के आश्रय

श्लोक ३१ मे 'देव सदेहमर्हन्तं' इस सम्भावित पाठ के अनुसार उसका अनुवाद इस प्रकार होगा—

अथवा हे देव ! जो शुद्ध, धवल, अपने से भिन्न और प्रातिहार्यादि से विभूषित सदेह—परमौदारिक शरीर से सहित—अरहन्त का ध्यान करता है उसके रूपस्थध्यान होता है।

———

श्रीमद्धरिभद्रसूरि-विरचित-वृत्त्या समन्वितं

ध्यानशतकम्

(ध्यानाध्ययनापरनामधेयम्)

ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह—

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि ।। १ ।।

वीरं शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन प्रणम्य ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योग, तत्र 'ईर गति-प्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वेह शिवमिति वीरस्तं वीरम्, किंविशिष्टं तमित्यत आह—शुच क्लमयतीति शुक्लम्, शोक ग्लपयतीत्यर्थ, ध्यायते—चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः, शुक्ल च तद् ध्यान च तदेव कर्मेन्धनदहनादग्नि शुक्लध्यानाग्नि., तथा मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगैं क्रियते इति कर्म—ज्ञानावरणीयादि, तदेवातितीव्रदु.खानलनिबन्धनत्वादिन्धन कर्मेन्धनम्, ततश्च शुक्लध्यानाग्निना दग्ध—स्व-स्वभावापनयनेन भस्मीकृत कर्मेन्धन येन स तथाविधस्तम्, 'प्रणम्य' प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थ, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा-प्रत्ययविधानात्, ध्यानाध्ययन प्रवक्ष्यामीति योग, तत्राधीयत इत्यध्ययनम्, 'कर्मणि ल्युट्' पठ्यत इत्यर्थ, ध्यानप्रतिपादकमध्ययन २, तद् याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षण वक्ष्ये—अभिधास्ये इति, किंविशिष्ट वीर प्रणम्येत्यत आह—'योगेश्वर योगीश्वर वा' तत्र युज्यन्ते इति योगा—मनोवाक्कायव्यापारलक्षणा, तैरीश्वरः—प्रधानस्तम्, तथाहि—अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति, यथोक्तम्—'दव्वमणोजोएण मणणाणीण अणुत्तराण च । ससयवोच्छित्ति केवलेण नाऊण सइ कुणइ ।।१।। रिभियपयक्खरसरला मिच्छिलरतिरिच्छसगिरपरिणामा । मणणिव्वाणी वाणी जोयणनिहारिणी ज च ।।२।। एक्का य अणेगेसि ससयवोच्छेयणे अपडिभूया । न य णिव्विज्जइ सोया

मैं शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप इंधन के जला देने वाले योगीश्वर व शरणभूत वीर को नमस्कार करके ध्यानाध्ययन को कहूंगा ।।

विवेचन—यहां ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम वीर को नमस्कार करके प्रकृत ध्यानाध्ययन—ध्यान के प्ररूपक इस ध्यानशतक ग्रन्थ—के रचने की प्रतिज्ञा की है । 'वीर' से यहां अन्तिम तीर्थंकर महावीर जिन की अथवा ज्ञानावरणादिरूप समस्त कर्म को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर लेने वाले परमात्मा की विवक्षा रही है । उस वीर की विशेषता यहां शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन, योगेश्वर अथवा योगीश्वर और शरण्य इन तीन विशेषणों के द्वारा प्रगट की गई है—

१. शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन—'शुचं क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान शोक आदि दोषों को दूर करने वाला है वह शुक्लध्यान कहलाता है । 'क्रियते इति कर्म' इस निरुक्ति के अनुसार जो मिथ्यादर्शन व अविरति आदि के द्वारा किया जाता है—बांधा जाता है—ऐसे ज्ञानावरणादिरूपता को प्राप्त पुद्गलपिण्ड को कर्म कहा जाता है । वह दुःखरूप अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए

तिप्पइ सव्वाउएणपि ॥३॥ सव्वसुरेहिंतोवि हु अहिगो कंतो य कायजोगो से। तहवि य पसतरूवे कुणइ सया पाणिसंघाए ॥४॥ इत्यादि, युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योग—धर्म-शुक्लध्यानलक्षण, स येषां विद्यत इति योगिन.—साधवस्तेषां ईश्वर, तदुपदेशेन तेषा प्रवृत्तेस्तत्सम्बन्धादिति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वर:, ईश्वर प्रभु स्वामीत्यनर्थान्तरम्, योगीश्वरम्, अथवा योगिस्मर्यं—योगिचिन्त्य ध्येयमित्यर्थ, पुनरपि स एव विशेष्यते—'शरण्यम्', तत्र शरणे साधु शरण्यस्तम्—रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववत्सलम्, रक्षकमित्यर्थ., ध्यानाध्ययन प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव। अत्राऽऽह—य शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धन स योगेश्वर एव, यश्च योगेश्वर. स शरण्य एवेति गतार्थे विशेषणे, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धन सामान्यकेवल्यपि भवति, न त्वसौ योगेश्वर., वाक्कायातिशयाभावात्, स एव च तत्त्वत शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवादुष्टमेतदपि, तथा चोभयपदव्यभिचारेऽज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरित्यल विस्तरेणेति गाथार्थ ॥ १ ॥ साम्प्रत ध्यानलक्षणप्रतिपादनायाऽऽह—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

'यद्' इत्युद्देश स्थिरम्—निश्चलम्, अध्यवसानम्—मन एकाग्रतालम्बनमित्यर्थ, 'तद्' इति निर्देशे, 'ध्यानम्' प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, ततश्चैतदुक्त भवति—यत् स्थिरमध्यवसान तद् ध्यानमभिधीयते, 'यच्चलम्' इति यत् पुनरनवस्थित तच्चित्तम्, तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति—'तद्भवेद्भावना वा' इति तच्चित्त भवेद्भावना—भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थ, वा विभाषायाम्, 'अनुप्रेक्षा वा' इति अनु—पश्चाद्भावे प्रेक्षण प्रेक्षा, सा च स्मृतिध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थ, वा पूर्ववत् 'अथवा चिन्ता' इति अथवा—शब्द प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थं चिन्तेति या खलूक्तप्रकारद्वयरहिता चिन्ता मनश्चेष्टा सा चिन्तेति

इंधन का काम करता है। इस कर्मरूप इंधन को उक्त वीर प्रभु ने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा भस्मसात् कर दिया है, अतएव उन्हें *शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन* कहा गया है।

२. योगेश्वर या योगीश्वर—योग का अर्थ है मन, वचन व काय का व्यापार। वह मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन प्रकार का है। ये तीनो योग चूंकि वीर भगवान् के अनुत्तर (असाधारण) थे, अतएव उन्हें योगेश्वर—योगो के द्वारा प्रभुता को प्राप्त—कहा गया है। मूल गाथा मे 'जोईसर' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका संस्कृत रूप 'योगेश्वर' के समान 'योगीश्वर' भी होता है—जिसके आश्रय से आत्मा केवलज्ञानादि से युक्त होता है उसका नाम योग (ध्यान) है, जो शुक्लध्यान स्वरूप है। ऐसे योग से युक्त योगियो—मुनियों—के आश्रय से उक्त वीर भगवान् प्रभुता को प्राप्त थे या उनके प्रभु थे, इसीलिए वे योगीश्वर थे। उक्त 'जोईसर' शब्द का तीसरा संस्कृत रूप 'योगिस्मर्य' भी हो सकता है। तदनुसार वे योगी जनों के द्वारा स्मर्य—उनके ध्यान के विषय थे।

३. शरण्य—राग-द्वेषादि से पराभूत जीवों के रक्षक होने से—अपने दिव्य उपदेश के द्वारा उक्त राग-द्वेषादि से उन्हें मुक्त कराने के कारण—तीसरा विशेषण 'शरण्य' भी दिया गया है ॥१॥

आगे ध्यान का लक्षण कहा जाता है—

जो स्थिर अध्यवसान—एकाग्रता को प्राप्त मन है—उसका नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो चवल (अस्थिर) चित्त है उसे सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। इस तरह वह तीन प्रकार का है ॥

विवेचन—यद्यपि सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता में भेद नहीं है; पर विशेष रूप में वे तीनो भिन्न भी हैं—भावना से ध्यानाभ्यास की क्रिया अभिप्रेत है। अनु अर्थात् पश्चाद्भाव में जो प्रेक्षण है उसका नाम अनुप्रेक्षा है, अभिप्राय उसका यह है कि स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट होने पर जीव के चित्त की जो चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा समझना चाहिए। उक्त भावना और अनुप्रेक्षा इन दोनों से रहित जो मन की प्रवृत्ति होती है उसे चिन्ता कहा जाता है ॥२॥

गाथार्थः ॥२॥ इत्थं ध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुना ध्यानमेव काल-स्वामिभ्यां निरूपयन्नाह—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥

इह मुहूर्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते, उक्तं च—कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु । समया य असंखेज्जा भवंति ऊसास-नीसासा ॥१॥ हट्ठस्स अणवगल्लस्स णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो । एगे ऊसास-नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥२॥ सत्त पाणूणि से थोवे सत्त थोवाणि से लवे । लवाणं सत्तहत्तरीए एस मुहुत्ते वियाहिए ॥३॥ अन्तर्मध्यकरणे, ततश्चान्तर्मुहूर्तमात्रं कालमिति गम्यते, मात्रशब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः, ततश्च भिन्नमुहूर्तमेव कालम् । किम् ? 'चित्तावस्थानम्' इति चित्तस्य मनस अवस्थानं चित्तावस्थानम्, अवस्थिति अवस्थानम्, निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः । क्व ? 'एकवस्तुनि' एकम् अद्वितीयम्, वसन्त्यस्मिन् गुण-पर्याया इति वस्तु चेतनादि, एकं च तद्वस्तु एकवस्तु, तस्मिन् २, 'छद्मस्थाना ध्यानम्' इति, तत्र छादयतीति छद्म पिधानम्, तच्च ज्ञानादीनां गुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थितादछद्मस्था अकेवलिन इत्यर्थः, तेषा छद्मस्थानाम्, 'ध्यान' प्राग्वत्, ततश्चायं समुदायार्थः—अन्तर्मुहूर्तकाल यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थाना ध्यानमिति, 'योगनिरोधो जिनाना तु' इति, तत्र योगा—तत्त्वत औदारिकादिशरीरसयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, यथोक्तम्—औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेष. काययोग, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योग, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृत-मनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति, अमीषा निरोधो योगनिरोध, निरोधन निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः, केषाम् ? 'जिनाना' केवलिनाम्, तुशब्द एवकारार्थ, स चावधारणे, योगनिरोध एव न तु चित्तावस्थानम्, चित्तस्यैवाभावात्, अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं नान्येषाम्, अशक्यत्वादित्यल विस्तरेण, यथा चाय योगनिरोधो जिनाना ध्यान यावन्त च कालमेतद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थ ॥३॥ साम्प्रत छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्तात् परतो यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह—

अब इस ध्यान के काल और स्वामी का निरूपण करते हैं—

अन्तर्मुहूर्त काल तक जो एक वस्तु मे चित्त का अवस्थान है वह छद्मस्थो का ध्यान है तथा योगो का जो निरोध है—उनका जो विनाश है—वह जिनो (केवलियों) का ध्यान है ॥

विवेचन—एक वस्तु मे जो स्थिरतापूर्वक चित्त का अवस्थान होता है, इसका नाम ध्यान है। इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थो के होता है और वह उनके अन्तर्मुहूर्त काल तक ही सम्भव है—इससे अधिक काल तक उसका रहना सम्भव नहीं है। 'वसन्ति अस्मिन् गुण-पर्यायाः इति वस्तु' इस निरुक्ति के अनुसार जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं वह वस्तु (जीव आदि) कहलाती है। 'छादयतीति छद्म' अर्थात् जो आत्मा के ज्ञानादि गुणो को आच्छादित करता है उसे छद्म कहा जाता है, जो ज्ञानावरणादि घाति कर्मस्वरूप है। इस प्रकार के छद्म मे जो स्थित हैं, अर्थात् जिनके ज्ञानावरणादि चार घाति कर्म उदय में वर्तमान हैं, वे छद्मस्थ—केवली से भिन्न अल्पज्ञानी—कहलाते हैं। एक वस्तु मे चित्त की एकाग्रतारूप पूर्वोक्त ध्यान इन छद्मस्थ जीवों के ही होता है—केवलियों के वह सम्भव नहीं है, क्योंकि, उनके चित्त का अभाव हो चुका है। केवली के जो क्रम से योगो का निरोध होता है—उनका अभाव होता है, यही उनका ध्यान है। इस प्रकार का वह ध्यान उक्त केवली के ही सम्भव है—छद्मस्थ के नहीं। औदारिक आदि शरीरों के सम्बन्ध से जो जीव का व्यापार होता है उसका नाम योग है। वह मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार का है। इनके निरोध के क्रम की प्ररूपणा आगे (गा. ७०–७६) ग्रन्थकार द्वारा स्वयं की गई है ॥३॥

छद्मस्थों के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही ध्यान होता है, यह कहा जा चुका है। इसके पश्चात् उनके क्या होता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि ।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ॥४॥

'अन्तर्मुहूर्तात् परतः' इति भिन्नमुहूर्तादूर्ध्वम्, 'चिन्ता' प्रागुक्तस्वरूपा तथा 'ध्यानान्तरं वा भवेत्' तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तर परिगृह्यते । किं तर्हि ? भावनानुप्रेक्षात्मक चेत इति, इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इति कृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः अतस्तमेव कालमानं वस्तुसङ्क्रमद्वारेण निरूपयन्नाह—'सुचिरमपि' प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते, भवेत् बहुवस्तुसङ्क्रमे सति 'ध्यानसन्तानः' ध्यानप्रवाह इति, तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि बहुवस्तूनि आत्मगत-परगतानि गृह्यन्ते, तत्रात्मगतानि मनःप्रभृतीनि परगतानि द्रव्यादीनीति, तेषु सङ्क्रम सञ्चरणमिति गाथार्थः ॥४॥ इत्थं तावत् सप्रसङ्गं ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्, अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देशं विशिष्टफलभाव च संक्षेपतः प्रदर्शयन्नाह—

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं ।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्ट-रुद्दाइं ॥५॥

आर्तं रौद्र धर्म्यं शुक्लम्, तत्र ऋत दुःखम्, तन्निमित्तो दृढाध्यवसायः, ऋते भवमार्तं क्लिष्टमित्यर्थ ,हिंसा-द्यतिक्रौर्यानुगत रौद्रम्, श्रुत-चरणधर्मानुगत धर्म्यम्, शोधयत्यष्टप्रकार कर्म-मल शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्, अमूनि ध्यानानि वर्तन्ते, अधुना फलहेतुत्वमुपदर्शयति—'तत्र' ध्यानचतुष्टये 'अन्त्ये' चरमे सूत्रक्रमप्रामाण्या-द्धर्म-शुक्ले इत्यर्थः, किम् ? 'निर्वाणसाधने' इह निर्वृति. निर्वाणं सामान्येन सुखमभिधीयते, तस्य साधने—कारणे इत्यर्थ , ततश्च—अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं । धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्क-झाणेण ॥१॥ इति यदुक्त तदपि न विरुद्ध्यते, देवगति-सिद्धिगत्यो सामान्येन सुखसिद्धेरिति, अथापि निर्वाणं

अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उनके चिन्ता अथवा ध्यानान्तर होता है। आत्म-परगत बहुत वस्तुओ मे संक्रमण (संचार) के होने पर उस ध्यान की परम्परा दीर्घ काल तक चल सकती है ॥

विवेचन—यहां अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छद्मस्थ जीवों के जो ध्यानान्तर का निर्देश किया गया है उससे ध्यान से भिन्न अन्य ध्यान को नहीं ग्रहण करना चाहिए, किन्तु भावना व अनुप्रेक्षा स्वरूप चित्त को ग्रहण करना चाहिए। वह ध्यानान्तर भी तभी होता है जब कि उसके पश्चात् ध्यान होने वाला हो। यही क्रम आगे भी समझना चाहिए। इस प्रकार से ध्यान का प्रवाह आत्म-परगत बहुत वस्तुओ मे संचार के होने से दीर्घ काल तक चल सकता है। यहां आत्मगत से अन्तरंग मन आदि की तथा परगत से बहिरंग द्रव्यादिक की विवक्षा रही है ॥४॥

इस प्रकार सामान्य से ध्यान का लक्षण कहकर अब आगे उसके भेद और उनके फल का निर्देश करते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म या धर्म्य और शुक्ल ये उस ध्यान के चार भेद हैं। इनमे अन्त के दो ध्यान—धर्म्य और शुक्ल—निर्वाण के साधक हैं तथा आर्त और रौद्र ये दो ध्यान ससार के कारण हैं ॥

विवेचन—'ऋते भवम् आर्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार दुख मे होने वाली संक्लिष्ट परिणति का नाम आर्तध्यान है। हिंसादि रूप अतिशय क्रूरतायुक्त चिन्तन को रौद्रध्यान कहते हैं। श्रुत और चारित्ररूप धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है। 'शोधयति अष्टप्रकारं कर्म-मलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप मल को दूर करता है अथवा शोक को नष्ट करता है उसे शुक्लध्यान कहा जाता है। यहां उक्त चार ध्यानो में से धर्म और शुक्ल को जो निर्वाण का कारण तथा आर्त और रौद्र को संसार का कारण कहा गया है इसे सामान्य कथन समझना चाहिए। विशेषरूप से आगम में आर्तध्यान को तिर्यंच गति का, रौद्रध्यान को नरकगति का, धर्मध्यान को देवगतिका और शुक्लध्यान को सिद्धगति का कारण बतलाया गया है। जैसे—

अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं ।
धम्मेण देवलोय सिद्धगई सुक्कज्झाणेण ॥

मोक्षस्तथापि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्कारणत्वादविरोध इति, तथा 'भवकारणमार्त-रौद्रे' इति तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसार एव, तथाऽप्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः [रितेः] तिर्यग्नरकभवग्रह इति गाथार्थः ॥५॥ साम्प्रतं यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादार्तध्यानस्य स्वरूपाभिधानावसरः, तच्च स्वविषय-लक्षणभेदतश्चतुर्धा। उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन—आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ वेदनायाश्च ॥ विपरीतं मनोज्ञादीना[मनोज्ञानाम्] ॥ निदानं च ॥[त. सू. ९, ३१-३४] इत्यादि। तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।
धणियं विओगचितणमसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

'अमनोज्ञानाम्' इति मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि इष्टानीत्यर्थः, न मनोज्ञानि अमनोज्ञानि तेषाम्, केषामित्यत आह—'शब्दादिविषयवस्तूनाम्' इति शब्दादयश्च ते विषयाश्च, आदिग्रहणाद्वर्णादिपरिग्रहः, विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषया इन्द्रियगोचरा वा, वस्तूनि तु तदाधारभूतानि रासभादीनि, ततश्च—शब्दादिविषयाश्च वस्तूनि चेति विग्रहस्तेषाम्, किम् ? सम्प्राप्तानां सतां 'धणियं' अत्यर्थं 'वियोगचिन्तनं' विप्रयोगचिन्तेति योगः, कथ नु नाम ममैभिर्वियोगः स्यादिति भावः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, तथा सति च वियोगेऽसम्प्रयोगानुस्मरणम्, कथमेभि. सदैव सम्प्रयोगाभाव इति, अनेन चानागतकालग्रहः, च-शब्दात् पूर्वमपि वियुक्तासम्प्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति, किंविशिष्टस्य सत इद वियोगचिन्तनाद्यत आह—'द्वेषमलिनस्य' जन्तोरिति गम्यते, तत्राप्रीतिलक्षणो द्वेषस्तेन मलिनस्तस्य—तदाक्रान्तमूर्तेरिति

इस प्रकार सामान्य व विशेष की विवक्षा होने से दोनों प्रकार के उस कथन में कुछ विरोध नहीं समझना चाहिए। दूसरे—निर्वाण का अर्थ निर्वृति अथवा सुख होता है, तदनुसार धर्मध्यान जहां सांसारिक सुख का कारण है वहां शुक्लध्यान मोक्षसुख का कारण है, इस प्रकार से भी ये दोनों ध्यान निर्वाण के साधक सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त निर्वाण शब्द से यदि मोक्ष का ही ग्रहण किया जाय तो भी परम्परा से धर्मध्यान भी मोक्ष का कारण सिद्ध है ही। 'भवन्ति अस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः' इस निरुक्ति के अनुसार भव का अर्थ संसार है, क्योंकि संसार में ही प्राणी कर्म के वशीभूत होते हैं। यद्यपि उस भव में नर-नारकादि चारों गतियां समाविष्ट हैं, फिर भी विशेष विवक्षा से यहां संसार से तिर्यंच और नरक इन दो ही गतियों को ग्रहण किया गया है ॥५॥

आगे ग्रन्थकार उक्त चारों ध्यानों का क्रम से वर्णन करते हुए सर्वप्रथम चार प्रकार के आर्तध्यान में प्रथम आर्तध्यान का निरूपण करते हैं—

द्वेष से मलिनता को प्राप्त हुए प्राणी के अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्दादिरूप पांचों इन्द्रियों के विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं के विषय में जो उनके वियोग की अत्यधिक चिन्ता होती है तथा भविष्य में उनके असंप्रयोग का—उनका फिर से संयोग न हो इसका—जो अनुस्मरण होता है वह प्रथम आर्तध्यान माना गया है ॥

विवेचन—अमनोज्ञ का अर्थ मन के प्रतिकूल या अनिष्ट होता है। 'विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिनः इति विषयाः' इस निरुक्ति के अनुसार जिनमें आसक्त होकर प्राणी दुख को प्राप्त होते हैं उन्हें विषय कहा जाता है। अथवा जो यथायोग्य श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य शब्दादि हैं उन्हें विषय जानना चाहिए। उक्त शब्दादि की आधारभूत वस्तुयें रासभ—कर्णकटु ध्वनि करने वाला गधा—आदि हैं। उन अनिष्ट विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं का यदि वर्तमान में संयोग है तो उनके वियोग के सम्बन्ध में सतत यह विचार करना कि किस प्रकार से इनका मुझसे वियोग होगा, तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में कभी उनका फिर से संयोग न हो, इस प्रकार उनके असंयोग का चिन्तन करना; यह प्रथम आर्तध्यान है। इसके अतिरिक्त भूतकाल में यदि उनका वियोग हुआ है अथवा संयोग ही नहीं हुआ है तो उसे बहुत अच्छा मानना, यह भी उक्त आर्तध्यान है ॥६॥

गाथार्थः ॥६॥ उक्तः प्रथमो भेदः, साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥७॥

'तथा' इति धणियम्—अत्यर्थमेव, शूल-शिरोरोगवेदनाया इत्यत्र शूल-शिरोरोगौ प्रसिद्धौ, आदिशब्दाच्छेषरोगातङ्कपरिग्रहः, ततश्च शूल-शिरोरोगादिभ्यो वेदना शूल-शिरोरोगादिवेदना, वेद्यत इति वेदना तस्याः, किम् ? 'वियोगप्रणिधानं' वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, अनागतमधिकृत्याह—'तदसम्प्रयोगचिन्ता' इति तस्याः—वेदनायाः कथञ्चिदभावे सत्यसम्प्रयोगचिन्ता—कथं पुनर्ममानया आयत्या सम्प्रयोगो न स्यादिति ? चिन्ता चात्र ध्यानमेव गृह्यते, अनेन च वर्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि कृत एव वेदितव्यः, तत्र च भावनाऽनन्तरगाथाया कृतैव, किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानाद्यत आह—'तत्प्रतिकारे' वेदनाप्रतिकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनः अन्तःकरणं यस्य स तथाविधस्तस्य, वियोगप्रणिधानाद्यार्तध्यानमिति गाथार्थः ॥७॥ उक्तो द्वितीयो भेदः, साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयन्नाह—

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥८॥

'इष्टानां' मनोज्ञानां विषयादीनामिति, विषया पूर्वोक्ता, आदिशब्दाद् वस्तुपरिग्रहः, तथा 'वेदनायाश्च' इष्टाया इति वर्तते । किम् ? अवियोगाध्यवसानमिति योगः, अविप्रयोगदृढाध्यवसाय इति भावः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाभिलाषश्चेति, तत्र 'तथेति' धणियमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः, संयोगाभिलाषः—कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्या सम्बन्ध इतीच्छा, अनेन किलानागतकालग्रहः इति वृद्धा व्याचक्षते, च-शब्दात् पूर्ववदतीतकालग्रहः इति, किंविशिष्टस्य सतः इदमवियोगाध्यवसानाद्यत आह—रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागस्तेन रक्तस्य तद्भावितमूर्तेरिति गाथार्थः ॥८॥ उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्सुराह—

देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ।
अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

अब द्वितीय आर्तध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

शूल व शिरोरोग आदि की पीड़ा के होने पर उसके प्रतीकार के लिए व्याकुल मन होकर जो उसके वियोग के विषय मे—उसके हट जाने के सम्बन्ध में—दृढ अध्यवसाय—निरन्तर चिन्तन—होता है तथा उक्त वेदना के किसी प्रकार से नष्ट हो जाने पर भविष्य मे पुनः उसका संयोग न हो, इसके लिए जो चिन्ता होती है, यह दूसरे आर्तध्यान का लक्षण है । भूतकाल मे यदि उसका वियोग हुआ है अथवा उसका संयोग ही नहीं हुआ है तो उसे बहुत मानना, इसे भी दूसरा ही आर्तध्यान समझना चाहिए ॥७॥

आगे तृतीय आर्तध्यान का निरूपण करते हैं—

रागयुक्त (आसक्त) प्राणी के अभीष्ट शब्दादि इन्द्रियविषयो, उनकी आधारभूत वस्तुओ और अभीष्ट वेदना के विषय में जो उनके अवियोग के लिए—सदा ऐसे ही बने रहने के लिए—अध्यवसान (निरन्तर चिन्तन) होता है तथा यदि उनका संयोग नहीं है तो भविष्य मे उनका संयोग किस प्रकार से हो, इस प्रकार की जो अभिलाषा बनी रहती है; यह तीसरे आर्तध्यान का लक्षण है ॥८॥

आगे चतुर्थ आर्तध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

इन्द्रों और चक्रवर्तियो आदि (बलदेवादि) के गुणों और ऋद्धि की प्रार्थना (याचना) रूप निदान का चिन्तन करना, यह चौथा आर्तध्यान कहलाता है । अतिशय अज्ञान से अनुगत होने के कारण उसे अधम (निकृष्ट) समझना चाहिए ॥

विवेचन—आगामी भोगों की आकांक्षा का नाम निदान है । जिस संयम व तप आदि के द्वारा

दीव्यन्तीति देवा.--भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवेन्द्राः--चमरादयः तथा चक्रं--प्रहरणं तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमेषामिति चक्रवर्तिनः भरतादय., आदिशब्दाद् गलदेवादिपरिग्रहः, अमीषां गुणऋद्धय· देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादिगुर्णद्धयः, तत्र गुणा सुरूपादयः, ऋद्धिस्तु विभूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं तद्याञ्चामयमित्यर्थः, किं तत् ? 'अधमं' जघन्यं 'निदानचिन्तनं' निदानाध्यवसाय., अहमनेन तपस्त्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादिरूप·, आह--किमितीदमधमम् ? उच्यते--यस्मादज्ञानानुगतमत्यन्तम्, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकेषु सुखेष्वन्येषामभिलाष उपजायते-- उक्तं च -- अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्ति दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्त भवति च महत् मोक्षकाङ्क्षैकतानम्, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्ति गजेन्द्र. ॥१॥ इति गाथार्थ ॥९॥ उक्तश्चतुर्थो भेदः, साम्प्रतमिद यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह--

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहंकियस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

'एतद्' अनन्तरोदितं 'चतुर्विध' चतुष्प्रकार 'राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य' रागादिलाञ्छितस्येत्यर्थ., कस्य ? 'जीवस्य' आत्मन , किम् ? आर्तध्यानमिति, तथा च इय चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमित्यत आह-- ससारवर्द्धनमोघत , तिर्यग्गतिमूल विशेषत इति गाथार्थ ॥१०॥ आह--साधोरपि शूलवेदनाभिभूतस्यासमाधानात् तत्प्रतिकारकरणे च तद्विप्रयोगप्रणिधानापत्ते तथा तप सयमासेवने च नियमत सासारिकदुःखवियोगप्रणिधानादार्तध्यानप्राप्तिरिति ? अत्रोच्यते--रागादिवशवर्तिनो भवत्येव, न पुनरन्यस्येति, आह च ग्रन्थकार --

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति ।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं[म्मं] सहंतस्स ॥११॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थ , राग-द्वेषयोरिति गम्यते, तस्य मध्यस्थस्य, तु-शब्द एवकारार्थ , स चावधारणे, मध्यस्थस्यैव नेतरस्य, मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिस्तस्य मुने , साधोरित्यर्थ , स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् शूलादि, यच्च प्राक्कर्मविपरिणामिदैवादशुभमापतति न तत्र परितापाय भवन्ति सन्त·,

---

निर्बाध व शाश्वतिक सुख के स्थान स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है उस संयम व तप के फलस्वरूप अनेक आकुलताओं के कारणभूत इन्द्रादि के अस्थायी सुख की याचना करना, यह अतिशय अज्ञानतामूलक ही है, कारण यह कि अज्ञानियो को छोड़कर अन्य कोई भी विवेकी जीव उस अमूल्य तप आदि के फलभूत तुच्छ सासारिक सुख की अभिलाषा नहीं कर सकता। यह चतुर्थ आर्तध्यान का स्वरूप है ॥९॥

उक्त चार प्रकार का आर्तध्यान किस प्रकार के प्राणी के होता है तथा उसका क्या परिणाम होता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है--

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग (आसक्ति), द्वेष (अप्रीति) और मोह (अज्ञान) से लांछित (कलुषित) प्राणी के होता है, जो तिर्यंचगति का मूल कारण होने से ससार का बढ़ानेवाला है ॥१०॥

यहां यह शंका उपस्थित होती है कि शूलवेदनादि से आक्रान्त साधु के भी विकलता हो सकती है, और यदि वह उसके निराकरण में प्रवृत्त होता है तो उसके वियोगविषयक चिन्तनरूप आर्तध्यान का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरी बात यह भी है कि साधु जब तप व संयम का आराधन करता है तब उसके सांसारिक दुख के वियोगस्वरूप आर्तध्यान का होना अनिवार्य है, कारण यह कि उक्त सांसारिक दुख से छुटकारा पाने के लिए ही तो तप व संयम का परिपालन किया जाता है। इस शंका के समाधान स्वरूप ग्रन्थकार आगे कहते हैं--

मुनि राग और द्वेष के मध्य मे स्थित होता है--वह न किसी वस्तु को इष्ट मानकर उससे राग करता है और न अनिष्ट मानकर उससे द्वेष करता है। इसीलिए शूल आदि की वेदना के होने पर वह विचार करता है कि यह अपने पूर्वकृत कर्म के विपाक से हुई है। इस प्रकार वस्तुस्वभाव के चिन्तन मे

उक्तं च परममुनिभिः—'पुव्वि खलु भो ! कडाणं कम्माणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेदइत्ता, तवसा वा झोसइत्तेत्यादि, एवं वस्तुस्वभावचिन्तनपरस्य 'सम्यक्' शोभनाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम् ? अपि तु धर्म्यमनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥११॥ परिहृत आशङ्कागतः प्रथमपक्षः, द्वितीय-तृतीयावधिकृत्याह—

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं ।
तव-संजमपडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ॥१२॥

कुर्वतो वा । कस्य ? प्रशस्तं ज्ञानाद्युपकारकम् आलम्ब्यत इत्यालम्बनं प्रवृत्तिनिमित्तम्, शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च—काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु व उज्जमिस्सं । गणं च णीती अणुसारवेस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥१॥ इत्यादि, यस्यासौ प्रशस्तालम्बनस्तस्य । किं कुर्वत. इत्यत आह—'प्रतीकारं' चिकित्सालक्षणम् । किंविशिष्टम् ? 'अल्पसावद्यम्' अवद्यं पापम्, सहावद्येन सावद्यम्, अल्पशब्दोऽभाववचनः स्तोकवचनो वा, अल्पं सावद्यं यस्मिन्नसावल्पसावद्यस्तम्, धर्म्यमनिदानमेवेति योग । कुत ? निर्दोषत्वात्, निर्दोषत्वं च वचनप्रामाण्यात् । उक्तं च—गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणंमि निद्दोसो त्ति, इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवादरूपत्वात्, अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु चैतदिति । तथा 'तप'-संयमप्रतिकारं च सेवमानस्य' इति तप संयमावेव प्रतिकारस्तप संयमप्रतिकार', सांसारिकदुःखानामिति गम्यते, त च सेवमानस्य, च-शब्दात्पूर्वोक्तप्रतिकारं च । किम् ? 'धर्म्यं' धर्मध्यानमेव भवति । कथं सेवमानस्य ? 'अनिदानम्' इति क्रियाविशेषणम्, देवेन्द्रादिनिदानरहितमित्यर्थ । आह—कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो भवत्विती्दमपि निदानमेव ? उच्यते—सत्यमेतदपि निश्चयत प्रतिषिद्धमेव । कथ ? मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तम । प्रकृत्याऽभ्यासयोगेन यत उक्तो जिनागमे ॥१॥ इति । तथापि तु भावनायामपरिणत सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव, अनेनैव प्रकारेण तस्य चित्तशुद्धे क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु

तत्पर हुआ वह उसे समतापूर्वक भलीभांति सहता है—वह उसके वियोगविषयक चिन्तन से व्याकुल नहीं होता । इसीलिए राग-द्वेष से रहित होने के कारण उसके उक्त वेदना के वियोगविषयक आर्तध्यान सम्भव नहीं है । हां, जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष से कलुषित होता है उसके वह अवश्य होता है ॥११॥

इस प्रकार उपर्युक्त शंका के अन्तर्गत प्रथम पक्ष का समाधान करके अब आगे उसके द्वितीय और तृतीय पक्ष का—रोगजनित वेदना के प्रतीकार एवं सांसारिक दुख के वियोगविषयक आर्तध्यान के प्रसंग का—समाधान किया जाता है—

जो साधु प्रशस्त—ज्ञानादि के उपकारक—आलम्बन का आश्रय लेकर उक्त वेदना का अल्प सावद्ययुक्त प्रतीकार करता है तथा निदान से रहित होता हुआ तप-संयमरूप प्रतीकार का सेवन करता है उसके निदान से रहित धर्मध्यान ही रहता है, न कि आर्तध्यान ॥

विवेचन—प्रवृत्ति का निमित्तभूत जिसका उत्तम अध्यवसाय ज्ञानादि का उपकारक है वह उक्त शूलरोगादि का जो प्रतीकार करता है वह या तो सर्वथा पाप से रहित होता है या अल्प ही पाप से सहित होता है । इसी से उसके आर्तध्यान न होकर निदान रहित धर्म्यध्यान ही होता है । इस प्रकार से शंकाकार की शंकागत उस द्वितीय पक्ष का निराकरण हो जाता है जिसमें यह कहा गया था कि रोग का प्रतिकार करने पर उसके अनिष्टविप्रयोगजनित आर्तध्यान का प्रसंग अनिवार्य होगा । शंकागत तीसरा पक्ष यह था कि तप व संयम के आराधन में नियम से सांसारिक दुख के वियोगविषयक प्रणिधानस्वरूप आर्तध्यान रहने वाला है । उसका निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया है कि सांसारिक दुख के प्रतीकारस्वरूप तप-संयम का आराधन करने वाला साधु चूंकि उनका आराधन इन्द्रादि पद की प्राप्तिरूप निदान के बिना करता है, अत एव वह आर्तध्यान न होकर धर्मध्यान ही है । इस पर यह कहा जा सकता है कि उसमें भी समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति की जो इच्छा रहती है वह भी निदान ही है । इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः वह निदान ही है,

वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ।।१२।। अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधो. प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते, न च तदत्यन्तमुन्दरम्, प्रथम-तृतीयपक्षद्वये सम्यगाशङ्काया एवानुपपत्तेरिति । आह —उक्तं भवताऽऽर्तध्यानं संसारवर्द्धनमिति । तत्कथम् ? उच्यते —बीजत्वात् । बीजत्वमेव दर्शयन्नाह—

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया ।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुबीयं ।।१३।।

रागो द्वेषो मोहश्च येन कारणेन 'ससारहेतव' ससारकारणानि 'भणित.' उक्ता. परममुनिभिरिति गम्यते, 'आर्ते च' आर्तध्याने च ते 'त्रयोऽपि' रागादय सम्भवन्ति, यत एव ततस्तत् 'संसारतरुबीज' भववृक्षकारणमित्यर्थः । आह—यद्येवमोघत एव ससारतरुबीजम्, ततश्च तिर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ?, उच्यते—तिर्यग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव ससारतरुबीजमिति । अन्ये तु व्याचक्षते—तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचार इति गाथार्थ. ।।१३।। इदानीमार्त्तध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते—

कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।।१४।।

कापोत-नील-कृष्णलेश्या., किम्भूता ? नातिसङ्क्लिष्टा' रौद्रध्यानलेश्यापेक्षयः नातीवाशुभानुभावा भवन्तीति क्रिया, कस्येत्यत आह—आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते किंनिबन्धना एताः ? इत्यत आह—कर्मपरिणामजनिता', तत्र—'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मन. । स्फटिकस्येव तत्राय, लेश्याशब्द' प्रयुज्यते ।।१।।' एता कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थ' ।।१४।। आह कथ पुनरोघत

अतएव उसका भी आगम में निषेध किया गया है । वहां कहा गया है कि उत्तम मुनि वही है जो मोक्ष और संसार दोनों के ही विषय में निःस्पृह रहता है । परन्तु जो जीव भावना में परिपक्व नहीं है उसको लक्ष्य करके व्यवहारतः उसे भी—मोक्षविषयक इच्छा को भी—निर्दोष माना गया है । कारण यह कि इस प्रकार से उसके चित्त की शुद्धि होती है और उत्तम अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी होती है ।।१२।।

पूर्व में (गा. १०) जो उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान को संसारवर्धक कहा गया है उन सबको स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है—

जिस कारण जिन राग, द्वेष और मोह (आसक्ति) को संसार का कारण कहा गया है वे तीनों ही प्रकृत आर्तध्यान में सम्भव है । इसीलिए वह (आर्तध्यान) संसार रूप वृक्ष का बीज है—उसका कारण है । यहां यह शंका हो सकती है कि जब वह आर्तध्यान सामान्य से संसार का कारण है तब उसे तिर्यंचगति का मूल क्यों कहा गया है ? इसका समाधान यह है कि वह तिर्यंचगति में गमन का कारण होने से ही संसाररूप वृक्ष का बीज है—उसे बढ़ाने वाला है । प्रकारान्तर से उसके समाधान में यह भी कहा जाता है कि प्रचुर (अनन्तानन्त) जीव चूंकि तिर्यंचगति में ही पाये जाते हैं, साथ ही उसका काल भी अधिक है; इसीलिए तिर्यंचगति में संसार का उपचार किया गया है ।।१३।।

आगे आर्तध्यानी जीव के सम्भव लेश्याओं का निर्देश किया जाता है—

आर्तध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्म के उदय से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण ये तीव अशुभ लेश्यायें होती हैं । विशेषता इतनी है कि वे उसके अतिशय संक्लिष्ट नहीं होतीं—जिस प्रकार रौद्रध्यानी के वे अतिशय प्रभावक होती हैं उस प्रकार प्रकृत आर्तध्यानी के वे उतनी प्रभावक नहीं होतीं, उसकी अपेक्षा इसके वे हीन होती हैं । जिस प्रकार काले आदि रंग वाले पदार्थ की समीपता से स्वच्छ स्फटिक मणि का तद्रूप—काले आदि रंगस्वरूप—परिणमन होता है उसी प्रकार कर्म के उदय से जीव का जो परिणमन होता है उसे लेश्या कहा जाता है ।।१४।।

अब जिन हेतुओं के द्वारा सामान्य से आर्तध्यानी का परिज्ञान होता है उनका निर्देश किया जाता है—

एवाऽऽर्तध्याता ज्ञायत इति ? उच्यते—लिङ्गेभ्यः तान्येवोपदर्शयन्नाह—

तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।
इट्ठा ऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ॥१५॥

'तस्य' आर्तध्यायिनः आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि, तत्राऽऽक्रन्दनम्—महता शब्देन विरवणम्, शोचनं-स्वत्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेवनं पुनः पुनः क्लिष्टभाषणम्, ताडनम् उरःशिरःकुट्टन-केशलुञ्चनादि, एतानि 'लिङ्गानि' चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोग-वेदनानिमित्तानि, तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि तथाऽनिष्टावियोगनिमित्तानि तथा वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थ ॥१५॥ किं चान्यत्—

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ ।
पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥१६॥

'निन्दति' च कुत्सति च 'निजकृतानि' आत्मकृतानि अल्पफल-विफलानि कर्म [कर्माणि] शिल्प-कला-वाणिज्यादीन्येतद् गम्यते, तथा 'प्रशंसति' स्तौति बहुमन्यते 'सविस्मयः' साश्चर्यः 'विभूतीः' परसम्पद इत्यर्थः, तथा 'प्रार्थयते' अभिलषति परविभूतीरिति, 'तासु रज्यते' तास्विति प्राप्तासु विभूतिषु राग गच्छति, 'तदर्जनपरायणो भवति' तासां विभूतीनामर्जने उपादाने परायण उद्युक्तः तदर्जनपरायण इति, ततश्चैवम्भूतो भवति, असावप्यार्तध्यायीति गाथार्थः ॥१६॥ किं च—

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।
जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥१७॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च तेषु गृद्धो मूर्च्छितः काङ्क्षावानित्यर्थ, तथा सद्धर्मपराङ्मुख प्रमादपर, तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्मः, सँश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः—क्षान्त्यादिकश्चरणधर्मो गृह्यते, तत पराङ्मुखः, 'प्रमादपरः' मद्यादिप्रमादासक्तः, 'जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्तध्याने' इति, तत्र जिना तीर्थकराः, तेषा मतम् आगमरूप प्रवचनमित्यर्थः, तदनपेक्षमाणः तन्निरपेक्ष इत्यर्थः । किम् ? वर्तते आर्तध्याने इति गाथार्थः ॥१७॥ साम्प्रतमिदमार्तध्यान सम्भवमधिकृत्य यदनुगत यदनर्हं वर्तते तदेतदभिधित्सुराह—

तदविरय-देसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं ।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥१८॥

'तद्' आर्तध्यानमिति योग, 'अविरत-देशविरत-प्रमादपर-संयतानुगम्' इति तत्राविरताः मिथ्या-

---

आक्रन्दन, शोचन, परिदेवन और ताड़न; ये उस आर्तध्यानी के परिचायक हेतु हैं जो इष्टवियोग, अनिष्ट-अवियोग और वेदना के निमित्त से होते हैं। महान् शब्द के उच्चारण पूर्वक रुदन करने का नाम आक्रन्दन है। अश्रुपूर्ण नेत्रों की दीनता को शोचन (शोक) कहा जाता है। बार-बार संक्लेश युक्त भाषण करना, इसे परिदेवन कहते हैं। छाती व शिर आदि के पीटने को ताड़न कहा जाता है। इन चिह्नों के द्वारा आर्तध्यानी की पहिचान हो जाती है ॥१५॥ इसके अतिरिक्त—

वह अपने द्वारा किये गये निरर्थक या अल्प फल वाले कार्यों की निन्दा करता है तथा आश्चर्य-चकित होकर दूसरों की विभूतियों की प्रशंसा करता है व उनके लिए प्रार्थना करता है—उनकी इच्छा करता है। यदि वे इच्छानुसार उसे प्राप्त हो जाती हैं तो वह उनमें अनुराग करता है, और यदि वे नहीं प्राप्त हुई हैं तो वह उनके उपार्जन में उद्यत होता है ॥१६॥ और भी—

वह शब्दादि रूप इन्द्रिय विषयों में लुब्ध होकर समीचीन धर्म से विमुख होता हुआ प्रमाद में रत होता है—मद्यादि के सेवन में आसक्त होता है, इस प्रकार वह जिन-मत की अपेक्षा न करके उक्त आर्तध्यान में प्रवृत्त होता है ॥१७॥

अब वह आर्तध्यान किन के होता है इसका निर्देश करते हुए उसे छोड़ देने की प्रेरणा करते हैं—

वह आर्तध्यान अविरत—मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत—एक-दो आदि अणुव्रतों के धारक श्रावक और प्रमादयुक्त संयत (प्रमत्तसंयत) जीवों के होता है। चूंकि सब प्रकार के

दृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरताः एक-द्व्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठाश्च ते संयताश्च प्रमादपरसंयताः,ताननुगच्छतीति विग्रहः, नैवाप्रमत्तसंयतानिति भाव । इदं च स्वरूपतः सर्वप्रमादमूलं वर्तते, यतश्चैवमतो 'वर्जयितव्यम्' परित्यजनीयम् केन ? 'यतिजनेन' साधुलोकेन, उपलक्षणत्वात् श्रावक-जनेन, परित्यागार्हत्वादेवास्येति गाथार्थः ॥१८॥ उक्तमार्तध्यानम्, साम्प्रतं रौद्रध्यानावसरः, तदपि चतुर्विधमेव, तद्यथा—हिंसानुबन्धि मृषानुबन्धि स्तेयानुबन्धि विषयसंरक्षणानुबन्धि च । उक्तं चोमास्वातिवाचकेन—हिंसा-ऽनृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्रम् इत्यादि [त सू ९-३६]। तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकण-मारणाइपणिहाणं ।
अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥१९॥

सत्त्वाः एकेन्द्रियादयः तेषाम् वध-वेध-बन्धन-दहनाऽङ्कन-मारणादिप्रणिधानम्—तत्र वध ताडनं कर-कशलतादिभिः, वेधस्तु नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः, बन्धनं संयमनं रज्जु-निगडादिभिः, दहनं प्रतीत-मुल्मुकादिभिः, अङ्कन लाञ्छनं श्व-शृगालचरणादिभिः, मारणं प्राणवियोजनमसि-शक्ति-कुन्तादिभिः, आदिशब्दादागाढ-परितापन-पाटनादिपरिग्रहः, एतेषु प्रणिधानम् । अकुर्वतोऽपि करणं प्रति दृढाध्यवसान-मित्यर्थः, प्रकरणाद् रौद्रध्यानमिति गम्यते । किंविशिष्टं प्रणिधानम् ? 'अतिक्रोधग्रहग्रस्तम्' अतीवोत्कटो यः क्रोधः रोष, स एवापायहेतुत्वाद् ग्रह इव ग्रहस्तेन ग्रस्तम् अभिभूतम्, क्रोधग्रहणाच्च मानादयो गृह्यन्ते । किंविशिष्टस्य सत इदमित्यत आह—'निर्घृणमनसः' निर्घृणं निर्गतदयं मनः चित्तमन्तःकरणं यस्य स निर्घृण-मनास्तस्य, तदेव विशेष्यते 'अधमविपाकम्' इति अधमः जघन्यो नरकादिप्राप्तिलक्षणो विपाकः परिणामो यस्य तत्तथाविधमिति गाथार्थः ॥१९॥ उक्त प्रथमो भेदः, साम्प्रत द्वितीयमभिधित्सुराह—

पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं ।
मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥२०॥

'पिशुनाऽसभ्याऽसद्भूत-भूतघातादिवचनप्रणिधानम्' इत्यत्रानिष्टस्य सूचक पिशुन पिशुनमनिष्ट-

---

प्रमाद का मूल कारण है, इसलिए मुनिजन को उसका परित्याग करना चाहिए । यहाँ मुनिजन को जो उसके छोड़ने का उपदेश दिया गया है, उसे उपलक्षण जानकर उससे श्रावक जनों को भी ग्रहण किया गया है । तात्पर्य यह है कि अनर्थ का मूल होने से उक्त आर्तध्यान का त्याग मुनि व श्रावक दोनों को ही करना चाहिए ॥१८॥

इस प्रकार आर्तध्यान का निरूपण करके आगे क्रम प्राप्त रौद्रध्यान का वर्ण किया जाता है । वह भी हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी के भेद से चार प्रकार का है । उनमें प्रथम का निरूपण करते हैं—

अतिशय क्रोधरूप पिशाच के वशीभूत होकर निर्दय अन्तःकरण वाले जीव के जो प्राणियों के वध, वेध, बन्धन, दहन, अंकन और मारण आदि का प्रणिधान—उक्त कार्यों को न करते हुए भी उनके करने का जो दृढ़ विचार होता है, वह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान है । इसका विपाक अधम (निकृष्ट) है—उसके परिणामस्वरूप नरकादि दुर्गति प्राप्त होने वाली है । चाबुक आदि से ताड़ित करना, इसका नाम वध है । कील आदि के द्वारा नासिका आदि के बेधने को वेध कहा जाता है, रस्सी आदि से बाँधकर रखना, यह बन्धन कहलाता है । उल्मुक आदि से जलाने को दहन कहते हैं । तपी हुई लोहे की शलाका आदि से दागने (चिह्नित करने) का नाम अंकन है । मारण से अभिप्राय प्राणविघात का है ॥१९॥

अब क्रमप्राप्त द्वितीय (मृषानुबन्धी) रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

मायाचारी व परवंचना—दूसरों के ठगने में—तत्पर ऐसे प्रच्छन्न (अदृश्य) पाप युक्त अन्तः-करण वाले जीव के पिशुन, असभ्य, असद्भूत और भूतघात आदि रूप वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी जो उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय होता है; वह मृषानुबन्धी नामक द्वितीय रौद्रध्यान का लक्षण है ॥

सूचकं 'पिशुनं सूचकं विदुः' इति वचनात् । सभाया साधु सभ्य न सभ्यमसभ्य जकार-मकारादि । न सद्भूतमसद्भूतमनृतमित्यर्थः । तच्च व्यवहारनयदर्शनेनोपाधिभेदतस्त्रिधा । तद्यथा—अभूतोद्भावनं भूतनिह्नवोऽर्थान्तराभिधान चेति । तत्राभूतोद्भावन यथा सर्वगतोऽयमात्मेत्यादि, भूतनिह्नवस्तु नास्त्येवात्मेत्यादि, गामश्वमित्यादि ब्रुवतोऽर्थान्तराभिधानमिति । भूताना सत्त्वानामुपघातो यस्मिन् तद् भूतोपघातम्—छिन्द्धि भिन्द्धि व्यापादय इत्यादि, आदिशब्द प्रतिभेद स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थ, यथा पिशुनमनेकधाऽनिष्टसूचकमित्यादि, तत्र पिशुनादिवचनेष्वप्रवर्तमानस्यापि प्रवृत्तिं प्रति प्रणिधान दृढाध्यवसानलक्षणम्, रौद्रध्यानमिति प्रकरणाद् गम्यते । किंविशिष्टस्य सत इत्यत आह—माया निकृति, साऽस्यास्तीति मायावी तस्य मायाविनो वणिजादे, तथा 'अतिसन्धानपरस्य' परवञ्चनाप्रवृत्तस्य, अनेनाशेषेष्वपि प्रवृत्तिमप्या(स्या)ह, तथा 'प्रच्छन्नपापस्य' कूटप्रयोगकारिणस्तस्यैव, अथवा धिग्जातिककुतीर्थिकादेरसद्भूतगुण गुणवन्तमात्मान ख्यापयत, तथाहि—गुणरहितमप्यात्मान यो गुणवन्त ख्यापयति न तस्मादपर प्रच्छन्नपापोऽस्तीति गाथार्थः ॥२०॥ उक्तो द्वितीयो भेद., साम्प्रत तृतीयमुपदर्शयति—

तह तिव्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्ज ।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥२१॥

तथाशब्दो दृढाध्यवसायप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थ । तीव्रौ उत्कटौ तौ क्रोध-लोभौ च तीव्रक्रोध-लोभौ ताभ्यामाकुल अभिभूतस्तस्य, जन्तोरिति गम्यते । किम् ? 'भूतोपहननमनार्यम्' इति हन्यतेऽनेनेति हननम्, उप सामीप्येन हननम् उपहननम्, भूतानामुपहनन भूतोपहननम्, आराद्यात सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं नाऽऽर्यमनार्यम्, किं तदेवविधमित्यत आह—परद्रव्यहरणचित्तम्, रौद्रध्यानमिति गम्यते, परेषा द्रव्य परद्रव्य सचित्तादि, तद्विषय हरणचित्त परद्रव्यहरणचित्तम्, तदेव विशेष्यते—किम्भूत तदित्यत आह—परलोकापायनिरपेक्षम्

विवेचन—अनिष्ट के सूचक वचन को पिशुन वचन कहा जाता है। गाली आदि रूप अशिष्ट वचन का नाम असभ्य वचन है। अयथार्थ वचन को असद्भूत कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—अभूतोद्भावन, भूतनिह्नव और अर्थान्तराभिधान। आत्मा सर्वव्यापक है, इत्यादि प्रकार के कथन को अभूतोद्भावन कहा जाता है। इसका कारण यह है कि आत्मा वस्तुतः वैसा नहीं है—वह तो प्राप्त शरीर के प्रमाण रहता है, न वह सर्वव्यापक है और न अणुरूप भी है। आत्मा है ही नहीं, इत्यादि प्रकार के सदपलापक—विद्यमान वस्तु का अभाव प्रकट करने वाले--वचन को भूतनिह्नव कहते हैं। गाय को घोड़ा और घोड़ा को गाय कहना, इत्यादि प्रकार के वचन का नाम अर्थान्तराभिधान है। मार डालो, काट डालो, इत्यादि प्रकार से प्राणिघात के सूचक वचन का नाम भूतघात है। उक्त वचनों में प्रवृत्त न होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति के प्रति जो जीव का दृढ़ विचार रहा करता है, यह द्वितीय (मृषानुबन्धी) रौद्रध्यान का लक्षण है। यह रौद्रध्यान उस कपटी व वंचक मनुष्य के होता है जिसके अन्तःकरण में पाप छिपा रहता व जो स्वयं गुणवान् न होते हुए भी अपने को गुणवान् प्रकट करता है ॥२०॥

आगे स्तेयानुबन्धी नामक तीसरे रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

इसी प्रकार जो तीव्र क्रोध व लोभ से व्याकुल रहता है उसका चित्त (विचार) दूसरों के चेतन-अचेतन द्रव्य के अपहरण में संलग्न रहता है। यह परद्रव्य के हरण का विचार निन्द्य तो है ही, साथ ही वह प्राणिहिंसा का भी कारण है। इस प्रकार का रौद्रध्यानी परलोक में होने वाले अपाय—नरकगति की प्राप्ति आदि—की भी अपेक्षा नहीं करता ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में धन को प्राण जैसा माना जाता है। जो दुष्ट दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है वह इसके लिए धन के स्वामी का घात भी कर डालता है। कदाचित् वह हत्या न भी करे, तो भी अपने धन के चले जाने से प्राणी अतिशय दुखी होता है और कदाचित् संक्लेश के वश होकर वह आत्मघात भी कर बैठता है। इस प्रकार परद्रव्य का अपहरण करने वाला रौद्रध्यानी द्रव्य व भाव दोनों ही प्रकार की हिंसा का जनक होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका नरकादि

इति, तत्र परलोकापायाः—नरकगमनादयस्तन्निरयेभ्रमिति गाथार्थः ।।२१।। उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रत चतुर्थ भेदमुपदर्शयन्नाह—

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ।।२२।।

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषा साधन कारणम्, शब्दादिविषयसाधन च (तच्च) तद्धन च शब्दादिविषयसाधनधनम्, तत्सरक्षणे—तत्परिपालने परायणम् उद्युक्तमिति विग्रहः, तथाऽनिष्टम् —सतामनभिलषणीयमित्यर्थः, इदमेव विशेष्यते—सर्वेषामभिशङ्कनेनाकुलमिति सम्बध्यते—न विद्म क किं करिष्यतीत्यादिलक्षणेन, तस्मात्सर्वेषा यथाशक्त्योपघात एव श्रेयानित्येवं परोपघातेन च, तथा कलुष-यत्यात्मानमिति कलुषाः—कषायास्तैराकुल व्याप्त यत् तत् तथोच्यते, चित्तम् अन्तःकरणम्, प्रकरणाद्रौद्रध्या-नमिति गम्यते, इह च शब्दादिविषयसाधन धनविशेषण किल श्रावकस्य चैत्यधनसरक्षणे न रौद्रध्यानमिति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ।।२२।। साम्प्रत विशेषणाभिधानगर्भमुपसहरन्नाह—

इय करण-कारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं ।
अविरय-देसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ।।२३।।

'इय' एव करणं स्वयमेव, कारणमन्यैः, कृतानुमोदनमनुमति, करण च कारणं चानुमतिश्च करण-कारणानुमतय, एता एव विषय गोचरो यस्य तत्करण-कारणानुमतिविषयम्, किमिदमित्यत आह—'अनुचि-न्तन' पर्यालोचनमित्यर्थः । 'चतुर्भेदम्' इति हिंसानुबन्ध्यादिचतुष्प्रकारम्, रौद्रध्यानमिति गम्यते । अधुनेदमेव स्वामिद्वारेण निरूपयति—अविरता सम्यग्दृष्टय, इतरे च देशासयता श्रावकाः, अनेन सर्वसयतव्यवच्छेद-माह, अविरत-देशासयता एव जना अविरतदेशासयतजनाः, तेषां मनासि चित्तानि, तैः ससेवित सञ्चिन्ति-तमित्यर्थ, मनोग्रहणमित्यत्र ध्यानचिन्ताया प्रधानाङ्गख्यापनार्थम् । अधन्यमित्यश्रेयस्कर पाप निन्द्यमिति गाथार्थः ।।२३।। अधुनेद यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धन चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह—

दुर्गति को प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है ।।२१।।

अब क्रमप्राप्त विषयसंरक्षणानुबन्धी नाम के चौथे रौद्रध्यान के स्वरूप का निर्देश किया जाता है—

शब्दादिरूप इन्द्रियविषयों का कारण धन है । इसी से विषयासक्त जीव का चित्त उस धन के संरक्षण में उद्यत रहता है । उसके मन में सबके प्रति यह सन्देह बना रहता है कि न जाने कौन कब क्या करेगा, इससे यथाशक्ति सबका घात कर डालना श्रेयस्कर है, इस प्रकार का जो उसका कलुषित विचार रहता है, यह चौथा रौद्रध्यान है । वह अनिष्ट है—आत्महितैषी सत्पुरुष उसकी कभी इच्छा नहीं करते ।।२२।।

आगे उक्त चार प्रकार के रौद्रध्यान का उपसंहार करते हुए उसके स्वामियों का निर्देश किया जाता है—

इस प्रकार यह चार प्रकार का अनुचिन्तन (रौद्रध्यान) करण—स्वयं करना (कृत), कारण—अन्य से कराना (कारित)—और अनुमति—दूसरे के द्वारा किये जाने पर उसका अनुमोदन करना, इन तीन को विषय करने वाला है, उस अधन्य (निकृष्ट) रौद्रध्यान का चिन्तन अविरत—व्रतरहित मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि और देशतः असंयत—पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकों के मन द्वारा किया जाता है । अभिप्राय यह है कि उक्त चार प्रकार के रौद्रध्यान में से प्रत्येक कृत, कारित और अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार का है और वह पहिले से पांचवें गुणस्थान तक होता है, आगे के प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में वह नहीं होता ।।२३।।

वह चार प्रकार का रौद्रध्यान किस प्रकार के जीव के होता है और क्या करता है, इसे आगे प्रगट करते हैं—

एवं चउव्विहं राग-दोष-मोहाउलस्स जीवस्स ।
रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥२४॥

'एतत्' अनन्तरोक्तम्, चतुर्विधम् चतुष्प्रकारं राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य, आकुलस्य वेति पाठान्तरम् । कस्य ? जीवस्य आत्मन । किम् ? रौद्रध्यानमिति, इयमत्र चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमिदमित्यत आह—'संसारवर्द्धनम्' ओघत, 'नरकगतिमूल' विशेषत इति गाथार्थ ॥२४॥ साम्प्रतं रौद्रध्यायिनो लेश्या प्रतिपाद्यन्ते—

काबोय-नील-काला लेसाओ तिव्वसंकलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

पूर्ववद् व्याख्येया, एतावांस्तु विशेष—तीव्रसक्लिष्टा अतिसक्लिष्टा एता इति ॥२५॥ आह—कथं पुन रौद्रध्यायी ज्ञायत इति ? उच्यते—लिङ्गेभ्य., तान्येवोपदर्शयति—

लिंगाइँ तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥२६॥

'लिङ्गानि' चिह्नानि 'तस्य' रौद्रध्यायिन:, 'उत्सन्न-बहुल-नानाविधाऽऽमरणदोषा.' इत्यत्र दोषशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते—उत्सन्नदोष बहुलदोष. नानाविधदोष आमरणदोषश्चेति । तत्र हिंसानुबन्ध्यादीनामन्यतरस्मिन् प्रवर्तमान:, उत्सन्नम् अनुपरत बाहुल्येन प्रवर्तते इत्युत्सन्नदोष । सर्वेष्वपि चैवमेव प्रवर्तत इति बहुलदोष । नानाविधेषु त्वक्त्वक्षण-नयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येव प्रवर्तते इति नानाविधदोष । महदापद्गतोऽपि स्वत:, महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसञ्जातानुताप कालसौकरिकवत् अपि त्वसमाप्तानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति। तेष्वेव हिंसादिषु, आदिशब्दान्मृषावादादिपरिग्रह, ततश्च तेष्वेव हिंसानुबन्ध्यादिषु चतुर्भेदेषु । किम् ? बाह्यकरणोपयुक्तस्य सत उत्सन्नादिदोषलिङ्गानीति, बाह्यकरणशब्देनेह

वह चार प्रकार का रौद्रध्यान राग, द्वेष और मोह से व्याकुल जीव के होता है । वह सामान्य से उसके संसार को बढ़ाने वाला है तथा विशेष रूप से वह नरकगति का मूल कारण है ॥२४॥

आगे रौद्रध्यानी के सम्भव लेश्याओं का निर्देश किया जाता है—

रौद्रध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्मपरिपाक से होने वाली कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अतिशय संक्लिष्ट अशुभ लेश्यायें हुआ करती हैं । जिस प्रकार काले आदि रंग वाले किसी पदार्थ की समीपता से स्फटिक मणि में कृष्ण वर्णादि रूप परिणमन हुआ करता है उसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसका नाम लेश्या है और वह कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल के भेद से छह प्रकार की है ॥२५॥

आगे रौद्रध्यानी के चिह्नों को दिखलाते हैं—

उक्त हिंसानुबन्धी आदि चार प्रकार के रौद्रध्यान में बाह्य करण—वचन और काय—से उपयुक्त—उपयोग युक्त होकर प्रवृत्त हुए—रौद्रध्यानी जीव के उत्सन्नदोष, बहुलदोष, नानाविधदोष और आमरणदोष ये दोष होते हैं । ये उसके लिंग—ज्ञापक चिह्न हैं, जिनके द्वारा वह पहिचाना जाता है ॥

विवेचन—रौद्रध्यानी जीव सदा हिंसादि पापों में प्रवर्तमान रहता है, अतः उसके उक्त चार के दोष देखे जाते हैं । पूर्वोक्त हिंसानुबन्धी आदि चार प्रकार के रौद्रध्यान मे से किसी एक मे जो वह बहुलता से प्रवर्तमान रहता है, यह उसका उत्सन्न दोष है । वह उक्त सभी रौद्रध्यानों में जो इसी प्रकार से—बहुलता से—प्रवृत्त रहता है, यह उसका अनुमापक बहुल दोष है । वह चमड़ी के छीलने एवं नेत्रों के उखाड़ने आदिरूप हिंसा के उपायों में जो निरन्तर इसी प्रकार से प्रवृत्त रहता है, इसे उसका ज्ञापक नानाविधदोष जानना चाहिए । वह स्वयं भारी आपत्ति से ग्रस्त होकर तथा वैसी ही आपत्ति से ग्रस्त दूसरे के विषय में भी कालसौकरिक के समान जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप से रहित होता है, यह उसका परिचायक आमरण नाम का दोष है ॥२६॥ और भी

वाक्कायौ गृह्येते, ततश्च ताभ्यामपि तीव्रमुपयुक्तस्येति गाथार्थः ॥२६॥ किं च—

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो ।
हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥२७॥

इहाऽऽत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यसनम् आपत् परव्यसनम्, तत् 'अभिनन्दति' अतिक्लिष्टचित्तत्वाद् बहु मन्यत इत्यर्थः—शोभनमिद यदेतदित्थं संवृत्तमिति, तथा 'निरपेक्षः' इहान्यभविकापायभयरहितः, तथा निर्गतदयो निर्दयः, परानुकम्पाशून्य इत्यर्थः, तथा निर्गतानुतापो निरनुतापः, पश्चात्तापरहित इति भावः, तथा किं च—'हृष्यते' तुष्यति 'कृतपाप.' निर्वर्तितपाप सिंहमारकवत्, क इत्यत आह—रौद्रध्यानोपगतचित्त इति, अमूनि च लिङ्गानि वर्तन्त इति गाथार्थः ॥२७॥ उक्त रौद्रध्यानम्, साम्प्रत धर्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सयैवादाविद द्वारगाथाद्वयमाह—

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥२८॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फलं च नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥२९॥

ध्यानस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य । किम् ? 'भावना' ज्ञानाद्या , ज्ञात्वेति योग., किं च—देशं तदुचितम्, काल तथा आसनविशेष तदुचितमिति, आलम्बन वाचनादि, क्रम मनोनिरोधादि, तथा ध्यातव्यं ध्येयमाज्ञादि, तथा ये च ध्यातार अप्रमादादियुक्ता', तत. अनुप्रेक्षा' ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाद्यालोचनारूपा , तथा लेश्याः शुद्धा एव, तथा लिङ्ग श्रद्धानादि, तथा फलं सुरलोकादि, च-शब्द' स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपर , एतद् ज्ञात्वा । किम् ? धर्म्यम् इति धर्मध्यान ध्यायेन्मुनिरिति । तत्कृतयोग धर्मध्यानकृताभ्यास , ततः पश्चात् शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थ ॥२८-२९॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकार. स्वयमेव वक्ष्यति, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गनियताओ ॥३०॥

पूर्वं—ध्यानात् प्रथमम्, कृत निर्वर्तितोऽभ्यास आसेवनालक्षणो येन स तथाविध' , काभि पूर्वकृताभ्यास ? भावनाभि करणभूताभि , भावनासु वा भावनाविषये, पश्चाद् ध्यानस्य अधिकृतस्य, योग्यताम् अनुरूपताम्, उपैति यातीत्यर्थ., ताश्च भावना ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यनियता वर्तन्ते, नियताः परिच्छि-

---

जिसका चित्त रौद्रध्यान मे व्यापृत रहता है वह दूसरे की आपत्ति में प्रसन्न होता हुआ उसके विनाश के भय से रहित और दया से विहीन होता है, तथा इसके लिए वह पश्चाताप भी नहीं करता । साथ ही वह पापाचरण करके हर्षित भी होता है ॥२७॥

इस प्रकार रौद्रध्यान के कथन को समाप्त करके आगे धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः दो द्वारगाथाओं का निर्देश करते हैं—

मुनि को ज्ञानादि भावनाओं, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याताओं, अनुप्रेक्षाओं, लेश्याओं, लिंग और फल को जानकर धर्मध्यान का चिन्तन करना चाहिए । इस प्रकार धर्मध्यान का अभ्यास करके तत्पश्चात् शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए ॥२८-२९॥

आगे यथाक्रम से इन द्वारों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार प्रथमतः भावनाओं के प्रयोजन और उनके विषय को स्पष्ट करते हैं—

जिसने ध्यान से पूर्व भावनाओं के द्वारा अथवा उनके विषय में अभ्यास कर लिया है वह ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है—ध्यान करने के योग्य होता है । वे भावनायें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से नियत हैं—उनसे सम्बद्ध हैं । गाथागत 'नियताओ' के स्थान में 'जणियाओ' पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा—उक्त भावनायें ज्ञान, दर्शन और चारित्र से उत्पन्न होती हैं ॥३०॥

भाः, पाठान्तरं वा जनिता इति गाथार्थः ॥३०॥ साम्प्रतं ज्ञानभावनास्वरूप-गुणदर्शनायेदमाह—

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥३१॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने, नित्यं सदा, अभ्यासः आसेवनालक्षणः, करोति निर्वर्तयति । किम्? मनसः अन्तःकरणस्य, चेतस इत्यर्थः, धारणम् अशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना तथा 'विशुद्धिं च' तत्र विशोधनं विशुद्धिः सूत्रार्थयोरिति गम्यते, ताम्, च-शब्दाद् भवनिर्वेदं च, एवं 'ज्ञानगुणमुणितसारः' इति—ज्ञानेन गुणानां जीवाजीवाश्रितानाम् 'गुण-पर्ययवत् द्रव्यम्' [त. सू. ५–३७] इति वचनात्, पर्यायाणां च तदविनाभाविनाम्, मुणितः ज्ञातः सारः परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा ज्ञानमाहात्म्येनेति भावः, ज्ञातः सारो येन, विश्वस्येति गम्यते, स तथाविधः । ततश्च पश्चाद् 'ध्यायति' चिन्तयति । किंविशिष्टः सन्? सुष्ठु—अतिशयेन निश्चला निष्प्रकम्पा सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भावः, मतिः बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थः ॥३१॥ उक्ता ज्ञानभावना, साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूप-गुणदर्शनार्थमिदमाह—

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥३२॥

'शङ्कादिदोषरहितः' शङ्कनं शङ्का, आदिशब्दात् काङ्क्षादिपरिग्रहः, उक्तं च—'शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-परपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः' [त. सू. ७–१८] इति, एतेषां च स्व-

---

अब ज्ञानभावना के स्वरूप व उसके गुण के प्रगट करने के लिए यह कहा जाता है—

ज्ञान (श्रुतज्ञान) के विषय में निरन्तर किया गया अभ्यास मनके धारण को करता है—उसे अशुभ व्यापार से रोक कर स्थिर करता है—तथा सूत्र और अर्थविषयक विशुद्धि को भी करता है । इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जिसने गुणों के—जीव और अजीव में रहने वाले गुणों एवं उनकी अविनाभावी पर्यायों के भी—सार (यथार्थता) को जान लिया है अथवा ज्ञान गुण के द्वारा जिसने विश्व के सार (यथार्थ स्वरूप को) जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है । अभिप्राय यह है कि ज्ञान के अभ्यास से ध्यान की कारणभूत मन की स्थिरता होती है, अतः ध्यान की सिद्धि के लिए ज्ञान का अभ्यास करना आवश्यक है ॥३१॥

अब दर्शनभावना के स्वरूप और गुण को दिखलाते हैं—

जो शंका-कांक्षादि दोषों से रहित होकर प्रश्रम—स्वमत और परमत सम्बन्धी तत्त्वविषयक परिज्ञान से उत्पन्न प्रकृष्ट श्रम—अथवा प्रशम एवं जिनशासनविषयक स्थिरता आदि गुणों के समूह से युक्त होता है उसका मन दर्शनविशुद्धि के कारण ध्यान के विषय में मूढता (विपरीतता) को प्राप्त नहीं होता ॥

विवेचन—जीवादि पदार्थ जिस स्वरूप से अवस्थित है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है । उसके ये पांच दोष (अतिचार) हैं जो उसको मलिन किया करते हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा अथवा विद्वज्जुगुप्सा, परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव । जिनप्ररूपित पदार्थों में जो धर्मास्तिकाय आदि गहन पदार्थ हैं उनका बुद्धि की मन्दता के कारण निश्चय न होने पर 'अमुक पदार्थ ऐसा ही होगा या अन्यथा होगा' इस प्रकार से सन्देह करना, यह शंका कहलाती है । वह देशशंका और सर्वशंका के भेद से दो प्रकार की है । आत्मा क्या असंख्य प्रदेशों वाला है या प्रदेशों से रहित निरवयव है, इस प्रकार देशविषयक शंका का नाम देशशंका है । समस्त अस्तिकाय क्या ऐसे ही होंगे या अन्य प्रकार होंगे, इस प्रकार समस्त ही अस्तिकायों के स्वरूप में सन्देह करना, यह सर्वशंका कहलाती है । इस प्रकार का सन्देह मिथ्यात्वरूप ही है । कहा भी गया है—

पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं ।
सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥

अर्थात् जिसको सूत्रनिर्दिष्ट एक पद या अक्षर भी नहीं रुचता है उसे शेष अन्य सबके रुचने पर

रूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्याम', तत्र शङ्कादय एव सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणातिचारत्वात् दोषाः शङ्कादिदोषास्तैः रहित. त्यक्त, उक्तदोषरहितत्वादेव किम् ? 'प्रश(श्र)म-स्थैर्यादिगुणगणोपेत.' तत्र प्रकर्षेण

भी मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि किसी एक पदार्थ के विषय में भी यदि सन्देह बना रहता है तो निश्चित है कि उसकी सर्वज्ञ व वीतराग जिनके ऊपर श्रद्धा नहीं है। शंकाशील प्राणी किस प्रकार से नष्ट होता है और इसके विपरीत निःशंक व्यक्ति किस प्रकार सुखी होता है, इसके लिए पेयापायी दो बालकों का उदाहरण दिया जाता है।

दूसरा दोष कांक्षा है। सुगतादिप्रणीत विभिन्न दर्शनों के विषय मे जो अभिलाषा होती है उसे कांक्षा कहा जाता है। वह भी देश और सर्व के भेद से दो प्रकार की है। अनेक दर्शनों में से किसी एक ही दर्शन के विषय में जो अभिलाषा होती है वह देशकांक्षा कहलाती है। जैसे सुगत (बुद्ध) प्रणीत दर्शन उत्तम है, क्योंकि उसमें चित्त के जय की प्ररूपणा की गई है और वही मुक्ति का प्रधान कारण है, इत्यादि। सभी दर्शनों की अभिलाषा करना, यह सर्वकांक्षा का लक्षण है। कपिल, कणाद और अक्षपाद आदि के द्वारा प्रणीत सभी मतों मे अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है तथा उनमें ऐहिक क्लेश का भी प्रतिपादन नहीं किया गया, अतएव वे उत्तम हैं; इत्यादि। अथवा इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखादि की अभिलाषा करना, इसे कांक्षा दोष जानना चाहिये। जिनागम में उभय लोक सम्बन्धी सुखादि की अभिलाषा का निषेध किया गया है। इसलिए वह भी सम्यक्त्व के अतिचार रूप है। एक मात्र मोक्ष की अभिलाषा को छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार की अभिलाषा सम्यक्त्व की घातक ही है। कांक्षा करने और न करने के फल को प्रगट करने के लिए राजा और अमात्य का उदाहरण दिया जाता है।

सम्यक्त्व का तीसरा दोष विचिकित्सा अथवा विद्वज्जुगुप्सा है। जो पदार्थ युक्ति और आगम से भी घटित होता हैं उनके फल के प्रति सन्दिग्ध रहना, इसका नाम विचिकित्सा हैं। ऐसी विचिकित्सा वाला व्यक्ति सोचता है कि अतिशय कष्ट के कारणभूत इन कनकावली आदि तपों का परिणाम में कुछ फल भी प्राप्त होने वाला है या यों ही कष्ट सहन करना है। कारण कि लोक में कृषक (किसान) आदि की क्रियायें सफल और निष्फल दोनों ही प्रकार की देखी जाती हैं। शंका जहां समस्त व असमस्त द्रव्य-गुणों को विषय करती है वहां यह विचिकित्सा केवल क्रिया को ही विषय करती है, अतएव इसे शंका से भिन्न समझना चाहिए। इसके सम्बन्ध में एक चोर का उदाहरण दिया गया है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, सम्यक्त्व का तीसरा दोष विकल्परूप में विद्वज्जुगुप्सा भी है। जिन्होंने ससार के स्वभाव को जानकर समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिया है वे साधु विद्वान् माने जाते हैं, उनकी जुगुप्सा या निन्दा करना; इसका नाम विद्वज्जुगुप्सा है। जैसे—ये साधु स्नान नहीं करते, उनका शरीर पसीने से मलिन व दुर्गन्धयुक्त रहता है, यदि वे प्रासुक जल से स्नान कर लें तो क्या हानि होने वाली है, इत्यादि प्रकार की साधुनिन्दा। ऐसी निन्दा करना उचित नहीं हैं, कारण कि शरीर तो स्वभावतः मलिन ही है। इसके विषय में एक श्रावकपुत्री का उदाहरण दिया जाता है।

सम्यक्त्व का चौथा दोष है परपाषण्डप्रशंसा। परपाषण्ड का अर्थ है सर्वज्ञप्रणीत पाषण्डों से भिन्न अन्य पाखण्डी—क्रियावादी (१८०), अक्रियावादी (८४), अज्ञानिक (६७) और वैनयिक (३२) रूप तीन सौ तिरेसठ प्रकार के मिथ्यादृष्टि। उनकी प्रशंसा या स्तुति करना, इसका नाम परपाषण्डप्रशंसा है। इसके सम्बन्ध में पाटलिपुत्रवासी चाणक्य का उदाहरण दिया जाता है।

पाँचवां सम्यक्त्व का दोष है परपाषण्डसंस्तव। पूर्वोक्त पाषण्डियों के साथ रहकर भोजन व वार्तालापादि रूप परिचय बढ़ाना, यह परपाषण्डसंस्तव कहलाता है। यहां सौराष्ट्रवासी श्रावक का उदाहरण दिया गया है।

शमः प्रशमः खेदः, स च स्व-परसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता, आदिशब्दात्प्रभावनादिपरिग्रहः, उक्तं च—स-परसमयकोसल्लं थिरया जिणसासणे पभावणया। आययणसेव भत्ती दंसणदीवा गुणा पंच ॥१॥ प्रशम-स्थैर्यादय एव गुणास्तेषां गणः समूहस्तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः, अथवा प्रशमादिना स्थैर्यादिना च गुणगणेनोपेतः २, तत्र प्रशमादिगुणगणः प्रशम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्यादिस्तु दर्शित एव, य इत्थम्भूतः असौ भवति 'असम्मूढमनाः' तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः, दर्शनशुद्धया उक्तलक्षणया हेतुभूतया, क्व? ध्याने इति गाथार्थः ॥३२॥ उक्ता दर्शनभावना, साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूप-गुणदर्शनायेदमाह—

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

'नवकर्मणामनादानम्' इति नवानि उपचीयमानानि प्रत्यग्राणि भण्यन्ते, क्रियन्त इति कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि, तेषामनादानम् अग्रहणं चारित्रभावनया, समेति गच्छतीति योगः, तथा 'पुराणविनिर्जराम्' चिरन्तनक्षपणामित्यर्थः, तथा 'शुभादानम्' इति शुभं पुण्यं सात-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नाम-गोत्रात्मकम्, तस्याऽऽदानम् ग्रहणम्। किम्? चारित्रभावनया हेतुभूतया ध्यानम्, च-शब्दान्नवकर्मानादानादि च, अयत्नेन अक्लेशेन समेति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः? 'चर गति-भक्षणयोः' इत्यस्य 'अर्ति-लू-धू-सू-खनि-सहि-चर इत्रन्' [पा. ३-२-१८४] इतीत्रन्प्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपम्, तस्य भावश्चारित्रम्। एतदुक्तं भवति—इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावश्चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रिया इत्यर्थः, तस्य भावना अभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः ॥३३॥ उक्ता चारित्रभावना। साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूप-गुणदर्शनार्थमाह—

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥३४॥

सम्यक्त्व को कलुषित करने वाले इन दोषों से रहित होकर जो प्रशम व स्थैर्य आदि गुणों से युक्त है वह इस दर्शनविशुद्धि के द्वारा ध्यान में दिग्भ्रान्त नहीं होता। गाथोक्त 'पसम' शब्द का संस्कृत रूप प्रश्रम और प्रशम होता है। तदनुसार प्रश्रम का अर्थ स्वसमय और परसमय सम्मत तत्त्वों के अभ्यास से उत्पन्न होने वाला खेद है। प्रशम के आश्रय से प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन सम्यक्त्व के परिचायक गुणों का ग्रहण किया गया है। स्थैर्य से जिनशासनविषयक स्थिरता अभिप्रेत है ॥३२॥

अब चारित्रभावना के स्वरूप और उसके गुण को दिखलाते हुए यह कहा जाता है—

चारित्रभावना के द्वारा नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण और ध्यान; ये बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही प्राप्त होते हैं ॥

विवेचन—सर्वसावद्ययोग (पापाचरण) की निवृत्ति का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्रभावना है। इस चारित्रभावना से वर्तमान में आते हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का निरोध होता है तथा पूर्वोपार्जित उन्हीं कर्मों की निर्जरा भी होती है। इसके अतिरिक्त उक्त चारित्रभावना के प्रभाव से सातावेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र, इन पुण्य प्रकृतियों के ग्रहण के साथ ध्यान की भी प्राप्ति होती है। ये सब उस चारित्रभावना के आश्रय से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥३३॥

आगे वैराग्यभावना के स्वरूप व उसके गुण को प्रगट करते हैं—

जिसने चराचर जगत् के स्वभाव को भलीभाँति जान लिया है तथा जो संग (विषयासक्ति), भय और आशा से रहित हो चुका है उसका अन्तःकरण चूंकि वैराग्यभावना से सुसंस्कृत हो जाता है इसी-

सुष्ठु अतीव, विदितः ज्ञातो जगतः चराचरस्य, यथोक्तम्—जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् । स्वो भावः स्वभावः—जन्म मरणाय नियतं बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये । तन्नास्ति यन्न विपदे तथापि लोको निरालोकः ॥१॥ इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः, कदाचिदेवम्भूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात्ससङ्गो भवत्यत आह—'निःसङ्ग' विषयजस्नेहसङ्गरहित', एवम्भूतोऽपि च कदाचित्सभयो भवत्यत आह—'निर्भयः' इहलोकादिसप्तभयविप्रमुक्त', कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात्परलोकमधिकृत्य साशंसो भवत्यत आह—'निराशसश्च' इह-परलोकाशसाविप्रमुक्त, च-शब्दात्तथाविधक्रोधादिरहितश्च, य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाद्युपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः ॥३४॥ उक्ता वैराग्यभावना, मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम् । अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो ।

लिए वह ध्यान में अतिशय स्थिर हो जाता है—उससे कभी विचलित नहीं होता ॥

विवेचन—'तांस्तान् देव-मनुष्य-तिर्यङ्नारकपर्यायान् अत्यर्थं गच्छतीति जगत्' इस निरुक्ति के अनुसार बार-बार देव-मनुष्यादि अवस्थाओं को प्राप्त करने वाले प्राणिसमूह का नाम ही जगत् है। जगत्, लोक और संसार ये समानार्थक शब्द हैं। वह जगत् अनित्य व अशरण होकर 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं' इस प्रकार के मिथ्या अहंकार से ग्रसित होता हुआ जन्म, जरा और मरण से आक्रान्त है। जो जन्मता है वह मरता अवश्य है और मरण का दुख ही सर्वाधिक दुख माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र का यह कथन सर्वथा अनुभवगम्य है—यह अज्ञानी प्राणी मृत्यु से डरता है, परन्तु उसे उससे छुटकारा मिलता नहीं है। साथ ही वह सुख को चाहता है, पर वह भी उसे इच्छानुसार प्राप्त नहीं होता। यह जगत् का स्वभाव है। फिर भी अज्ञानी प्राणी इस वस्तुस्थिति को न जानकर निरन्तर मरण के भय से पीड़ित और सुख की अभिलाषा से सदा सन्तप्त रहता है[2]। जड़ शरीर के सम्बन्ध से जो कर्म का बन्धन होता है उससे चेतन—माता-पिता आदि—और अचेतन—धन-सम्पत्ति आदि—इन बाह्य पदार्थों में ममत्वबुद्धि होती है जिसके वशीभूत होकर वह उन विनश्वर पर पदार्थों को स्थायी समझता है व उनके संरक्षण के लिए व्याकुल होता है[3]। वह यह नहीं जानता कि जन्म-मरण का अविनाभावी है, जिन बन्धु जनों को प्राणी अपना मानता है वे वास्तव में दुख के ही कारण हैं, तथा जिस धन से वह सुख की कल्पना करता है वह सुख का साधन न होकर तृष्णाजनित दुख का ही कारण होता है, इस प्रकार लोक मे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो दुख का कारण न हो, ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी अपनी अज्ञानता से स्वय दुखी हो रहा है। इस प्रकार के जगत् के स्वभाव को जो जान चुका है उसे न तो विषयों में आसक्ति रहती है, न इहलोक व परलोकादि सात भयों में से कोई भय भी पीड़ित करता है, और न इस लोक व परलोक सम्बन्धी किसी सुख की इच्छा भी रहती है। इस प्रकार वह अपने अन्तःकरण के वैराग्य से सुवासित हो जाने के कारण ध्यान में अतिशय निश्चल हो जाता है ॥३४॥

इस प्रकार भावना के भेद व उनके स्वरूप को दिखलाकर अब क्रमप्राप्त देशद्वार का निरूपण करते हैं—

साधु का स्थान तो सदा ही युवति—मनुष्यस्त्री व देवी, पशु—तिर्यंचस्त्री, नपुंसक और

---

१. अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जरान्तकार्तं निरञ्जना शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥ बृ. स्वयम्भूस्तोत्र १२

२. बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्य शिव वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वय तप्यत इत्यवादीः ॥ बृ. स्वयंभू. ३४.

३. अचतने तत्कृतबन्धजेऽपि ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद् भवान् ॥ बृ. स्वयंभु. १७.

ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥३५॥

'नित्यमेव' सर्वकालमेव, न केवल ध्यानकाल इति। किम् ? 'युवति-पशु-नपुसक-कुशीलपरिवर्जितं यतेः स्थान विजनं भणितम्' इति। तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री देवी च परिगृह्यते, पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति, नपुसकं प्रतीतम्, कुत्सित निन्दित शील वृत्त येषा ते कुशीला, ते च तथाविधा द्यूतकारादयः, उक्त च—जूइयर-सोलमेठा वट्टा उब्भायगादिणो जे य। एए होंति कुसीला वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥१॥' युवतिश्च पशुश्चेत्यादि द्वन्द्व, युवत्यादिभिः परि— समन्तात् वर्जितम्—रहितमिति विग्रह, यते. तपस्विनः साधो., 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्' इति साध्व्याश्च योग्य यतिनपुसकस्य च। किम् ? स्थानम् अवकाशलक्षणम्, तदेव विशेष्यते—युवत्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतजन विजन भणितम् उक्त तीर्थकरैर्गणाधरैश्चेदमेवम्भूत नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसम्भवात्। विशेषतो ध्यानकाल इत्यपरिणतयोगादिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थ ॥३५॥ इत्थ तावदपरिणतयोगादीना स्थानमुक्तम्, अधुना परिणतयोगादीनधिकृत्य विशेषमाह—

थिर-कयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥३६॥

तत्र स्थिरा. सहनन-धृतिभ्या बलवन्त उच्यन्ते, कृता निर्वर्तिता, अभ्यस्ता इति यावत्। के ? युज्यन्त इति योगा ज्ञानादिभावनाव्यापारा सत्त्व-सूत्र-तप प्रभृतयो वा यैस्ते कृतयोगा, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहस्तेषाम्। अत्र च स्थिर-कृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा—'थिरे णामेगे णो कयजोगे इत्यादि, स्थिरा वा, पौन पुन्यकरणेन परिचिता कृता योगा यैस्ते तथाविधास्तेषाम्। पुन शब्दो विशेषणार्थ। किम्। विशिनष्टि ? तृतीयभङ्गवता न शेषाणाम्, स्वभ्यस्तयोगाना वा मुनीनामिति, मन्यन्ते जीवादीन् पदार्थानिति मुनयो—विपश्चित्साधवस्तेषा च, तथा ध्याने—अधिकृत एव धर्मध्याने सुष्ठु अतिशयेन निश्चल निष्प्रकम्प मनो येषा ते तथाविधास्तेषाम्, एवविधाना स्थान प्रति ग्रामे जनाकीर्णे शून्येऽरण्ये वा न विशेष इति। तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् गम्यो वा करादीनामिति ग्राम सन्निवेशविशेष, इह 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्' नगर-खेट-कर्वटादिपरिग्रह इति, जनाकीर्णे जनाकुले ग्राम एवोद्यानादौ वा, तथा शून्ये तस्मिन्नेवारण्ये वा कान्तारे वेति, वा विकल्पे, न विशेषो न भेद, सर्वत्र तुल्यभावत्वात्परिणतत्वात्तेषामिति

कुशील'—जुआरी आदि निन्द्य आचरण करने वालों से रहित निर्जन कहा गया है; फिर ध्यान के समय तो वह विशेष रूप से उपर्युक्त जनों से हीन होना चाहिए ॥३५॥

ऊपर जो ध्यान के योग्य स्थान का निर्देश किया गया है वह अपरिणत (अपरिपक्व) योग आदि वाले साधु को लक्ष्य करके किया गया है, आगे परिणत योग आदि से युक्त साधु को लक्ष्य करके उसमे विशेषता प्रगट की जाती है—

जो मुनि स्थिर—संहनन और धैर्य से बलवान्—और कृतयोग हैं—ज्ञानादि भावनाओं के व्यापार से अथवा सत्त्व, सूत्र व तप आदि से सयुक्त हैं—उनका मन चूंकि अतिशय स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, अतएव उनके लिए जनसमूह से व्याप्त गांव में और निर्जन वन मे कुछ विशेषता नहीं है—वे स्त्रियो आदि के आवागमन से व्याप्त गांव के बीच मे और एकान्त वन मे भी स्थिरतापूर्वक ध्यान कर सकते हैं ॥

विवेचन—'मन्यते जीवादीन् पदार्थान् इति मुनिः' इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों को जानता है उसका नाम मुनि है। तदनुसार जिन साधुओं ने जीवाजीवादि तत्त्वों को भलीभाँति जान लिया है उनका मन अतिशय निश्चल हो जाता है। इसलिए वे गांव या वन मे कहीं पर भी स्थित होकर ध्यान कर सकते हैं। आचार्य अमितगति ने यह ठीक ही कहा है—

जो विद्वान् साधु पर पदार्थों से भिन्न आत्मा में आत्मा का अवलोकन कर रहा है वह यह विचार करता है कि हे आत्मन्! तू ज्ञान-दर्शनस्वरूप अतिशय विशुद्ध है। ऐसा साधु एकाग्रचित्त होकर जहाँ

---

१. जूइयर-सोलमेट्ठा उब्भायगादिणो जे य। एए होंति कुसीला वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥
(हरि. टीका मे उद्धत)

गाथार्थः ।।३६।। यतश्चैवं—

जो [तो] जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण-कायजोगाणं।
भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ।।३७।।

यत एवं तदुक्तं 'ततः' तस्मात्कारणाद् 'यत्र' ग्रामादौ स्थाने 'समाधान' स्वास्थ्यं 'भवति' जायते, केषामित्यत आह—'मनोवाक्काययोगानां' प्राग्निरूपितस्वरूपाणामिति । आह—मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं तत्र क्वोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ? अत्रोच्यते—तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकम्, ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव । यथोक्तम्—'एवविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा । इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ।।१।। तथा—सुसमाहियकर-पायस्स अकज्जे कारणंमि जयणाए । किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो ।।२।। न चात्र समाधानमात्रकारित्वमेव गृह्यते, किन्तु भूतोपरोधरहितः, तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि, उपरोधः तत्सङ्घट्टनादिलक्षणः, तेन रहितः परित्यक्तो य 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्' अनृतादत्तादान-मैथुन-परिग्रहाद्युपरोधरहितश्च स देशो 'ध्यायतः', चिन्तयतः, उचित इति शेषः, अयं गाथार्थः ।।३७।। गतं देशद्वारम्, अधुना कालद्वारमभिधित्सुराह—

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवस-निसा-वेलाइनियमणं झाइणो भणियं ।।३८।।

कलनं कालः कलासमूहो वा कालः, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीप-समुद्रेषु चन्द्र-सूर्यगतिक्रियोपलक्षितो

कहीं भी स्थित होता हुआ समाधि को प्राप्त करता है[1] ।।३६।। इसी कारण से—

इसलिए जहाँ मन, वचन और काय योगों को समाधान (स्वास्थ्य) होता है वही प्रदेश ध्यान करने वाले योगी के लिए उपयुक्त होता है। विशेष इतना है कि वह भूतोपरोध से रहित—प्राणिहिंसा एवं असत्यभाषण आदि से रहित—होना चाहिए ।।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जहाँ पर मन, वचन एवं काय योगों की स्वस्थता है—उनके विकृत होने की सम्भावना नहीं है—तथा जो प्राणिविघात, असत्यता, चोरी, अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह रूप पापाचरण से रहित है वही स्थान ध्यान के लिए उपयोगी माना गया है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ध्यान के लिए मन की स्वस्थता तो अनिवार्य है, किन्तु वचन और काय की स्वस्थता का वहाँ कुछ उपयोग नहीं है, क्योंकि ध्यान वचन व कायरूप नहीं है, वह केवल मनरूप है। इसका समाधान यह है कि वचन और काय की स्वस्थता मनयोग को उपकारक है। दूसरे, ध्यान वचन व कायस्वरूप भी है। कहा भी गया है—

मुझे ऐसे वचन बोलना चाहिए और ऐसे नहीं बोलना चाहिए, इस प्रकार विचारपूर्वक जो बोलता है उसके वाचनिक ध्यान होता है। जो ध्याता मुनि हाथ-पाँवों को स्वाधीन रखता हुआ अयोग्य कार्य नहीं करता है तथा आवश्यक योग्य कार्य को यत्नपूर्वक करता है उसके इस प्रकार के अनुष्ठान को कायिक ध्यान कहा जाता है[1]। इस प्रकार वचन और काय की स्वस्थता चूंकि मनोयोग की उपकारक है—उसे स्वस्थ रखती है, इसलिए उसे भी ध्यानरूप जानना चाहिए ।।३७।।

अब क्रमप्राप्त कालद्वार का निरूपण किया जाता है—

देश के समान काल भी ध्यान के लिए वही योग्य है जिसमें योगी को उत्तम समाधान प्राप्त होता है। ध्याता के लिए दिन, रात और वेला—काल के एक देशरूप मुहूर्त आदि—के नियम

---

१. आत्मानमात्मन्यवलोकयमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ।। द्वात्रिंशिका २५.

१. एवविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा । इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ।। तथा सुसमाहियकर-पायस्स अकज्जे कारणमि (?) जयणाए । किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो ।। (हरि. टीका उद्.)

दिवसादिरवसेयः, अपिशब्दो देशानियमेन तुल्यत्वसम्भावनार्थः । तथा चाह— कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते, 'यत्र' काले 'योगसमाधानं' मनोयोगादिस्वास्थ्यम् 'उत्तमं' प्रधान 'लभते' प्राप्नोति, 'न तु' न पुनर्नैव च तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा । किम् ? दिवस-निशा-वेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति । दिवस-निशे प्रतीते, वेला सामान्यत एव, तदेकदेशो मुहूर्तादि, आदिशब्दात्पूर्वाह्णापराह्णादि वा, एतन्नियमनं दिवैवेत्यादिलक्षणम्, ध्यायिन. सत्त्वस्य भणितम् उक्त तीर्थंकर-गणधरैर्नैवेति गाथार्थः ॥३८॥ गतं कालद्वारम्, साम्प्रतमासनविशेषद्वार व्याचिख्यासयाऽऽह—

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

इहैव या काचिद् 'देहावस्था' शरीरावस्था निषण्णादिरूपा । किम् ? 'जिता' इत्यभ्यस्ता उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना 'न ध्यानोपरोधिनी भवति' नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थः, ध्यायेत् तदवस्थ इति—सैवावस्था यस्य स तदवस्थ, तामेव विशेषत प्राह—'थित' कायोत्सर्गेणेषन्नतादिना 'निषण्ण.' उपविष्टो वीरासनादिना 'निर्विण्ण.' सन्निविष्टो दण्डायतादिना 'वा' विभाषायामिति गाथार्थ ॥३९॥ आह —किं पुनरय देश-कालासनानामनियम इति ? अत्रोच्यते—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु ।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥४०॥
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाण जह होइ तहा [प]यइयव्व ॥४१॥

'सर्वासु' इत्यशेषासु देश-काल-चेष्टासु इति योग', चेष्टा देहावस्था, किम् ? 'वर्तमाना' अवस्थिताः, के ? 'मुनयः' प्राग्निरूपितशब्दार्थाः 'यद्' यस्मात्कारणात्, किम् ? वर प्रधानश्चासौ केवलादिलाभश्च वरकेवलादिलाभ', त प्राप्ता इति, आदिशब्दान्मन पर्यायज्ञानादिपरिग्रह, किं सकृदेव प्राप्ता ? न, केवल-बर्जं 'बहुश.' अनेकशः, किंविशिष्टाः ? 'शान्तपापा' तत्र पातयति नरकादिष्विति पापम्, शान्तम् उपशम नीत पाप यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थ ॥४०॥ यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्त तेन सहास्याभिसम्बन्ध, तस्माद्देश-काल-चेष्टानियमो ध्ययानस्य 'नास्ति' न विद्यते । क्व ? 'समये' आगमे, किन्तु 'योगानाम्' मन प्रभृतीना 'समाधानम्' पूर्वोक्तं यथा भवति तथा '[प्र]यतितव्यम्' [प्र]यत्न कार्यं इत्यत्र नियम एवेति

का निर्देश नहीं किया गया है । तात्पर्य यह है कि परिपक्व ध्याता किसी भी काल मे निर्बाध रूप से ध्यानस्थ हो सकता है ॥३८॥

अब आसनविशेष का व्याख्यान किया जाता है—

आसनादि के रूप में अभ्यस्त जो भी देह की अवस्था ध्यान मे बाधक नहीं होती है उसी अवस्था में स्थित ध्याता कायोत्सर्ग से, वीरासनादि से अथवा दण्डायत आदि स्वरूप से ध्यान में तल्लीन हो सकता है ॥३९॥

यहाँ शंका हो सकती है कि ध्यान के लिए उक्त प्रकार देश, काल एवं अवस्था का अनियम क्यों कहा गया—उनका कुछ विशेष नियम तो होना चाहिए था ? इसके समाधानस्वरूप आगे यह कहा जाता है—

उक्त शंका को लक्ष्य कर यहाँ यह कहा जा रहा है कि मुनि जनो ने देश, काल और चेष्टा—शरीर की अवस्था; इन सभी अवस्थाओं में अवस्थित रहकर चूंकि अनेक प्रकार से पाप को नष्ट करते हुए सर्वोत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है, इसीसे ध्यान के लिए आगम में देश, काल और चेष्टा का—आसनविशेषादि का—कुछ नियम नहीं कहा गया है; किन्तु जिस प्रकार से भी योगों का—मन, वचन, काय का—समाधान (स्वस्थता) होता है उसी प्रकार प्रयत्न करना चाहिए ॥४०-४१॥

गाथार्थ: ।।४१।। गतमासनद्वारम्, अधुनाऽऽलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

आलंबणाइं वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिंताओ ।
सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ।।४२।।

इह धर्मध्यानारोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि 'वाचना-प्रश्न-परावर्तनाऽनुचिन्ता:' इति । तत्र वाचनं वाचना, विनेयाय निर्जरार्थं सूत्रादिदानमित्यर्थ, शङ्किते सूत्रादौ संशयापनोदाय गुरुप्रच्छनं प्रश्न इति, परावर्तनं तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्रादेरविस्मरण-निर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति, अनुचिन्तनम् अनुचिन्ता मनसैवाविस्मरणादिनिमित्त सूत्रानुस्मरणमित्यर्थ, वाचना च प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्व, एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्तन्ते, तथा 'सामायिकादीनि सद्धर्मावश्यकानि च' इति, अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्तन्ते, सामायिकमादौ येषा तानि सामायिकादीनि, तत्र सामायिक प्रतीतम्, आदिशब्दान्मुखवस्त्रिका-प्रत्युपेक्षणादिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रहो यावत् पुनरपि सामायिकमिति, एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि, सन्ति—शोभनानि, सन्ति च तानि चारित्रधर्मावश्यकानि चेति विग्रह, आवश्यकानि नियमत करणीयानि, च समुच्चये इति गाथार्थ ।।४२।। साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह—

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ।।४३।।

'विषमे' निम्ने दु:सञ्चरे 'समारोहति' सम्यग परिक्लेशेनोर्ध्वं याति । क ? दृढ बलवद् द्रव्य रज्ज्वाद्यालम्बन यस्य स तथाविध, यथा 'पुरुष' पुमान् कश्चित्, 'सूत्रादिकृतालम्बन.' वाचनादिकृतालम्बन इत्यर्थ:, 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'ध्यानवर' धर्मध्यानमित्यर्थ, समारोहतीति गाथार्थ ।।४३।। गतमालम्बनद्वारम् । अधुना क्रमद्वारावसर, तत्र लाघवार्थं धर्मस्य शुक्लस्य च (त) प्रतिपादयन्नाह—

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहीए ।।४४।।

ध्यान प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समास:, प्रतिपत्तिक्रम: प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते, स च भवति मनोयोगनिग्रहादि, तत्र प्रथम मनोयोगनिग्रह ततो वाग्योगनिग्रह: तत: काययोग-

---

अब आलम्बन द्वार का निरूपण करते हुए उसके अवयवार्थ को स्पष्ट करते हैं—

वाचना, प्रश्न, परावर्तन और अनुचिन्ता तथा सामायिक आदि व सद्धर्मावश्यक आदि; ये ध्यान के आलम्बन हैं ।।

विवेचन—कर्मनिर्जरा के निमित्त शिष्य के लिए जो सूत्र आदि का दान किया जाता है उसका नाम वाचना है । सूत्र आदि के विषय मे शंका के होने पर उसे दूर करने के लिए जो गुरु से पूछा जाता है वह प्रश्न कहलाता है । पूर्वपठित सूत्र आदि का विस्मरण न होने देने तथा कर्मनिर्जरा के निमित्त अभ्यास करना, इसे परावर्तन कहा जाता है । अविस्मरण आदि के लिए मन से ही सूत्र का अनुस्मरण करना, इसका नाम अनुचिन्तन है । ये चारों श्रुतधर्म का अनुसरण करने वाले हैं । तथा सामायिक आदि व सद्धर्मावश्यक (चारित्रधर्मावश्यक) ये चारित्रधर्म का अनुसरण करने वाले हैं ।।४२।।

इनकी आलम्बनता किस प्रकार से है, इसे आगे दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया जाता है—

जिस प्रकार कोई पुरुष रस्सी आदि किसी प्रबल द्रव्य का आश्रय लेकर विषम—ऊँचे-नीचे आदि दुर्गम—स्थान पर चढ़ जाता है उसी प्रकार ध्याता सूत्र आदि का—पूर्वोक्त वाचना आदि का—आश्रय लेकर उत्तम ध्यान (धर्मध्यान) पर आरूढ़ हो जाता है ।।४३।।

अब अवसरप्राप्त क्रमद्वार का वर्णन करते हुए लाघव की अपेक्षा से धर्म और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानों के क्रम को दिखलाते हैं—

भवकाल में—मोक्षप्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल तक रहने वाली शैलेशी अवस्था में—केवली के ध्यान (शुक्ल) की प्राप्ति का क्रम मनोयोग आदि का निग्रह है—क्रम से मनयोग, वचनयोग

निग्रह इति । किमयं सामान्येन सर्वथैवेत्थम्भूत क्रम ? न, किन्तु 'भवकाले' केवलिनः—अथ भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गत परिगृह्यते, केवलमस्यास्तीति केवली तस्य, शुक्लध्यान एवायं क्रम । शेषस्यान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तुर्योग-कालावाश्रित्य किम् ? 'यथासमाधिना' इति यथैव स्वास्थ्यं भवति तथैव पतिपत्तिरिति गाथार्थ ।।४४।। गत क्रमद्वारम् । इदानी ध्यातव्यमुच्यते, तच्चतुर्भेदमाज्ञादिः । उक्त च—आज्ञाऽपाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्म्यम् [त सू ९—३७] इत्यादि, तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमह[ण]ग्घ ।
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ।।४५।।
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुण्णेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ।।४६।।

सुष्ठु अतीव, निपुणा कुशला सुनिपुणा ताम्, आज्ञामिति योग, नैपुण्य पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च । उक्त च—सुयनाणमि नेउण्ण केवले तयणतर । अप्पणो सेसगाणं च जम्हा त परिभावग ।।१।। इत्यादि, इत्थं सुनिपुणा ध्यायेत् । तथा 'अनाद्यनिधनाम्' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थ, अनाद्यनिधनत्व च द्रव्याद्यपेक्षयेति । उक्त च—"द्रव्यार्थदिशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीत्" इत्यादि । तथा 'भूतहिताम्' इति—इह भूतशब्देन प्राणिन उच्यन्ते, तेषा हिता—पथ्यामिति भाव, हितत्वं पुनस्तदनुपरोधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च । उक्त च—'सर्वे जीवा न हन्तव्या' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयास सिद्धा इति । 'भूतभावनाम्' इत्यत्र भूत सत्य भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना,

---

और काययोग के निग्रह (निरोध) रूप है। शेष (धर्मध्यानी) के उसकी प्राप्ति का क्रम समाधि के अनुसार है—जिस प्रकार से भी योगों की स्वस्थता होती है उसी प्रकार से उसकी प्रतिपत्ति का क्रम समझना चाहिए ।।४४।।

आगे ध्यातव्य (ध्येय) द्वार की प्ररूपणा की जाती है। वह (ध्यातव्य) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथमतः दो गाथाओं द्वारा आज्ञा का विवेचन किया जाता है—

अतिशय निपुणा, अनादि-निधना, प्राणियों का हित करने वाली, भूतभावना—सत्य को प्रगट करने वाली, अनर्घ्या, अमिता, अजिता, महार्था, महानुभावा और महाविषया; ऐसी जो लोक को दीपक के समान प्रकाशित करने वाले जिन भगवान् की निर्दोष आज्ञा—जिनवाणी—है उसका निर्मल अन्तःकरण से ध्यान करना चाहिए। नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर वह जिनाज्ञा अनिपुण—सत्-असत् का विचार न करने वाले अज्ञानी जनों के लिए दुरवबोध है ।।

विवेचन—ध्यातव्य का अर्थ ध्यान का विषय है, जिसका कि उसमे चिन्तन किया जाता है। वह आज्ञादि के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथमत आज्ञा (जिनाज्ञा) की विशेषता को प्रगट करते हुए उसके चिन्तन की यहां प्रेरणा की गई है। वह आज्ञा चूंकि सूक्ष्म द्रव्य आदि की प्ररूपक होने के साथ मतिज्ञान आदि की प्रतिपादक है, इसीलिए उसे अतिशय निपुणा कहा गया है। कहा भी है—श्रुतज्ञान में निपुणता है, तत्पश्चात् केवलज्ञान में निपुणता है जो मति आदि शेष ज्ञानों की प्रतिपादक (प्रकाशक) है। उक्त आज्ञा का प्रवाह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि काल से चला आया है और अनन्त काल तक रहने वाला है, इसलिए उसे उत्पत्ति और विनाश से रहित होने के कारण अनादि-निधना कहा गया है। किसी भी प्राणी का निघात नहीं करना चाहिए, यह जिनाज्ञा के द्वारा सर्वत्र निर्देश किया गया है। इसीलिए उसे भूतिहिता—भूतों (प्राणियों) की हितकारक—जानना चाहिए। 'भूतभावना' में भूत का अर्थ सत्य है, वह अनेकान्तवाद के आश्रय से उस सत्य को—यथार्थ वस्तु स्वरूप को—प्रगट करती है, इसीलिए उसे 'भूतभावना' विशेषण से विशिष्ट बतलाया गया है। अथवा भूत

---

१. मूल भाग के लिये संस्कृत टीका देखिये। (प्रवचनसार ३-३८, भगवती आराधना १०८)

अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थ, भूताना वा—सत्त्वाना भावना भूतभावना, भावना वासनेत्यनर्थान्तरम् । उक्तं च—कूरावि सहावेणं राग-विसवसाणुगावि होऊण । भावियजिणवयणमणा तेलुक्कसुहावहा होंति ॥१॥ श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति । तथा 'अनर्घ्याम्' इति सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्यामिति भाव । उक्तं च—सव्वेऽवि य सिद्धंता सदव्वरयणासया सतेलोक्का । जिणवयणस्स भगवओ न मुल्लमित्त अणग्घेणं ॥१॥ तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्—कल्पद्रुम कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशय विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥१॥ इत्यादि, अथवा 'ऋणघ्नाम्, इत्यत्र ऋण—कर्म, तद्घ्नामिति, उक्त च—ज अन्नाणी कम्म खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि । त नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण' ॥१॥ इत्यादि, तथा 'अमिताम्' इत्यपरिमिताम्, उक्त च—सव्वनदीण जा होज्ज वालुया सव्वउदहीण ज उदयं । एत्तो वि अणतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स ॥१॥ अमृता वा मृष्टा वा पथ्या वा, तथा चोक्तम्—जिणवयणमोदगस्स उ रत्ति च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्ति बुहो न गच्छइ हेउसहस्सोवगूढस्स ॥१॥ नर-नरय-तिरिय-सुरगणससारियसव्वदुक्ख-रोगाण । जिणवयणमेगमोसहमपवग्गसुहक्खयफलयं ॥२॥ सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिकामिति भाव, न तु यथा—तेषा कटतटभ्रष्टैर्गजाना मदबिन्दुभि । प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्व-रथवाहिनी ॥१॥ इत्यादिवन्मृतामिति, तथा 'अजिताम्' इति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थ । उक्तं च—जीवाइवत्थुचितणकोसल्लगुणेणऽणण्णसरिसेण । सेसवयणेहिं अजिय जिणिदवयणं महाविसय ॥१॥ तथा 'महार्थाम्' इति महान्—प्रधानोऽर्थो यस्या सा तथाविधा ताम्, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च प्रधानाम्, महत्स्था वा अत्र महान्त —सम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते, ततश्च महत्सु स्थिता महत्स्था ता च, प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थ, महास्था वेत्यत्र महा पूजोच्यते, तस्या स्थिता महास्था ताम्, तथा चोक्तम्—सव्वसुरासुरमाणुस-जोइस-वतरसुपूइय णाण । जेणेह गणहराण छुहति चुण्णे सुरिदावि ॥१॥ तथा 'महानुभावाम्' इति तत्र महान्—प्रधान प्रभूतो वाऽनुभाव:—सामर्थ्यादिलक्षणो यस्या सा तथा ता, प्राधान्य चास्याश्चतुर्दशपूर्वविद सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्व च प्रभूत-

शब्द का अर्थ प्राणी भी होता है, इस प्रकार प्राणियो की भावना (वासना) रूप होने से भी उसे भूतभावना समझना चाहिए। कहा भी गया है—रागरूप विष के वशीभूत हुए स्वभावतः क्रूर प्राणी भी—जैसे किरातीपुत्र आदि—अन्तःकरण से जिनवाणी की भावना द्वारा तीनों लोकों के सुख के भोक्ता होते हैं। गाथोक्त 'अहग्घ[अणग्घ]' शब्द के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए टीकाकार ने प्रथमतः उसका 'अनर्घ्या' संस्कृत रूप ग्रहण करके उसे सर्वोत्कृष्ट होने से अमूल्य बतलाया है। पश्चात् विकल्परूप में उसका 'ऋणघ्ना' संस्कृत रूप मान कर उन्होने ऋण का अर्थ कर्म बतलाते हुए उसे कर्म को घातक बतलाया है। प्रमाण रूप मे एक प्राचीन गाथा[1] को उद्धृत करते हुए वहां यह निर्देश किया गया है कि जिस कर्म को अज्ञानी जीव अनेक करोड़ वर्षों मे क्षीण करता है उसे ज्ञानी जीव तीन गुप्तियों से युक्त होकर उच्छ्वास मात्र काल मे क्षीण कर डालता है। वह जिनाज्ञा अपरिमिता इसलिये है कि उसके अर्थ का कोई प्रमाण नहीं है—वह अनन्त है। कहा भी है—सब नदियो की जो बालु है तथा सब समुद्रों का जो जल है उससे भी अनन्तगुणा एक सूत्र का अर्थ होता है। अथवा गाथोक्त 'अमिय' शब्द का रूपान्तर 'अमृता' भी होता है, तदनुसार उक्त जिनाज्ञा को अमृत के समान हितकर समझना चाहिये। अथवा 'अमृता' से उसे सजीव—विनाश से रहित—जानना चाहिये। अन्य प्रवचनाज्ञाओं द्वारा पराजित न होने के कारण उसे अजिता कहा गया है। वह पूर्वापर विरोध से रहित होती हुई अनुयोगद्वारस्वरूप व नयों से गर्भित होने के कारण महार्था कही जाती है। गाथोपयुक्त 'महत्थ' पद के रूपान्तर 'महत्स्थाम्' व 'महास्थाम्' भी विकल्प रूप मे ग्रहण किये गये हैं। तदनुसार सम्यग्दृष्टि भव्य जैसे महान् पुरुषों में स्थित होने के कारण उसे 'महत्स्था' कहा गया है, अथवा महा का अर्थ पूजा होता है, उसमें स्थित होने के कारण उसे 'महास्था' भी कहा गया है। वह जिनाज्ञा महानुभावा—महान् सामर्थ्य

१. प्रव. सा. ३-३८; भ. आ. १०८.

कार्यकरणात्, उक्तं च—'पभू ण चोद्दसपुव्वी घडाग्रो घडसहस्सं करित्तए' इत्यादि, एवमिह लोके, परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपात । उक्तं च—उववाग्रो लतगमि चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो । उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥ तथा 'महाविषयाम्' इति महद्विषयत्व तु सकलद्रव्यादिविषयत्वात् । उक्तं च—'दव्वग्रो सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ' इत्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥४५॥ 'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्याम्' इति अवद्य पापमुच्यते निर्गतमवद्य यस्या सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषण वा । कथं ध्यायेत् ? निरवद्यम्—इहलोकाद्याशंसारहितमित्यर्थ. । उक्त च—'नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवग्रो ग्रह नाणी' इत्यादिकं निरवद्यं ध्यायेत्, 'जिनानां' प्रागिनरूपितशब्दार्थानाम् 'आज्ञा' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा ताम् । किंविशिष्टाम् ? जिनानां—केवलालोकेनाशेषसशय-तिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते 'अनिपुणजनदुर्ज्ञेयाम्' न निपुण अनिपुण. अकुशल इत्यर्थ., जन लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति—दुरवगमाम्, तथा 'नय-भङ्ग-प्रमाण-गमगहनाम्' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणानि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्गहना—गह्वरा ताम्, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदा. । तथा भङ्गा क्रम-स्थानभेदभिन्ना, तत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापना— | ।। | ऽ। | ऽ। | ऽऽ | ।। | ऽ। | ऽ। | ऽऽ | स्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैक नो दृढधर्मेत्यादि । तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि द्रव्यादीनि, यथानुयोगद्वारेषु, गमा—चतुर्विंशतिदण्डकादय, कारणवशतो वा किञ्चिद्विसदृशा सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकायादाविति कृत विस्तरेणेति गाथार्थं ॥४६॥ ननु या एवविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभि:, आस्ना तावद्ध्यातुम्, ततश्च यदि कथञ्चिन्नावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह—

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहग्रो वावि ।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ॥४७॥
हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चितए मइम ॥४८॥

'तत्र' तस्यामाज्ञायाम्, चशब्द. प्रस्तुतप्रकरणानुकर्षणार्थ । किम् ? जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येन—बुद्धेः सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थ, तथा 'तद्विधाचार्यविरहतोऽपि' तत्र तद्विध सम्यगविपरीततत्त्वप्रतिपादनकुशल, आचर्यतेऽसावित्याचार्य सूत्राथा-वगमार्थ मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थ, तद्विधश्चासा-

से सम्पन्न—और महाविषया—समस्त द्रव्यादिकों को विषय करनेवाली है । इस प्रकार की वह जिनाज्ञा नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर होने के कारण मन्दबुद्धि जनो को दुरवबोध है। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उनमें से जो विवक्षावश किस एक धर्म को ग्रहण किया करता है उसका नाम नय है, वह नैगमादि के भेद से अनेक प्रकार का है । क्रम व स्थान के भेद से जो अनेक भेद होते हैं उन्हे भंग कहा जाता है । क्रमभंग जैसे—एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव बहुत अजीव, एक जीव एक अजीव; इत्यादि (षट्खण्डागम पु. ६, पृ २४६, अनुयोगद्वार पृ १४४-४५) । स्थानभंग जैसे—कोई प्रियधर्मा तो होता है, पर दृढधर्मा नही होता; इत्यादि । जिनके द्वारा ज्ञातव्य वस्तु के मान का परिज्ञान होता है वे द्रव्य, क्षेत्र एव काल आदि प्रमाण कहलाते हैं । चतुर्विंशतिदण्डक आदि को गम कहा जाता है । ऐसी उस अनुपम जिनवाणी के चिन्तन के लिये यहाँ प्रेरणा की गई हैं ॥४५-४६॥

अब आगे यह स्पष्ट किया जाता है कि उक्त जिनाज्ञा (जिनागम) यद्यपि कई कारणों से मन्दबुद्धि जन के लिये दुरवबोध है, तो भी बुद्धिमान् प्राणी को 'सर्वज्ञ का मत यथार्थ है' इस प्रकार से उसका चिन्तन करना ही चाहिए—

बुद्धि की दुर्बलता से, वस्तुस्वरूप का यथार्थ व्याख्यान करनेवाले आचार्यों के अभाव से, ज्ञेय (जानने के योग्य धर्मास्तिकायादि) की गम्भीरता से, ज्ञानावरण के उदय से तथा जिज्ञासित पदार्थ के

चाचार्यश्च तद्विधाचार्य., तद्विरहत॰ तदभावतश्च, चशब्द. अबोधे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थः, अपिशब्द. क्वचिदुभयवस्तूपपत्तिसम्भावनार्थः, तथा 'ज्ञेयगहनत्वेन च' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेय धर्मास्तिकायादि, तद्गहनत्वेन गह्वरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थ, तथा 'ज्ञानावरणोदयेन च' तत्र ज्ञानावरण प्रसिद्धम्, तदुदयेन तत्काले तद्विपाकेन, च-शब्दश्चतुर्थाबोधकारणसमुच्चयार्थ. । अत्राह—ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्यं तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति ? न, तत्कार्यस्यैव सङ्क्षेप-विस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थ ॥४७॥ तथा—तत्र हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः—कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरण चरित-कल्पितभेदम्, हेतुश्चोदाहरण च हेतूदाहरणे तयोरसम्भव॰, कञ्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिँश्च, च-शब्द पञ्चम-षष्ठकारणसमुच्चयार्थ, 'सति' विद्यमाने । किम् ? 'यत्' वस्तुजात 'न सुष्ठु बुध्येत' नातीवावगच्छेत् 'सर्वज्ञमतमवितथं तथापि तच्चिन्तयेन्मतिमान्' इति तत्र सर्वज्ञा. तीर्थंकरास्तेषां मत सर्वज्ञमतं वचनम् । किम् ? वितथम् अनृतम्, न वितथम् अवितथ सत्यमित्यर्थ, 'तथापि' तदबोधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि 'तत्' मत वस्तु वा 'चिन्तयेत्' पर्यालोचयेत् 'मतिमान्' बुद्धिमानिति गाथार्थ ॥४८॥ किमित्येतदेवमिन्यत आह—

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावाविणो तेण ॥४९॥

अनुपकृते परैरवर्तिते सति, परानुग्रहपरायणा धर्मोपदेशादिना परानुग्रहोद्युक्ता इति समास, 'यत्' यस्मात् कारणात्, के ? 'जिना' प्रागिनरूपितशब्दार्था, त एव विशेष्यन्ते—'जगत्प्रवरा' चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थ॰, एवविधा अपि कदाचिद् रागादिभावाद्वि तथवादिनो भवन्त्यत आह—जिता निरस्ता राग-द्वेष-मोहा यैस्ते तथाविधा, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो राग अप्रीतिलक्षणो द्वेष॰ अज्ञानलक्षणश्च मोह., च-शब्द एतदभावगुणसमुच्चयार्थ, 'नान्यथावादिन तेन' इति तेन कारणेन ते नान्यथावादिन इति । उक्त च—"रागाद्वा द्वेषाद्वा" इत्यादि गाथार्थ ॥४९॥ उक्तस्तावद्ध्यातव्यप्रथमो भेद, अधुना द्वितीय उच्यते—

रागद्दोस-कसाया ऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥५०॥

राग-द्वेष-कषायाऽऽश्रवादिक्रियासु प्रवर्तमानानामिह-परलोकापायान् ध्यायेत् । यथा रागादिक्रिया ऐहिकामुष्मिकविरोधिनी, उक्त च—राग सम्पद्यमानोऽपि दुःखदो दुष्टगोचर । महाव्याध्यभिभूतस्य कुपथ्याश्राभिलाषवत् ॥१॥ तथा 'द्वेष सम्पद्यमानोऽपि तापयत्येव देहिनम् । कोटरस्थो ज्वलन्नाशु दावानल इव

ज्ञापक हेतु और उदाहरण के असम्भव होने पर यद्यपि तत्त्व को ठीक से नहीं जाना जा सकता है तो भी उसके विषय में बुद्धिमान् जीव को 'सर्वज्ञ का मत—उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु का स्वरूप—यथार्थ है, वह असत्य नहीं हो सकता' ऐसा विचार करना चाहिए ॥४७-४८॥ इसका कारण यह है कि—

जगत् में श्रेष्ठ जिन भगवान् चूंकि राग, द्वेष और मोह को जीतकर—उनसे रहित होकर—परकृत प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए धर्मोपदेश आदि के द्वारा दूसरो के उपकार में तत्पर रहते हैं; अतएव वे अन्यथा कथन नहीं कर सकते—वस्तुस्वरूप का असत्य व्याख्यान नहीं कर सकते । वस्तुस्वरूप का असत्य व्याख्यान वही किया करता है जो सर्वज्ञ न होकर राग, द्वेष एवं मोह के वशीभूत होता है ॥४९॥

अब क्रमप्राप्त ध्यातव्य के द्वितीय भेदरूप अपाय का वर्णन करते हैं—

वर्जनीय (अकार्य) के परित्यागी ध्याता को राग, द्वेष, कषाय और आस्रव क्रियाओ मे प्रवर्तमान प्राणियों के इस लोक और पर लोक सम्बन्धी विनाश का विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—धर्मध्यानी छोड़ने योग्य असदाचरण का त्याग करता है तथा प्रमाद से रहित होकर रागादि क्रियाओं में प्रवर्तमान जीवों को जो इस लोक और परलोक में दुख सहना पड़ता है उसका

द्रुमम् ॥२॥' तथा 'दृष्टयादिभेदभिन्नस्य रागस्यामुष्मिक फलम् । दीर्घ ससार एवोक्तः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥३॥' इत्यादि । तथा 'दोसामलसंसत्तो इह लोए चेव दुक्खिओ जीवो । परलोगम्मि य पावो पावइ निरयानलं तत्तो ॥१॥ इत्यादि । तथा कषायाः—क्रोधादय., तदपाया' पुन.—कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोहो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणो कसाया सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥१॥ तथाऽऽश्रवा — कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादय, तदपाय: पुन —मिच्छत्तमोहियमई जीवो इहलोग एव दुक्खाइं । निरओवमाइ पावो पावइ पसमाइगुणहीणो ॥१॥ तथा—अज्ञान खलु कष्ट क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्य । अर्थं हितमहित वा न वेत्ति येनावृतो लोक ॥१॥ तथा—जीवा पाविंति इह पाणवहादविरईए पावाए । नियसुयघायणमाई दोसे जणगरहिए पावा ॥१॥ परलोगम्मिवि एव आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे । जीवाण चिरमवाया निरयाइगई भमताण ॥२॥ इत्यादि । आदिशब्द स्वगतानेकभेदख्यापक, प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये, क्रियास्तु कायिक्यादिभेदा पञ्च, एता पुनरुत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्याम, विपाक. पुन —किरियासु वट्टमाणा काइगमाईसु दुक्खिया जीवा । इह चेव य परलोए ससारपवड्ढया भणिया ॥१॥ ततश्चैव रागादिक्रियासु वर्तमानानामपायान् ध्यायेत । किंविशिष्ट सन्नित्याह— 'वर्ज्यपरिवर्जी' तत्र वर्जनीय वर्ज्यम् अकृत्य परिगृह्यते, तत्परिवर्जी अप्रमत्त इति गाथार्थ ॥५०॥ उक्त. खलु द्वितीयो ध्यातव्यभेद, अधुना तृतीय उच्यते, तत्र —

पयइ-ठिइ-पएसा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं ।
जोगाणुभावजणियं कम्मविवाग विचितेज्जा ॥५१॥

'प्रकृति-स्थिति-प्रदेशा ऽनुभावभिन्न शुभाशुभविभक्तम्' इति अत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते ज्ञानावरणीयादिभेदा इति, प्रकृतिरशो भेद इति पर्याया । स्थिति तासामेवावस्थान जघन्यादिभेदभिन्नम् । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेश-कर्मपुद्गलसम्बन्धोऽभिधीयते । अनुभावशब्देन तु विपाक । एते च प्रकृत्यादय शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति । ततश्चैतदुक्त भवति—प्रकृत्यादिभेदभिन्न शुभाशुभविभक्त 'योगा-

---

चिन्तन किया करता है । जिस प्रकार रोगी प्राणी कुपथ्य के सेवन से दुख पाता है उसी प्रकार विषयानुरागी जीव रागवश इस लोक मे अनेक प्रकार के कष्ट को सहता है । जैसे—रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछलियाँ धीवर के कांटे मे फंसकर मरण के दुख को सहती हैं, स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ हाथी अज्ञानतावश कृत्रिम हथिनी को यथार्थ हथिनी मानकर गड्ढे मे पड़ता है और परतन्त्र होता हुआ अनेक दुःखों को सहता है, इत्यादि । वह दीर्घससारी होकर इस लोक के समान परलोक मे भी दुर्गति के दुख को सहता है । जिस प्रकार वृक्ष के कोटर में लगी हुई आग उस वृक्ष को भस्म कर देती है उसी प्रकार द्वेष भी प्राणी को इस लोक में सन्तप्त किया करता है तथा परलोक में नरकादि दुर्गति के दुख को प्राप्त कराता है । इसी प्रकार क्रोधादि कषायो के वशीभूत हुए प्राणी भी दोनों लोको में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगा करते हैं । कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, अज्ञान एवं प्राणिहिंसादि से निवृत्ति न होने रूप अविरति आदि आस्रव कहलाते हैं । इन आस्रवो मे प्रवृत्त रहनेवाले प्राणी भी उभय लोको में नाना प्रकार के दुःखों को सहा करते हैं । इस प्रकार के चिन्तन का नाम ही अपायविचय है ॥५०॥

आगे उक्त ध्यातव्य के तृतीय भेदभूत विपाक का विवेचन किया जाता है—

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव के भेद से भेद को प्राप्त होनेवाला कर्म का विपाक शुभ और अशुभ इन दो भेदो में विभक्त है । मन, वचन व काय रूप योगो और अनुभाव—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय रूप जीवगुणो—से उत्पन्न होनेवाले उस कर्मविपाक का धर्मध्यानी को विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—कर्म का जो उदय—फल देने की उन्मुखता है—उसका नाम विपाक है । वह कर्मविपाक प्रकृति के भेद से, स्थिति के भेद से, प्रदेश के भेद से और अनुभाव के भेद से अनेक प्रकार का होकर भी शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) इन दो भेदो में विभक्त है । प्रकृति नाम अंश या भेद का

नुभावजनितं मनोयोगादिगुणप्रभव कर्मविपाक विचिन्तयेदिति गाथार्थः ॥५१॥ भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेय । तच्चेदम्—इह पयइभिन्नं सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ पयईउत्ति कम्मणो भेया अंसा णाणावरणिज्जाइणो अट्ठ, तेहिं भिन्नं विहत्तं सुहं पुण्ण सायाइय असुहं पावं तेहिं विहत्तं विभिन्नविपाकं जहा कम्मपयडीए तहा विसेसेण चिंतिज्जा । किं च—ठिइविभिन्न च सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा—ठिइत्ति तासिं चेव अट्ठण्हं पयडीणं जहण्ण-मज्झिमुक्कोसा कालावत्था जहा कम्मपडीए । किं च—पएसभिन्नं शुभाशुभ यावत्—'कृत्वा पूर्वविधान पदयोस्तावेव पूर्ववद् वर्ग्यौ । वर्ग-घनौ कुर्यातां तृतीयराशे—स्सत प्राग्वत्' ॥१॥ 'कृत्वा विधानम्' इति २५६, अस्य राशे पूर्वपदस्य घनादि कृत्वा तस्यैव वर्गादि ततः द्वितीयपदस्येदमेव विपरीत क्रियते, तत एतावेव वर्ग्यते, ततस्तृतीयपदस्य घर्ग-घनौ क्रियते, एवमनेन क्रमेणायं राशि १६७७७२१६ चितेज्जा, पएसोत्ति जीव-पएसाण कम्मपएसेहिं सुहुमेहिं एगखेत्तावगाढेहिं पुट्ठोगाढअणंतरअणु-बायर-उड्ढाइभेएहिं बद्धाण वित्थरओ कम्मपयडीए भणियाण कम्मविवाग विचिंतेज्जा । किं च—अणुभावभिन्न सुहासुहविहत्त कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ अणुभावोत्ति तासिं चेवऽट्ठण्हं पयडीणं पुट्ठ-बद्ध-निकाइयाण उदयाउ अणुभवण, न च कम्मविवाग जोगाणुभावजणिय विचिंतेज्जा, तत्थ जोगा मण-वयण-काया, अणुभावो जीवगुण एव, स च मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणियमुप्पाइय जीवस्स कम्म ज तस्स विवाग उदय विचिंतिज्जइ । उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेद, साम्प्रत चतुर्थं उच्यते, तत्र—

जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणाऽऽसण-विहाण-माणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥५२॥

जिना —प्राग्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकरा, तैर्देशितानि—कथितानि जिनदेशितानि, कान्यत आह—लक्षण-सस्थानाऽऽसन-विधान-मानानि । किम् ? विचिन्तयेदिति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ठ्या गाथायामिति । तत्र लक्षणादीनि विचिन्तयेत्, अत्रापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्त तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति । तत्र लक्षणं

है । उससे प्रकृत मे ज्ञानावरणादि रूप आठ कर्मप्रकृतियों को ग्रहण किया गया है । वे कर्मप्रकृतियां जीव के साथ सम्बद्ध होकर जितने काल तक रहती हैं उसे स्थिति कहा जाता है । वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है । जीवप्रदेशों के साथ जो कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध होता है वह प्रदेश कहलाता है । अनुभाव नाम विपाक या कर्मफल के अनुभवन का है । उक्त प्रकृति आदि अनेक भेद रूप होकर भी सामान्य से शुभ और अशुभ इन दो भेदो के अन्तर्गत हैं । उनमें सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियां और असातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियां क्रम से इष्ट व अनिष्ट फल देने के कारण शुभ और अशुभ मानी गई हैं । इन सबकी विशेष प्ररूपणा षट्खण्डागम, कषायप्राभृत और कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थों में विस्तार से की गई है ॥५१॥

आगे क्रमप्राप्त ध्यातव्य के चतुर्थ भेद का निरूपण छह गथाओ द्वारा किया जाता है—

धर्मध्यानी को जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट द्रव्यों के लक्षण, आकार, आसन, विधान (भेद) और मान का तथा उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य) और भंग (व्यय) इन पर्यायों का भी विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—आगे गाथा ५७ में जो 'विचिंतेज्जा' क्रियापद प्रयुक्त है उसके साथ इन गाथाओं का सम्बन्ध है । इससे गाथा का अर्थ यह है कि जिन देव ने धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के उपर्युक्त लक्षण आदि का जिस प्रकार से निरूपण किया है, धर्मध्यानी को उसी प्रकार से उनका चिन्तन करना चाहिए ।

लक्षण जैसे—जिस प्रकार अविनष्ट नेत्रों से युक्त प्राणी के पदार्थज्ञान में दीपक या सूर्य का प्रकाश सहायक होता है उसी प्रकार जो जीवों और पुद्गलों के गमन में बिना किसी प्रकार की प्रेरणा के सहायक होता है वह धर्मास्तिकाय कहलाता है । इसी प्रकार जैसे बैठते हुए प्राणी की स्थिति में पृथिवी कारण (उदासीन) होती है वैसे ही जो जीवों और पुद्गलों की स्थिति में अप्रेरक कारण होता है उसका नाम अधर्मास्तिकाय है । जिस प्रकार बेरों आदि को घट आदि स्थान देते हैं उसी प्रकार जो

धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां गत्यादि, तथा संस्थानं मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाकारलक्षणं परिमण्डलाद्यजीवानाम्, यथोक्तम्—परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंस आयते चेव। जीव-शरीराणां च समचतुरस्रादि। यथोक्तम्—समचउरंसे नग्गोहमंडले साइ वामणे खुज्जे। हुंडेवि य संठाणे जीवाण छ मुणेयव्वा ॥१॥ तथा धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया भावनीयमिति। उक्तं च—हेट्ठा मज्झे उवरिं छव्वी-झल्लरि-मुइंगसंठाणे। लोगो अद्धागारो अद्धाखेत्तागिई नेयो ॥१॥ तथाऽऽसनानि आधारलक्षणानि धर्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादीनि स्वस्वरूपाणि वा, तथा विधानानि धर्मास्तिकायादीनामेव भेदानित्यर्थः, यथा—'धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसे' इत्यादि, तथा मानानि—प्रमाणानि धर्मास्तिकायादीनामेवात्मीयानि। तथोत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्याया ये च 'द्रव्याणां' धर्मास्तिकायादीनां तान् विचिन्तयेदिति, तत्रोत्पादादिपर्यायसिद्धिः 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' [त सू. ५-२९] इति वचनात्, युक्ति पुनरत्र—घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पत्ति-स्थितिष्वयम्। शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥१॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः। अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥२॥ ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसम्बन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते, तदनन्तरातीतसमयसम्बन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति, धर्मास्तिकाय-द्रव्यात्मना तु नित्य इति। उक्तं च—सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यपचित्योराकृति-जातिव्यवस्थानात् ॥१॥ आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रहः, चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथार्थः ॥५२॥ किं च—

पञ्चत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं।
णामाइभेयविहियं तिविहमहोलोयभेयाइं ॥५३॥

जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्थान देता है उसे आकाश कहा जाता है। जो ज्ञानस्वरूप होकर समस्त पदार्थों का ज्ञाता और कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता है उसे जीव कहते हैं। वे जीव संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण व शब्द से युक्त होकर जो मूर्त स्वभाववाले हैं वे पुद्गल कहलाते हैं और संघात अथवा भेद से उत्पन्न होते हैं। संस्थान—पुद्गलों का आकार गोल, त्रिकोण, चौकोण और आयत आदि अनेक प्रकार का है। जीवों के शरीरों का आकार समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुण्ड के भेद से छह प्रकार का है। लोक का जो आकार है वही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का है। लोक का आकार अधोलोक में वेत के आसन के समान, मध्यलोक में झालर के समान और ऊर्ध्वलोक में मृदंग के समान है। समस्त लोक का आकार पाँवों को फैलाकर और कटि भाग पर दोनों हाथों को रखकर खड़े हुए पुरुष के समान है। आसन—आसन का अर्थ आधार है। धर्मास्तिकाय आदि का आधार लोकाकाश, लोकाकाश का आधार क्रम से घनोदधि आदि तीन वातवलय और उनका आधार अलोकाकाश है। वह अलोकाकाश स्वप्रतिष्ठ है। अथवा उक्त द्रव्यों का आधार अपना अपना स्वरूप समझना चाहिए। विधान—विधान से अभिप्राय जीव-पुद्गलादि के भेदों का है। मान—धर्मास्तिकाय आदि का जो अपना-अपना प्रमाण है उसे मान शब्द से ग्रहण किया गया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये द्रव्यों की पर्यायें (अवस्थायें) हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने पूर्व आकार को जो छोड़ता है उसका नाम व्यय, नवीन आकार को जो ग्रहण करता है उसका नाम उत्पाद, और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वयरूप से जो द्रव्य अवस्थित रहता है उसका नाम ध्रौव्य है। जैसे—घट को तोड़ कर उसका मुकुट बनाने पर घट का व्यय, मुकुट का उत्पाद और सुवर्णत्व की ध्रुवता है—उक्त दोनों ही अवस्थाओं में उसकी समान रूप से स्थिति है। ये तीनों प्रत्येक द्रव्य में सदा ही पाये जाते हैं और यही द्रव्यका स्वरूप है। इन सबका चिन्तन धर्मध्यानी किया करता है ॥५२॥ और भी—

जिनेन्द्र देव के द्वारा जो लोक धर्माधर्मास्तिकायादि पांच द्रव्यस्वरूप व अनादि-अनन्त निर्दिष्ट किया गया है उसका भी चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए। वह नाम-स्थापनादि के भेद से आठ या नौ प्रकार का और अधोलोकादि के भेद से तीन प्रकार का है ॥

'पञ्चास्तिकायमय लोकमनाद्यनिधनं जिनाख्यातम्' इति, क्रिया पूर्ववत् । तत्रास्तय: प्रदेशास्तेषां काया अस्तिकाया:, पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रहः, एते च धर्मास्तिकायादयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति । उक्तं च—जीवानां पुद्गलाना च गत्युपग्रहकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥१॥ जीवानां पुद्गलानां च स्थित्युपग्रहकारणम् । अधर्मः पुरुषस्येव तिष्ठासोरवनिर्यथा ॥२॥ जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मास्तिकाययो. । बदराणा घटो यद्वदाकाशमवकाशदम् ॥३॥ ज्ञानात्मा सर्वभावज्ञो भोक्ता कर्ता च कर्मणाम् । नानाससारि-मुक्ताख्यो जीव· प्रोक्तो जिनागमे ॥४॥ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द-मूर्तस्वभावका: । सङ्घात-भेदनिष्पन्ना पुद्गला जिनदेशिता. ॥५॥ तन्मय तदात्मकम्, लोक्यत इति लोकस्तम्, कालत. किम्भूतमित्यत आह—'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थ:, अनेनेश्वरादिकृतव्यवच्छेदमाह, असावपि दर्शनभेदाच्चित्र एवेत्यत आह—'जिनाख्यात' तीर्थंकरप्रणीतम्, आह—'जिनदेशिताम्' इत्यस्माज्जिनप्रणीताधिकारोऽनुवर्तते एव, ततश्च जिनाख्यातमित्यतिरिच्यते ? न, अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनादौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्—अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥१॥ तथा हि—'नामादिभेदविहित' भेदतो नामादिभेदावस्थापितमित्यर्थ । उक्त च—नाम ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य । पज्जवलोगो य तहा अट्ठविहो लोगमि [ग] निक्खेवो ॥१॥ भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेय:, साम्प्रत क्षेत्रलोकमधिकृत्याह—'त्रिविध' त्रिप्रकारम 'अधोलोकभेदादि' इति प्राकृतशैल्याऽधोलोकादिभेदम्, आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रह इति गाथार्थ ॥५३॥ कि च तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इद चेद च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह—

खिइ-वलय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं ।
वोमाइपइट्ठाणं नियय लोगट्ठिइविहाणं ॥५४॥

'क्षिति-वलय-द्वीप-सागर-निरय-विमान-भवनादिसस्थान' तत्र क्षितय: खलु घर्माद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमय परिगृह्यन्ते, वलयानि घनोदधि-घनवात-तनुवातात्मकानि घर्मादिसप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशति , द्वीपा जम्बूद्वीपादय स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असख्येया·, सागरा: लवणसागरादय: स्वयम्भूरमणसागरपर्यन्ता असख्येया एव, निरया: सीमन्तकाद्या अप्रतिष्ठानावसाना सख्येया:, यत उक्तम्—तीसा य पन्नवीसा पनरस दसेव सयसहस्साइ । तिन्नेग पचूण पच य नरगा जहाकमसो ॥१॥ विमानानि

विवेचन—जहां तक धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच अस्तिकाय—बहुप्रदेशी द्रव्य—देखे जाते हैं उसका नाम लोक है । वह अनादि-अनन्त है—न वह कभी किसी के द्वारा रचा गया है और न किसी के द्वारा वह नष्ट भी किया जाता है; किन्तु अनादि काल से वह इसी प्रकार से चला आया है और अनन्त काल तक इसी प्रकार रहने वाला है । उक्त लोक की विशेष प्ररूपणा टीकाकार के द्वारा आवश्यक सूत्र के चतुर्विंशतिस्तव प्रकरण में की गई है ॥५३॥

पूर्वोक्त आठ प्रकार के लोक में जो क्षेत्रलोक है उसमें क्या विचार करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है—

पृथिवी, वलय (वायुमण्डल), द्वीप, समुद्र, नरक, विमान और भवन आदि के आकार के साथ ही जिसका आधार आकाश आदि है उस शाश्वतिक लोकस्थितिविधान का भी चिन्तन करना चाहिए ॥

विवेचन—क्षेत्रलोक में घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा, माघवी और ईषत्प्राग्भारा ये आठ पृथिवियां हैं । इनमें ईषत्प्राग्भार को छोड़कर शेष सात पृथिवियों को सब ओर से क्रमशः घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ये तीन वायुमण्डल घेरे हुए हैं । इस प्रकार से वे वातवलय इक्कीस (७ × ३) हैं । जम्बूद्वीप को आदि लेकर स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप और लवणसमुद्र को आदि लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त समुद्र भी असंख्यात ही हैं। नारकबिल उक्त घर्म आदि सात पृथिवियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच हैं । चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देवों के तथा सौधर्मादि कल्पवासी व कल्पातीत वैमानिक देवों के

—ज्योतिष्कादिसम्बन्धीन्यनुत्तरविमानान्तान्यसख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसख्येयत्वात्, भवनानि भवनवास्यालयलक्षणानि असुरादिदशनिकायसम्बन्धीनि असख्येयानि, उक्त च—सत्तेव य कोडीओ हवंति बावत्तरिं सयसहस्सा। एसो भवणसमासो भवणवईण वियाणेज्जा '।१।। आदिशब्दादसख्येयव्यन्तरनगरपरिग्रहः, उक्तं च—हेट्ठोवरिजोयणसयरहिए रयणाए जोयणसहस्से। पढमे वतरियाण भोमा नयरा असखेज्जा ।।१।। ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्वः, एतेषा सस्थानम् आकारविशेषलक्षण विचिन्तयेदिति, तथा 'व्योमादिप्रतिष्ठानम्' इत्यत्र प्रतिष्ठिति प्रतिष्ठानम्, भावे ल्युट्, व्योम—आकाशम्, आदिशब्दाद्वाय्वादिपरिग्रह, व्योमादौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमादिप्रतिष्ठानम्, लोकस्थितिविधानमिति योग, विधिः विधान प्रकार इत्यर्थ., लोकस्य स्थिति· लोकस्थितिः, स्थिति व्यवस्था मर्यादा इत्यनर्थान्तरम्, तद्विधानम्, किम्भूतम् ? 'नियतम्' नित्य शाश्वतम्, क्रिया पूर्ववदिति गाथाथ. ।।५४।। कि च—

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ।।५५।।
तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ।।५६।।
अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोगवीइसंताणं।
संसार-सागरमणोरपारमसुह विचिंतेज्जा ।।५७।।

उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोग साकारानाकारादि, उक्त च—'स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेद' [त. सू. २-९], स एव लक्षण यस्य स उपयोगलक्षणस्तम्, जीवमिति वक्ष्यति, तथा 'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितम्, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थ, तथा 'अर्थान्तरम्' पृथग्भूतम्, कुत ? शरीरात्, जातावेकवचनम् शरीरेभ्य. औदारिकादिभ्य इति, किमित्यत आह—जीवति जीविष्यति जीवितवान् वा जीव इति तम्, किम्भूतमित्यत आह—'अरूपिणम्' अमूर्तमित्यर्थ, तथा 'कर्तारम्' निर्वर्तकम्, कर्मण इति गम्यते, तथा 'भोक्तारम्' उपभोक्तारम्, कस्य ? स्वकर्मण आत्मीयस्य कर्मण, ज्ञानावरणीयादेरिति गाथार्थ ।।५५।। 'तस्य च' जीवस्य

निवासस्थानों को विमान कहा जाता है। ये विमान ज्योतिषी देवो के असंख्यात और वैमानिक देवों के चौरासी लाख हैं। भवनवासी देवो के निवासस्थानो का नाम भवन है। उनके इन समस्त भवनों का प्रमाण सात करोड़ बहत्तर लाख है। व्यन्तर देवो के निवासस्थान नगर कहलाते हैं, जो असख्यात हैं। धर्मध्यानी इन सबके आकार आदि का विचार किया करता है। साथ ही वातवलयो और आकाश के ऊपर प्रतिष्ठित जो शाश्वतिक लोक है उसकी व्यवस्था आदि का भी वह विचार करता है ।।५४।।

आगे जीव के सम्बन्ध मे वह क्या विचार करे, इसे तीन गाथाओ द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जीव का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन है। वह अनादि-अनन्त, शरीर से भिन्न, अरूपी और अपने कर्म का कर्ता व भोक्ता है। उसका अपने कर्म से उत्पन्न हुआ जो ससार रूप समुद्र है वह जन्म-मरणादि रूप जल से परिपूर्ण, कषायोरूप पातालों से सहित, सैकड़ो आपत्तियोरूप श्वापदो (हिंसक जलजीवविशेषो) से व्याप्त, मोह रूप भँवरो से सयुक्त, महाभयकर और अज्ञानरूप वायु से प्रेरित सयोग-वियोग रूप लहरो की परम्परा से सहित है। वह ससाररूप समुद्र अनादि अनन्त एव अशुभ है। उसका चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए ।।

विवेचन—जीव का लक्षण चैतन्यपरिणामरूप उपयोग है। वह साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार का है। जो विशेषता के साथ पदार्थ को ग्रहण करता है उसे साकार (ज्ञान) और जो किसी प्रकार की विशेषता न करके सामान्य से ही वस्तु को विषय करता है उसे अनाकार (दर्शन) उपयोग कहा जाता है। वह जीव जन्म-मरण एव मोक्ष की परम्परा की अपेक्षा अनादि व अनन्त है। औदारिकादि शरीरों से भिन्न होकर वह अरूपी—रूप-रसादि से रहित (अमूर्तिक)—और अपने कर्म का कर्ता व भोक्ता है। उसका संसार—जन्म-मरणादि की परम्परा—अपने ही कर्म से उत्पन्न हुई है। प्रकृत मे उक्त

'स्वकर्मजनितम्' आत्मीयकर्मनिर्वर्तितम्, कम् ? संसार-सागरमिति वक्ष्यति तम्, किम्भूतमित्यत आह—'जन्मादिजलम्' जन्म प्रतीतम्, आदिशब्दाज्जरा-मरणपरिग्रहः, एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'कषाय-पातालम्' कषायाः पूर्वोक्तास्त एवागाधभव-जननसाम्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'व्यसनशत-श्वापदवन्तम्' व्यसनानि दुःखानि द्यूतादीनि वा, तच्छतान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वन्तम् 'मण' ति देशीशब्दो मत्वर्थीय, उक्तं च—मतुअत्थंमि मुणिज्जह आल इल्लं मण च मणुयं चेति, तथा 'मोहावर्तम्' मोह मोहनीयं कर्म, तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'महाभीमम्' अतिभयानकमिति गाथार्थः ॥५६॥ किं च—'अज्ञानम्' ज्ञानावरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणाम., स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुत. वायुस्तेनेरितः प्रेरितः, क. ? संयोग-वियोग-वीचिसन्तानो यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तत्र संयोगः केनचित् सह सम्बन्धः, वियोगः तेनैव विप्रयोग, एतावेव सन्ततप्रवृत्तत्वात् वीचय ऊर्मयस्तत्प्रवाहः सन्तान इति भावना॰ संसरणं ससारः, [स] सागर इव संसार-सागरस्तम्, किम्भूतम् ? 'अनोरपारम्' अनाद्यपर्यवसितम्, 'अशुभम्' अशोभनं विचिन्तयेत्, तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथार्थ ॥५७॥

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्घं ।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोय ॥५८॥
संवरकयनिच्छिद्दं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं ।
वेरग्गमग्गपडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥५९॥
आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुन्नं ।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥६०॥

ससार के अपरिमित होने से उसे यहां समुद्र कहा गया है—जिस प्रकार समुद्र अपरिमित जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार जीव का वह संसार भी जल के समान अपरिमित जन्म-मरणादि से संयुक्त है, समुद्र में जहां विशाल पाताल रहते हैं वहां संसार में उन पातालों के समान क्रोधादि कषायें विद्यमान हैं, समुद्र में यदि श्वापद (हिंसक जलजन्तुविशेष) रहते हैं तो ससार में उन श्वापदों के समान पीड़ा उत्पन्न करनेवाले सैकड़ो व्यसन हैं—सैकडों आपत्तियां अथवा लोकप्रसिद्ध जुआ आदि व्यसन हैं, समुद्र में जिस प्रकार भँवर उठते हैं उसी प्रकार संसार मे जन्म-मरण की परम्परा रूप भ्रमण को उत्पन्न करने वाला मोह है, समुद्र जैसे भय को उत्पन्न करता है वैसे ही संसार भी महान् भय को उत्पन्न करने वाला है, तथा समुद्र में जहां वायु से प्रेरित होकर लहरो की परम्परा चलती है वहां संसार में उन लहरों की परम्परा के समान अज्ञान रूप वायु से प्रेरित होकर संयोग-वियोग की परम्परा चलती रहती है; इस प्रकार अपने ही कर्म के वश प्रादुर्भूत जो यह संसार सर्वथा समुद्र के समान है उसके चिन्तन की भी यहां प्रेरणा की गई है ॥५५-५७॥

अब उक्त संसार-समुद्र के पार पहुंचाने में कौन समर्थ है, इसे आगे की तीन गाथाओ द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

उस संसार-समुद्र से पार उतारने मे वह चारित्ररूपी महती नौका समर्थ है जिसका उत्तम बन्धन सम्यग्दर्शन है, जो निष्पाप (अथवा अनर्घ—अमूल्य) है, जिसका कर्णधार (चालक) ज्ञान है, जो आस्रवों के निरोधस्वरूप संवर के द्वारा छेदरहित कर दी गई है, जिसका अतिशयित वेग तपरूप वायु से प्रेरित है, जो वैराग्य रूप मार्ग पर चल रही है, तथा जो दुर्ध्यानरूप लहरों के द्वारा क्षोभ को नहीं प्राप्त करायी जा सकती है। महा मूल्यवान् शीलांगरूप—पृथिवीकायसंरम्भादि के परित्यागरूप—रत्नो से परिपूर्ण उस चारित्ररूप विशाल नौका पर आरूढ़ होकर मुनिरूप व्यापारी उस निर्वाणपुर को—मुक्तिरूप पुरी को—बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधाओं के शीघ्र ही पा लेते हैं ॥

'तस्य च' संसार-सागरस्य 'संतरणसहम्' सन्तरणसमर्थम्, पोतमिति वक्ष्यति, किंविशिष्टम् ? सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधस्तम्, 'अनघम्' अपापम्, ज्ञानं प्रतीतम्, तन्मयः तदात्मकः कर्णधारः निर्यामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तम्, चारित्रं प्रतीतम्, तदात्मकम्, 'महापोतम्' इति महाबोहित्थम्, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ॥५८॥ इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरस्तेन कृतं निश्छिद्रं स्थगित-रन्ध्रमित्यर्थः, अनशनादिलक्षणं तपः, तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनस्तेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य जवनतरः शीघ्रतरो वेगः रयो यस्य स तथाविधस्तम्, तथा विरागस्य भावो वैराग्यम्, तदेवेष्टपुरप्राप-कत्वान्मार्ग इव वैराग्यमार्गस्तस्मिन् पतितः गतस्तम्, तथा विस्रोतसिका अपध्यानानि, एता एवेष्टपुर-प्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विस्रोतसिकावीचयः, ताभिर्निक्षोभ्यं निष्प्रकम्पस्तमिति गाथार्थः ॥५९॥ एवम्भूतं पोतं किम् ? 'आरोढु' इत्यारुह्य, के ? 'मुनि-वणिजः' मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः, त एवातिनिपुणमाय-व्ययपूर्वकं प्रवृत्तेर्वणिज इव मुनिवणिजः, पोत एव विशेष्यते—महार्घाणि शीलाङ्गानि—पृथिवीकायसंरम्भपरित्यागादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, तान्येवैकान्तिकात्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि महार्घशीला-ङ्गरत्नानि, तैः परिपूर्णः भृतस्तम्, येन प्रकारेण यथा 'तत्' प्रकान्तं 'निर्वाणपुर' सिद्धि-पत्तनम्, परिनिर्वाण-पुरं वेति पाठान्तरम् 'शीघ्रम्' आशु स्वल्पेन कालेनेत्यर्थः, 'अविघ्नेन' अन्तरायमन्तरेण 'प्राप्नुवन्ति' आसा-दयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्तते इत्ययं गाथार्थः ॥६०॥

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतिय निराबाहं ।
साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥६१॥

'तत्र च' परिनिर्वाणपुरे 'त्रिरत्नविनियोगात्मकम्' इति त्रीणि रत्नानि ज्ञानादीनि, विनियोगश्चैषां क्रियाकरणम्, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते, तथा 'ऐकान्तिकम्' इत्येकान्तभावि 'निराबाधम्' इत्याबाधार-हितम्, 'स्वाभाविकम्' न कृत्रिमम् 'निरुपमम्' उपमातीतमिति, उक्तं च—'नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खम्' इत्यादि 'यथा' येन प्रकारेण 'सौख्यम्' प्रतीतम्, 'अक्षयम्' अपर्यवसानम् 'उपयान्ति' सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथार्थः ॥६१॥

विवेचन—पूर्व तीन (५५–५७) गाथाओं में जीव के स्वरूप को प्रगट करते हुए कर्मोदयजनित उसके संसार को समुद्र की उपमा देकर उसकी भयंकरता दिखलायी जा चुकी है। अब इन गाथाओं में उक्त संसार-समुद्र से मुमुक्षु प्राणी कैसे पार होते हैं, इसे नाव के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार व्यापारी जन बहुमूल्य रत्नों को साथ लेकर समुद्र से पार होने के लिए ऐसी किसी सुदृढ़ व विशाल नौका का आश्रय लेते हैं जिसके बांधने की सांकल आदि दृढ़ है, जो निर्दोष है, जिसका खेव-टिया अतिशय कुशल है, जो निश्छिद्र होकर अनुकूल वायु के वेग से प्रेरित है, जो अभीष्ट स्थान के अनुकूल सीधे और सरल मार्ग से जा रही है, और जो आंधी (तूफान) से उठने वाली लहरों से क्षोभ को प्राप्त नहीं होती है। प्रकृत में व्यापारियों के समान मुमुक्षु जन और नौका के समान चारित्र है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन से स्थिर, निर्दोष, सम्यग्ज्ञान के आश्रय से अनुष्ठित, कर्मागम के कारणभूत मिथ्यादर्शनादिरूप आस्रवों से रहित—संवर से सहित, बाह्य व अभ्यन्तर तप से प्रेरित, वैराग्य से परि-पूर्ण और आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान से क्षोभरहित होना चाहिए। ऐसे अपूर्व चारित्र के द्वारा मोक्षाभिलाषी मुनिजन कर्मकृत विघ्न-बाधाओं से सर्वथा रहित होते हुए शीघ्र ही उस भयानक संसार से रहित होकर अविनाशी व निराबाध मुक्तिसुख को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के चिन्तन की ओर भी यहां धर्म-ध्यानी को प्रेरित किया गया है ॥५८–६०॥

आगे मुक्ति प्राप्त होने पर जीव को जो स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है उसका स्वरूप बतलाते हैं—

मुमुक्षु जीव उक्त निर्वाणपुर के प्राप्त कर लेने पर वहां सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों के उपयोग-स्वरूप, ऐकान्तिक—एकान्तरूप से होने वाले, बाधा से रहित, स्वाभाविक—कृत्रिमता से रहित (आत्मीक)—और उपमातीत—सर्वोत्कृष्ट—सुख को प्राप्त कर लेते हैं ॥६१॥

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं ।
सव्वनयसमूहमयं झाइज्जा समयसब्भावं ॥६२॥

किं बहुना भाषितेन ? 'सर्वमेव' निरवशेषमेव 'जीवादिपदार्थविस्तरोपेतम्' जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं समयसद्भावमिति योगः, किंविशिष्टम् ? 'सर्वनयसमूहात्मकं द्रव्यास्तिकादिनयसङ्घातमयमित्यर्थः, 'ध्यायेत्' विचिन्तयेदिति भावना, समयसद्भाव' सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्, अयं गाथार्थः ॥६२॥ गतं ध्यातव्यद्वारं, साम्प्रत येऽस्य ध्यातारस्तान् प्रतिपादयन्नाह—

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६३॥

प्रमादाः मद्यादय, यथोक्तम्—मज्जं विसय-कसाया निद्दा विकहा य पंचमी भणिया । सर्वप्रमादै रहिताः सर्वप्रमादरहिता', अप्रमादवन्त इत्यर्थ', 'मुनयः' साधव. 'क्षीणोपशान्तमोहाश्च' इति क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहाः उपशामकनिर्ग्रन्था., च-शब्दादन्ये वाऽप्रमादिन., 'ध्यातार' चिन्तका', धर्मध्यानस्येति सम्बन्ध., ध्यातार एव विशेष्यन्ते—'ज्ञान-धना' ज्ञान-वित्ता विपश्चित इत्यर्थ., 'निर्दिष्टाः' प्रतिपादितास्तीर्थकर-गणधरैरिति गाथार्थ ॥६३॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातार, साम्प्रतं शुक्लध्यानस्याप्याद्यभेदद्वयस्याविशेषेण एत एव यतो ध्यातार इत्यतो मा भूत्पुनरभिधेया भविष्यन्तीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य प्रसङ्गत एव तानेवाभिधित्सुराह—

एए च्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥६४॥

'एत एव' येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ताः 'पूर्वयो' इत्याद्ययोर्द्वयो' शुक्लध्यानभेदयोः पृथक्त्ववितर्कसविचारमेकत्ववितर्कमविचारमित्यनयो, ध्यातार इति गम्यते, अय पुनर्विशेष—'पूर्वधराः' चतुर्दशपूर्वविदस्तदुपयुक्ता, इद च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यम्, न निर्ग्रन्थानाम्, माष-तुष-मरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्ते., 'सुप्रशस्तसहनना' इत्याद्यसहननयुक्ता, इदं पुनरोघत एव विशेषणमिति तथा 'द्वयो' शुक्लयो., परयो' उत्तरकालभाविनो. प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति-व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासख्य सयोगायोगकेवलिनो ध्यातार इति योग, एवं च गम्मए—सुक्कज्झाणाइदुग वोली-

---

आगे प्रकृत ध्यातव्य द्वारका उपसंहार करते हुए सिद्धान्तार्थ के चिन्तन की प्रेरणा की जाती है—

बहुत कहने से क्या ? जो समय का सद्भाव—आगम का रहस्य—जीवाजीवादि पदार्थों के विस्तार से सहित और द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि नयों के समूह स्वरूप है उस सभी का चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए ॥६२॥

अब धर्मध्यान के ध्याता मुमुक्षुओं का निरूपण किया जाता है—

धर्मध्यान के ध्याता ज्ञानरूप धन से सम्पन्न वे मुनि कहे गये हैं जो मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथारूप सब प्रमादों से रहित होते हुए क्षीणमोह—मोहनीय कर्म के क्षय में उद्यत—अथवा उपशान्तमोह—उक्त मोहनीय कर्म के उपशम में उद्यत हैं ॥६३॥

ये जो धर्मध्यान के ध्याता कहे गये है वे ही चूंकि आदि के दो शुक्लध्यानों के भी ध्याता हैं, अत एव उनका निरूपण फिर से न करना पड़े, इस लाघव की अपेक्षा कर अन्तिम दो शुक्लध्यानों के साथ उनका निर्देश यहीं पर—धर्मध्यान के ही प्रकरण में—किया जाता है—

ये ही पूर्वोक्त धर्मध्यान के ध्याता पूर्व दो शुक्लध्यानों के—पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार ध्यानों के—ध्याता हैं। विशेष इतना है कि वे अतिशय प्रशस्त सहनन—वज्रर्षभनाराचसंहनन—से युक्त होते हुए पूर्वधर—चौदह पूर्वों के ज्ञाता (श्रुतकेवली) होते हैं। अन्तिम शुक्लध्यानों के—सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति और व्युपरतक्रियाप्रतिपाति इन दो ध्यानों के—ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते है ॥६४॥

ज्भास्स ततियमप्पत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलणाणमुप्पज्जइ, केवली य सुक्कलेसोऽज्झाणी य जाव सुहुमकिरियमनियट्टि त्ति गाथार्थः ।।६४।। उक्तमानुषङ्गिकम्, इदानीमवसरमाप्तमनुप्रेक्षाद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्वि ।।६५।।

इह ध्यान धर्मध्यानमभिगृह्यते, तदुपरमेऽपि तद्विगमेऽपि, 'मुनिः' साधु. 'नित्यं' सर्वकालमनित्यादिचिन्तनापरमो भवति, मादिशब्दादशरणैकत्व-ससारपरिग्रह । एताश्च द्वादशानुप्रेक्षा भावयितव्याः—इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पद [तथारोग्यम् । देहश्च यौवन जीवित च सर्वाण्यनित्यानि ।।१।। जन्म-जरामरण-भयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरण क्वचिल्लोके ।।२।। एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते । तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मन कार्यम् ।।३।। अन्योऽह स्वजनात्परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति । यस्य नियता मतिरिय न बाधते त हि शोककलि ।।४।। अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च । देहस्याशुचिभाव. स्थाने स्थाने भवति चिन्त्य ।।५।। माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति ससारे । व्रजति सुतः पितृना भ्रातृता पुनः शत्रुतां चैव ।।६।। मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् य. कषायदण्डरुचि । तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ।।७।। या पुण्य-पापयोरग्रहणे वाक्काय-मानसी वृत्ति । सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ।।८।। यद्वद्विशोषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः । तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति सवृतस्तपसा ।।९।। लोकस्याधस्तिर्यक्त्व चिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहुल्यम् । सर्वत्र जन्म-मरणे रूपिद्रव्योपयोगाश्च ।।१०।। धर्मोऽय स्वाख्यातो जगद्धितार्थे जिनैर्जितारिगणैः । येऽत्र रतास्ते ससार-सागरं लीलयोत्तीर्णा ।।११।। मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ । श्रद्धा-कथक-श्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधि ।।१२।। प्रशमर १५१–६२] इत्यादिना ग्रन्थन, फल चासा सचित्तादिष्वनभिष्वङ्ग-भवनिर्वेदाविति भावनीयम्, अथ किंविशिष्टोऽनित्यादिचिन्तनापरमो भवतीत्यत आह—'सुभावितचित्त' सुभावितान्तःकरण, केन ? 'धर्मध्यानेन' प्रागिरूपितशब्दार्थेन, 'य' कश्चित् 'पूर्वम्' आदाविति गाथार्थः ।।६५।। गतमनुप्रेक्षाद्वारम्, अधुना लेश्याद्वारप्रतिपादनायाह -

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदाइभेयाओ ।।६६।।

इह 'भवन्ति' सञ्जायन्ते, 'क्रमविशुद्धा.' परिपाटिविशुद्धाः, का ? लेश्याः, ताश्च पीत-पद्म-शुक्ला., एतदुक्त भवति—पीतलेश्याया पद्मलेश्या विशुद्धा, तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रमः, कस्यैता भवन्त्यत

इस प्रकार ध्याता का निरूपण करके अब क्रमप्राप्त अनुप्रेक्षाद्वार का व्याख्यान किया जाता है—

जिस मुनि ने पूर्व में धर्मध्यान के द्वारा चित्त को सुवासित कर लिया है वह धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा अनित्य व अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन मे तत्पर होता है ।।

विवेचन—ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त है, इससे अधिक समय तक वह नहीं रहता । ऐसी स्थिति में ध्यान के समाप्त हो जाने पर ध्याता क्या करे, इस आशंका के समाधानस्वरूप यहां यह कहा गया है कि उक्त धर्मध्यान के विनष्ट हो जाने पर धर्मध्यान का ध्याता अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, ससार, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, धर्मस्वाख्यात और बोधिदुर्लभ, इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है । इनके स्वरूप के दिग्दर्शन में टीकाकार के द्वारा प्रशमरतिप्रकरणगत १२ (१५१–६२) श्लोक उद्धृत किये गये हैं । उनका स्वरूप अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है ।।६५।।

आगे लेश्याद्वार का वर्णन किया जाता है—

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के क्रम से विशुद्धि को प्राप्त होने वाली पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्यायें होती हैं । इनमें प्रत्येक तीव्र व मन्द आदि (मध्यम) भेदों से युक्त हैं ।।

विवेचन—जिस प्रकार कृष्णादि वर्ण वाली किसी वस्तु की समीपता से स्फटिक मणि में तद्रूप

आह—'धर्मध्यानोपगतस्य' धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थः, किंविशिष्टाश्चैता भवन्त्यत आह—'तीव्र-मन्दादिभेदाः' इति, तत्र तीव्रभेदाः पीतादिस्वरूपेष्वन्त्याः, मन्दभेदास्त्वाद्याः, आदिशब्दान्मध्यमपक्षपरिग्रहः, अथवौघत एव परिणामविशेषात् तीव्र-मन्दभेदा इति गाथार्थः ॥६६॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, इदानीं लिङ्गद्वारं विवृण्वन्नाह—

आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥६७॥

इहागमोपदेशाऽऽज्ञा-निसर्गतो यद् 'जिनप्रणीतानां' तीर्थंकरप्ररूपितानां द्रव्यादिपदार्थानाम् 'श्रद्धानम्' अवितथा एत इत्यादिलक्षणं धर्मध्यानस्य तल्लिङ्गम्, तत्त्वश्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यायीति, इह आगमः सूत्रमेव, तदनुसारेण कथनम् उपदेशः, आज्ञा त्वर्थः, निसर्गः स्वभाव इति गाथार्थः ॥६७॥ किं च—

जिणसाहूगुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो ।
सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥६८॥

'जिन-साधुगुणोत्कीर्तन-प्रशंसा-विनय-दानसम्पन्नः' इह जिन-साधवः प्रतीताः, तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनादयस्तेषामुत्कीर्तनं सामान्येन संशब्दनमुच्यते, प्रशंसा त्वहो श्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुतिः, विनयः अभ्युत्थानादि, दानम् अशनादिप्रदानम्, एतत्सम्पन्नः एतत्समन्वितः, तथा श्रुत-शील-संयमरतः, तत्र श्रुतं सामायिकादिबिन्दुसारान्तम्, शीलं व्रतादिसमाधानलक्षणम्, संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः, यथोक्तम्—'पञ्चाश्रवात्' इत्यादि, एतेषु भावतो रतः, किम् ? धर्मध्यानीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥६८॥ गतं लिङ्गद्वारम्, अधुना फलद्वारावसरः, तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यानफलाधिकारे वक्ष्यतीत्युक्तं धर्मध्यानम् ।

परिणमन हुआ करता है उसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा का जो परिणाम होता है उसका नाम लेश्या है। वह छह प्रकार की है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन अशुभ व अन्तिम तीन शुभ हैं। धर्मध्यानी के जो पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें होती हैं वे क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हैं—पीत लेश्या की अपेक्षा पद्म और पद्म की अपेक्षा शुक्ल इस प्रकार वे उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। इनमें प्रत्येक तीव्र, मध्यम और मन्द भेदों से युक्त हैं—उनमें जो अन्तिम अंश हैं वे तीव्र और आदि के अंश मन्द हैं, शेष मध्य के अनेक अंश मध्यम हैं ॥६६॥

अब क्रमप्राप्त लिंग द्वार का वर्णन किया जाता है—

आगम, उपदेश, आज्ञा अथवा स्वभाव से जो जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट जीवाजीवादि पदार्थों का श्रद्धान उत्पन्न होता है वह धर्मध्यान का लिंग—उसका परिचायक हेतु है। आगम नाम सूत्र का है। उस सूत्र के अनुसार जो कथन किया जाता है वह उपदेश कहलाता है। इस उपदेश का जो अर्थ या अभिप्राय होता है उसे आज्ञा कहा जाता है। स्वभाव और निसर्ग ये समानार्थक शब्द हैं ॥६७॥

आगे इसी प्रसंग में धर्मध्यानी का स्वरूप कहा जाता है—

जो जिन, साधु और उनके गुणों के कीर्तन; प्रशंसा, विनय एवं दान से सम्पन्न होता हुआ श्रुत, शील और संयम में लीन होता है उसे धर्मध्यानी जानना चाहिए ॥

विवेचन—धर्मध्यानी की पहिचान तत्त्वार्थश्रद्धान से होती है, यह पूर्व गाथा में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त उसमें और अन्य कौन से गुण होते हैं, इसका निर्देश प्रकृत गाथा में किया जा रहा है—वह जिन, साधु और उनके गुणों का कीर्तन व प्रशंसा करता है। उक्त जिन आदि का सामान्य से शब्दों द्वारा उल्लेख करना, इसका नाम कीर्तन और स्तुतिरूप में भक्तिपूर्वक उनको बढ़ा-चढ़ाकर कहना इसका नाम प्रशंसा है। जिन आदि को देखकर उठ खड़े होना व आदर व्यक्त करना, इसे विनय कहा जाता है। भोजन आदि के देने रूप दान प्रसिद्ध ही है। उक्त धर्मध्यान का ध्याता सामायिक आदि बिन्दुसार पर्यन्त श्रुत के परिशीलन में उद्यत रहता हुआ व्रतादि के संरक्षण रूप शील व हिंसादि के परित्यागरूप संयम में तत्पर रहता है ॥६८॥

अब यद्यपि फलद्वार अवसरप्राप्त है, पर लाघव की अपेक्षा उसका कथन यहाँ न करके आगे

इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थ. प्राग्निरूपित एव, इहापि च भावनादीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति, तत्र भावना-देश-कालाऽऽसनविशेषेषु (धर्म)ध्यानादस्याविशेष एवेत्यत एतान्यना-दृत्याऽऽलम्बनान्यभिधित्सुराह—

अह खंति-मद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥६९॥

'अथ' इत्यासन्नविशेषानन्तर्ये, 'क्षान्ति-मार्द्दवाऽऽर्जव-मुक्तय' क्रोध-मान-माया-लोभपरित्यागरूपा:, परित्यागश्च क्रोधनिवर्तनमुदयनिरोध. उदीर्णस्य वा विफलीकरणमिति, एव मानादिष्वपि भावनीयम्, एता एव क्षान्ति-मार्द्दवाऽऽर्जव-मुक्तयो विशेष्यन्ते—'जिनमतप्रधाना:' इति जिनमते तीर्थंकरदर्शने कर्मक्षयहेतुताम-धिकृत्य प्रधाना' जिनमतप्रधाना:, प्राधान्यं चासामकषाय चारित्र चारित्राच्च नियमतो मुक्तिरिति कृत्वा, ततश्चैता आलम्बनानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि, यैरालम्बनै: करणभूतै शुक्लध्यान समारोहति, तथा च क्षान्त्याद्यालम्बना एव शुक्लध्यान समासादयन्ति, ना*न्य इति गाथार्थ' ॥६९॥ व्याख्यातं शुक्लध्यानमधि-कृत्याऽऽलम्बनद्वारम् । साम्प्रतं क्रमद्वारावसर:, क्रमश्चाऽऽद्ययोर्धर्मध्यान एवोक्त, इह पुनरय विशेष:—

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥७०॥

त्रिभुवनम् अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदम्, तद्विषय गोचर. आलम्बन यस्य मनस इति योग., तत्त्रिभुवन-विषयम्, 'क्रमश.' क्रमेण परिपाट्या प्रतिवस्तुपरित्यागलक्षणया, 'सक्षिप्य' सङ्कोच्य, किम् ? 'मन.' अन्त'-करणम्, क्व ? 'अणौ' परमाणौ, निधायेति शेष, क ? 'छद्मस्थ' प्राग्निरूपितशब्दार्थ., 'ध्यायति' चिन्त-यति 'सुनिष्प्रकम्प.' अतीव निश्चल इत्यर्थ', 'ध्यानम्' शुक्लम्, ततोऽपि प्रयत्नविशेषान्मनोऽपनीय 'अमना.' अविद्यमानान्त करण: 'जिनो भवति' अर्हन् भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यायतीति वाक्यशेष, तत्राप्याद्यस्यान्त-

---

शुक्लध्यान के फलद्वार में किया जाने वाला है । इस प्रकार धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर अब शुक्ल-ध्यान अवसरप्राप्त है । उसकी प्ररूपणा में भी वे ही भावना आदि (२८–२९) बारह द्वार हैं, जिनका कथन धर्मध्यान के प्रकरण में किया जा चुका है । उनमें भावना, देश, काल और आसनविशेष इन द्वारों में यहां धर्मध्यान से कुछ विशेषता नहीं है, अतः इनको छोड़कर आगे आलम्बन द्वार का निरूपण किया जाता है—

क्रोध, मान, माया और लोभ के परित्याग स्वरूप जो क्रम से क्षान्ति (क्षमा), मार्दव, आर्जव और मुक्ति हैं वे जिनमत में प्रधान होते हुए प्रकृत शुक्लध्यान के आलम्बन हैं । कारण यह कि इनके आश्रय से मुमुक्षु ध्याता उस शुक्लध्यान के ऊपर आरूढ़ होता है । उक्त क्रोधादि कषायों के परित्याग से अभिप्राय उनसे निवृत्त होने, उनके उदय के रोकने अथवा उदय को प्राप्त हुए उनके निष्फल करने का रहा है । जिनमत मे प्रधान उन्हें इसलिए कहा गया है कि मुक्ति का कारणभूत जो चारित्र है वह उक्त क्रोधादि कषायों के अभाव मे ही प्रादुर्भूत होता है ॥६९॥

अब शुक्लध्यान के अधिकार मे क्रमद्वार अवसरप्राप्त है । धर्मध्यान के प्रकरण मे जो क्रमद्वार का कथन किया गया है उसे आदि के दो शुक्लध्यानो के भी सम्बन्ध में समझना चाहिए । विशेषता यहां यह है—

छद्मस्थ ध्याता तीनों लोकों के विषय करने वाले मन को क्रम से संकुचित करके परमाणु में स्थापित करता हुआ अतिशय स्थिरतापूर्वक शुक्लध्यान का चिन्तन करता है । तत्पश्चात् प्रयत्नविशेष द्वारा परमाणु से भी उसे हटाकर उस मन से रहित होता हुआ जिन—अरहन्त केवली—हो जाता है और तब अन्तिम दो शुक्लध्यानो का चिन्तन करता है । उनमे से जब शैलेशी अवस्था के प्राप्त होने में अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब प्रथम का—सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का—और तत्पश्चात् शैलेशी अवस्था में द्वितीय का—व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का—चिन्तन करता है ॥७०॥

मुहूर्तेन शैलेशीमप्राप्तः, तस्यां च द्वितीयस्येति गाथार्थः ॥७०॥ आह—कथं पुनश्छद्मस्थस्त्रिभुवनविषयं मनः संक्षिप्याणौ धारयति, केवली वा ततोऽप्यपनयतीति ? अत्रोच्यते—

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ॥७१॥

'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'सर्वशरीरगतम्' सर्वदेहव्यापकम्, 'मन्त्रेण' विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन, 'विषम्' मारणात्मकं द्रव्यम्, 'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, क्व ? 'डङ्के' भक्षणदेशे, 'ततः' डङ्कात्पुनरपनीयते, केनेत्यत आह—'प्रधानतरमन्त्रयोगेन' श्रेष्ठतरमन्त्रयोगेनेत्यर्थः, मन्त्र-योगाभ्यामिति च पाठान्तरं वा, अत्र पुनर्योगशब्देनागदः परिगृह्यते इति गाथार्थः ॥७१॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो ।
परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो ॥७२॥

तथा 'त्रिभुवन-तनुविषयम्' त्रिभुवन-शरीरालम्बनमित्यर्थः, मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद्विषम्, 'मन्त्र-योगबलयुक्तः' जिनवचन-ध्यानसामर्थ्यसम्पन्नः परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्चापनयति 'ततोऽपि' तस्मादपि परमाणोः, कः ? 'जिन-वैद्यः' जिन-भिषग्वर इति गाथार्थः ॥७२॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह—

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व ।
थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७३॥
तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि ।
विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७४॥

'उत्सारितेन्धनभरः' अपनीतदाह्यसङ्घातः यथा 'परिहीयते' हानिं प्रतिपद्यते 'क्रमशः' क्रमेण 'हुताशः' वह्निः, 'वा' विकल्पार्थः, स्तोकेन्धनावशेषः हुताशमात्रं भवति, तथा 'निर्वाति' विध्यायति 'ततः' स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथार्थः ॥७३॥ अस्यैव दृष्टान्तोपनयमाह—तथा 'विषयेन्धनहीनः' गोचरेन्धनरहित इत्यर्थः, मन एव दुःख-दाहकारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, 'क्रमेण' परिपाट्या 'तनुके' कृशे, क्व ? 'विषयेन्धने' अणावित्यर्थः, किम् ? 'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, तथा 'निर्वाति ततः' तस्मादणोरपनीतश्चेति गाथार्थः ॥७४॥ पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह—

आगे छद्मस्थ तीनों लोकों के विषय करने वाले उस मन को संकुचित करके कैसे परमाणु में स्थापित करता है तथा केवली उससे भी उसे कैसे हटाते हैं, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा डंक में—काटने के स्थान में—रोका जाता है और तत्पश्चात् अतिशय श्रेष्ठ मंत्र के द्वारा डंकस्थान से भी उसे हटा दिया जाता है, उसी प्रकार तीनों लोकरूप शरीर को विषय करने वाले मनरूप विष को ध्यानरूप मंत्र के बल से युक्त ध्याता परमाणु में रोकता है और तत्पश्चात् जिनरूप वैद्य उस परमाणु से भी उसे हटा देता है ॥७१-७२॥

इसी को आगे दूसरे दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार ईंधन के समुदाय के हट जाने पर अग्नि क्रम से अल्प ईंधन के शेष रह जाने तक उत्तरोत्तर हानि को प्राप्त होती है और तत्पश्चात् अल्प ईंधन के भी समाप्त हो जाने पर वह बुझ जाती है उसी प्रकार विषयरूप ईंधन की हानि को प्राप्त हुई मनरूप अग्नि भी क्रम से उक्त विषयरूप ईंधन के अल्प रह जाने पर परमाणु में रुक जाती है और तत्पश्चात् उस विषयरूप ईंधन के सर्वथा नष्ट हो जाने पर वह मनरूप अग्नि भी बुझ जाती है। अभिप्राय यह है कि मन का विषय यद्यपि असीमित है, फिर भी विषयाकांक्षा के उत्तरोत्तर हीन होने पर उस मन का विषय परमाणु मात्र रह जाता है, तथा अन्त में उक्त विषयाकांक्षा का सर्वथा अभाव हो जाने पर वह मन भी विषयातीत होकर नष्ट हो जाता है ॥७३-७४॥

तोयमिव नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ॥७५॥

'तोयमिव' उदकमिव 'नालिकाया' घटिकायाः, तथा तप्त च तदायसभाजनं लोहभाजनं च तप्तायसभाजनम्, तदुदरस्थम्, वा विकल्पार्थः, परिहीयते क्रमेण यथा, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—'तथा' तेनैव प्रकारेण योगिमन एवाविकलत्वाज्जलं योगिमनोजल 'जानीहि' अवबुद्धयस्व, तथाऽप्रमादानलतप्तजीव-भाजनस्थं मनोजल परिहीयत इति भावना, अलमतिविस्तरेणेति गाथार्थ ॥७५॥ 'अपनयति ततोऽपि जिनवैद्यः' इति वचनाद् एव तावत् केवली मनोयोगं निरुणद्धीत्युक्तम्, अधुना शेषयोगनियोगविधिमभिधातुकाम आह—

एवं चिय वयजोग निरु भइ कमेण कायजोगंपि।
तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥७६॥

'एवमेव' एभिरेव विषादिदृष्टान्तै., किम्? वाग्योग निरुणद्धि, तथा क्रमेण काययोगमपि निरुणद्धीति वर्तते, तत. 'शैलेश इव' मेरुरिव स्थिर. सन् शैलेशी केवली भवतीति गाथार्थ.॥७६॥ इह च भावार्थो नमस्कारनिर्युक्ती प्रतिपादित एव, तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं स एव लेशत प्रतिपाद्यते तत्र योगानामिदं स्वरूपम्—औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेष. काययोगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति। स चामीषा निरोधं कुर्वन् कालतोऽन्तर्मुहूर्तभाविनि परमपदे भवोपग्राहिकर्मसु च वेदनीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितिषु सत्स्वेतस्मिन् काले करोति, परिमाणतोऽपि—पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइ जहण्णजोगिस्स। होंति मणोदव्वाइ तव्वावारो य जम्मत्तो ॥१॥

उसे पुष्ट करने के लिए और भी उदाहरण दिया जा रहा है—

जिस प्रकार नालिका (क्षुद्र घट) का जल अथवा तपे हुए लोहपात्र के मध्य मे स्थित जल क्रम से क्षीण होता जाता है उसी प्रकार योगी के मनरूप जल को जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के पात्र मे स्थित जल क्रम से उत्तरोत्तर चूता रहता है, अथवा अग्नि से सन्तप्त लोहे के पात्र में स्थित जल क्रम से जलकर क्षीण होता जाता है उसी प्रकार अग्नि के समान सन्तप्त करने वाले प्रमाद के उत्तरोत्तर हीन होते जाने से योगी का मन उत्तरोत्तर इन्द्रियविषय की ओर से विमुख होता हुआ केवली अवस्था मे सर्वथा क्षय को प्राप्त हो जाता है ॥७५॥

अब शेष वचनयोग और काययोग के निरोधक्रम को भी दिखलाया जाता है—

इसी प्रकार से—मनयोग के समान—वह (केवली) क्रम से वचनयोग और काययोग का भी निरोध करता है। तत्पश्चात् वह शैलेश—पर्वतों के अधिपति मेरु—के समान स्थिर होकर शैलेशी केवली हो जाता है ॥

विवेचन—केवली जिन मनयोग आदि का निरोध करते हैं उनका स्वरूप इस प्रकार है— औदारिक आदि शरीरों से युक्त आत्मा के वीर्य का जो विशेष परिणमन होता है उसका नाम काययोग है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से जिस वचनद्रव्य के समूह (वचनवर्गणा) का आगमन होता है उसकी सहायता से होने वाले जीव के व्यापार को वचनयोग कहा जाता है। इन्हीं तीनों शरीरों के व्यापार से ग्रहण किये गये मनद्रव्य (मनोवर्गणा) की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है वह मनयोग कहलाता है। मोक्षपद की प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त मात्र काल शेष रह जाता है तब संसार के कारणभूत वेदनीय आदि अघातिया कर्मों की स्थिति के समुद्घात के द्वारा अथवा स्वभाव से ही समान हो जाने पर केवली उक्त योगों का निरोध किया करते हैं। जघन्य योग वाले पर्याप्त मात्र संज्ञी जीवके जितने मनद्रव्य होते हैं और जितना उनका व्यापार होता है उनके असंख्यातगुणे हीन का प्रत्येक समय में निरोध करते हुए केवली असंख्यात समयों में समस्त मनयोग का निरोध कर देते है। तत्पश्चात्

वक्सङ्खगुणविहीणे समए समए निरुंभमाणो सो। मणसो सव्वनिरोहं कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥२॥ पज्जत्तमित्तबिंदियजहण्णवइजोगपज्जया जे उ। तदसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभंतो ॥३॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहिं कुणइ समएहिं। तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥४॥ जो किर जहण्णजोओ तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के। समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुंचतो ॥५॥ रुंभइ स कायजोगं संखाईएहिं चेव समएहिं। तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेइ ॥६॥ सेलेसो किर मेरू सेलेसी होइ जा तहाऽचलया। होउं च असेलेसो सेलेसी होइ थिरयाए ॥७॥ अहवा सेलुव्व इसी सेलेसी होइ सो उ थिरयाए। सेव अलेसीहोई सेलेसीहो अलोवाओ ॥८॥ सीलं व समाहाणं निच्छयओ सव्वसंवरो सो य। तस्सेसो सीलेसो सीलेसी होइ तयवत्थो ॥९॥ हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति। अच्छइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥१०॥ तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुमकिरियाणियट्टिं सो। वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालंमि ॥११॥ तयसंखेज्जगुणाए गुणसेढीएँ रइयं पुरा कम्मं। समए समए खवय कमसो सेलेसिकालेणं ॥१२॥ सव्वं खवेइ त पुण निल्लेवं किंचि दुचरिमे समए। किंचिच्च होति चरमे सेलेसीए तयं

पर्याप्त मात्र दो इन्द्रिय जीव के जघन्य वचनयोग की जितनी अवस्थायें हैं उनके असंख्यातगुणे हीन वचनयोग की अवस्थाओं का वे प्रत्येक समय में निरोध करते हुए असंख्यात समय में समस्त वचनयोग का निरोध कर देते हैं। इस प्रकार वचनयोग का भी निरोध हो जाने पर वे सूक्ष्म पर्याप्तक जीव का उत्पन्न होने के प्रथम समय में जितना जघन्य योग होता है उससे असंख्यातगुणे हीन का प्रत्येक समय में निरोध करते हैं और शरीर के तृतीय भाग को छोड़ते हुए असंख्यात समयों में काययोग का भी निरोध कर देते हैं। इस प्रकार काययोग का निरोध कर चुकने पर वे शैलेशी भावना को प्राप्त होते हैं। शैलेश नाम मेरु पर्वत का है, उस मेरु के समान जो स्थिरता प्राप्त होती है उसे शैलेशी कहा जाता है। पूर्व में शैलेश न होकर पश्चात् स्थिरता के आश्रय से शैलेश हो जाना, यह शैली का अभिप्राय है। 'सेलेसी' यह शब्द प्राकृत का है। इसका संस्कृत रूपान्तर जैसे 'शैलेशी' होता है वैसे ही 'शैलर्षि' भी होता है, उसका अर्थ होता है शैल के समान स्थिर ऋषि, ऐसे ऋषि केवली ही होते हैं। अथवा 'स एव अलेसी सेलेसी' इस निरुक्ति के अनुसार उसका अभिप्राय लेश्या से रहित केवली ही होता है[1]। अथवा प्रकारान्तर से सर्वसंवररूप शील का जो ईश (स्वामी) है उसे शीलेश कहा जाता है। वे केवली जिन ही होते हैं, जो पूर्व में शीलेश नहीं थे वे उस केवली अवस्था में शीलेश हो जाते हैं, अतः उन्हें अशीलेश से शैलेशी कहा जाता है[2]। इस प्रकार योगनिरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए केवली, जिस मध्यम काल से अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतने काल उस शैलेशी अवस्था में स्थित रहते हैं। यही अयोगकेवली का काल है। केवली कायनिरोध के प्रारम्भ से सूक्ष्मक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं और तत्पश्चात् उक्त शैलेशी अवस्था में वे सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं। इस शैलेशीकाल में केवली असंख्यातगुणित गुणश्रेणी रूप से रचे गये पूर्वसंचित कर्म का प्रत्येक समय में क्षय करते हुए सब का क्षय कर देते हैं। उनमें कुछ कर्म का निर्लेप क्षय वे शैलेशीकाल के द्विचरम समय में और कुछ का उसके अन्तिम समय में क्षय करते हैं। उनमें से चरम समय में जिन कर्मप्रकृतियों का क्षय किया जाता है वे ये हैं—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर,

१. तदो अंतोमुहुत्तं सेलेसिं पडिवज्जदि। ततोऽन्तर्मुहूर्तमयोगिकेवली भूत्वा शैलेश्यमेष भगवानलेश्यभावेन प्रतिपद्यते इति सूत्रार्थः। किं पुनरिदं शैलेश्य नाम? शीलानामीश शैलेशः, तस्य भाव. शैलेश्य सकलगुण-शीलानामैकाधिपत्यप्रतिलम्भनमित्यर्थः। जयध. अ. प. १२४६ (धव. पु १०, पृ. ३२६ का टि. १)

२. शीलेशः सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येयमवस्था। शैलेशो वा मेरुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी। सा च सर्वथा योगनिरोधे पचह्रस्वाक्षरोच्चारकालमाना। व्याख्याप्रज्ञप्ति अभय. वृ. १, ८, ७२ (धव. पु. ६, पृ. ४१७ का टि. १)

वोच्छं ॥१३॥ मणुयगइ-जाइ-तस-बादरं च पज्जत्त-सुभगमाएज्जं । अन्नयरवेयणिज्जं नराउमुच्चं जसो नाम ॥१४॥ संभवओ जिणणामं नराणुपुव्वी य चरिमसमयम्मि । सेसा जिणसत्ताओ दुचरिमसमयम्मि निट्ठंति ॥१५॥ ओरालियाहिं सव्वाहिं चयइ विप्पजहणाहिं ज भणियं । निस्सेस तहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्वं ॥१६॥ तस्सोदइयाभावा भव्वत्तं च विणियत्तए समयं । सम्मत्त-णाण-दंसण-सुह-सिद्धत्ताणि मोत्तूण ॥१७॥ उजुसेढिं पडिवन्नो समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥१८॥ अलमतिप्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥७६॥ उक्त क्रमद्वारम्, इदानीं ध्यातव्यद्वारं विवृण्वन्नाह—

उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि ।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥७७॥
सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ॥७८॥

'उत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्यायाणाम्' उत्पादादय. प्रतीता:, आदिशब्दान्मूर्तामूर्तग्रह:, अमीषा पर्यायाणां यदेकस्मिन् द्रव्ये अण्वात्मादौ, किम् ? नानानयै. द्रव्यास्तिकादिभिरनुस्मरण चिन्तनम्, कथम् ? पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविद:, मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा ॥७७॥ तत्किमित्याह—'सविचारम्' सह विचारेण वर्तत इति सविचारम्, विचार. अर्थ-व्यञ्जन-योगसक्रम इति, आह च—'अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरत.' अर्थ: द्रव्यम्, व्यञ्जन शब्द:, योग· मन प्रभृति, एतदन्तरत. एतावद्भेदेन सविचारम्, अर्थाद् व्यञ्जन संक्रामतीति विभाषा, 'तकम्' एतत् प्रथम शुक्लम्' आद्यशुक्ल भवति, किंनामेत्यत आह—'पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्' पृथक्त्वेन भेदेन, विस्तीर्णभावेनान्ये, वितर्क: श्रुत यस्मिन् तत्तथा, कस्येद भवतीत्यत आह—

पर्याप्त, सुभग, आदेय, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, यश:कीर्ति, यदि तीर्थंकर नामकर्म सम्भव है तो वह और मनुष्यगत्यानुपूर्वी । शेष जिन कर्मप्रकृतियों का सत्त्व केवली के होता है उन्हें वे द्विचरम समय में क्षीण करते हैं । उस समय केवली के सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सुख और सिद्धत्व को छोड़कर औदयिक भावों के साथ भव्यत्व भी नष्ट हो जाता है । तब केवली ऋजुश्रेणि (ऋजुगति) को प्राप्त होकर समय के प्रदेशान्तर का स्पर्श न करते हुए साकार उपयोग के साथ एक समय मे सिद्ध हो जाते हैं—मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं ॥७६॥

इस प्रकार क्रम द्वार को समाप्त करके अब ध्यातव्य द्वार का वर्णन करते हैं—

एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य) और भग (व्यय) आदि अवस्थाओं का द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों के आश्रय से जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन होता है वह प्रथम शुक्लध्यान माना गया है । वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर की अपेक्षा सविचार है । पृथक्त्ववितर्क सविचार नाम का यह प्रथम शुक्लध्यान रागभाव से रहित—वीतराग छद्मस्थ के होता है ॥

विवेचन—चार प्रकार के शुक्लध्यान मे प्रथम पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान है । पृथक्त्व का अर्थ भेद या विस्तार और वितर्क का अर्थ श्रुत है । तदनुसार यह अभिप्राय हुआ कि जिस ध्यान में श्रुत के सामर्थ्य से द्रव्य की उत्पादादि अवस्थाओं का भेदपूर्वक चिन्तन होता है उसे पृथक्त्ववितर्क जानना चाहिए । इस ध्यान मे अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन से व्यंजनान्तर और विवक्षित योग से योगान्तर में संक्रमण (परिवर्तन) होता रहता है; इसी से इसे सविचार कहा गया है । कारण यह है कि अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण का नाम ही विचार है; उस विचार से सहित होने के कारण उसे सविचार कहना सार्थक है । अर्थ शब्द से यहां ध्यान के विषयभूत द्रव्य व पर्याय को ग्रहण किया गया है । इस ध्यान का ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है, तत्पश्चात् पुन: द्रव्य का चिन्तन करता है; इस प्रकार इसमें अर्थ का संक्रमण होता रहता है । व्यंजन का अर्थ शब्द है । इस ध्यान का ध्याता कभी एक श्रुतवचन का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़ अन्य श्रुतवचन का चिन्तन करता है; इस प्रकार व्यंजन का भी संक्रमण होता है । इसी प्रकार तीनों योगों के बीच भी उसमें संक्रमण होता रहता है । पूर्वगत श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली ही इस ध्यान के अधि-

'अरागभावस्य' रागपरिणामरहितस्येति गाथार्थः ॥७८॥

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पाय-ठिइ-भंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥७९॥
अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बितियसुक्कं ।
पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥८०॥

यत्पुनः 'सुनिष्प्रकम्पम्' विक्षेपरहितं 'निवातशरणप्रदीप इव' निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीप इव 'चित्तम्' अन्तःकरणम्, क्व ? उत्पाद-स्थिति-भङ्गादीनामेकस्मिन् पर्याये ॥७९॥ ततः किमत आह—अविचारम् असंक्रमम्, कुत ? अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरतः इति पूर्ववत्, तमेवविधं द्वितीयं शुक्लं भवति, किमभिधानमित्यत आह—'एकत्ववितर्कमविचारम्' एकत्वेन अभेदेन, वितर्कः व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तत्तथा, इदमपि च पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति, अविचारादि पूर्ववदिति गाथार्थः ॥८०॥

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥८१॥

कारी होते हैं ॥७७–७८॥

अब आगे ध्यातव्य के इस प्रकरण में द्वितीय शुक्लध्यान का निर्देश किया जाता है—

वायु से रहित घर के दीपक के समान जो चित्त (अन्तःकरण) उत्पाद, स्थिति और भंग इनमें से किसी एक ही पर्याय में अतिशय स्थिर होता है वह एकत्ववितर्क अविचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान है। वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर के संक्रमण से रहित होने के कारण अविचार होकर पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेनेवाला है ॥

विवेचन—जिस प्रकार घरके भीतर स्थित दीपक वायु के अभाव मे कम्पन से सर्वथा रहित होता हुआ स्थिर रूप में जलता है—उसकी लौ इधर-उधर नहीं घूमती है, उसी प्रकार ध्यान की अस्थिरता के कारणभूत राग, द्वेष व मोह के न रहने से एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान स्थिर रहता है। पूर्वोक्त पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान में जहां उत्पाद, स्थिति और भंग इन अवस्थाओं का भेदपूर्वक परिवर्तित रूप में चिन्तन होता था वहां इस ध्यान में उनका चिन्तन भेद को लिये हुए परिवर्तित रूप में नहीं होता, किन्तु उक्त तीनों अवस्थाओं में से यहां किसी एक ही अवस्था का भेद के बिना चिन्तन होता है। इसी प्रकार पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग का परस्पर संक्रमण होता था, अर्थात् उस ध्यान का ध्याता अर्थ का विचार करता हुआ उसे छोड़कर व्यंजन (शब्द) का विचार करने लगता था, पश्चात् उस व्यंजन को भी छोड़कर योग का अथवा पुनः अर्थ का चिन्तन करता था। अथवा ध्येयस्वरूप अर्थ द्रव्य या पर्याय है, उक्त ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करता है तो कभी उसे छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है, तत्पश्चात् पुनः द्रव्य का चिन्तन करता है; यह अर्थसंक्रमण हुआ। व्यंजन का अर्थ वचन—श्रुतवचन—है, उक्त ध्याता एक श्रुतवचन का ध्यान करता हुआ उसे छोड़कर अन्य का ध्यान करता है, उसको भी छोड़ अन्य का ध्यान करता है; इस प्रकार उक्त ध्यान में व्यंजन का संक्रमण चालू रहता है। उसी प्रकार योग का भी संक्रमण उसमें हुआ करता है—वह कभी काययोग को छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करता है तो फिर उसे भी छोड़कर पुनः काययोग को ग्रहण करता है। अर्थ, व्यंजन और योग का इस प्रकार का संक्रमण प्रकृत एकत्ववितर्क शुक्लध्यान में नहीं रहता, इसीलिए उसे अविचार कहा गया है। पूर्वगत श्रुत का आलम्बन उन दोनों ही शुक्लध्यानों में समान रूप से विद्यमान रहता है ॥७९–८०॥

आगे क्रमप्राप्त तृतीय शुक्लध्यान के विषय का निर्देश किया जाता है—

मुक्ति गमन के समय कुछ योगनिरोध कर चुकने वाले सूक्ष्म काय की क्रिया से संयुक्त केवली के सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है ॥

'निर्वाणगमनकाले' मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये 'केवलिन' सर्वज्ञस्य मनो-वाग्योगद्वये निरुद्धे सति अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्य, किम् ? 'सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति' सूक्ष्मा क्रिया यस्य तत्तथा, सूक्ष्मक्रिय च तदनिवर्ति चेति नाम, निवर्तितु शीलमस्येति निवर्ति, प्रवर्द्धमानतरपरिणामात् न निवर्ति अनिवर्ति तृतीयम्, ध्यानमिति गम्यते, 'तनुकायक्रियस्य' इति तन्वी उच्छ्वास-निःश्वासादिलक्षणा कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथार्थः ॥८१॥

तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥८२॥

'तस्यैव च' केवलिन , 'शैलेशीगतस्य' शैलेशी प्राग्वर्णिता, ता प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य ? निरुद्धयोगत्वात् 'शैलेश इव निष्प्रकम्पस्य' मेरोरिव स्थिरस्येत्यर्थः, किम् ? व्यवच्छिन्नक्रिय योगाभावात्, तत्

विवेचन—पूर्वप्ररूपित एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जीव सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो जाता है, तब वह केवली कहलाता है। केवली तीर्थंकर भी होते हैं व सामान्य भी होते हैं। वे अधिक से अधिक कुछ कम (आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त कम) एक पूर्वकोटि काल तक इस जीवनमुक्त अवस्था में रह सकते हैं। उनकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब यदि वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति के बराबर रहती है तो वे उस समय मन व वचन योगों का पूर्णरूप से निरोध करके बादर काययोग का भी निरोध कर देते हैं और सूक्ष्म—उच्छ्वास-निःश्वासरूप—काययोग का आलम्बन लेकर प्रकृत सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान पर आरूढ़ होते हैं। यह ध्यान तीनों कालों के विषयभूत अनन्त पदार्थों के प्रकाशक केवलज्ञानस्वरूप है। 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्र मे जो 'चिन्ता' शब्द है वह ध्यानसामान्य का वाचक है। इस प्रकार जैसे कहीं पर श्रुतज्ञान को ध्यान कहा जाता है वैसे ही केवलज्ञान को भी ध्यान समझना चाहिए। सूक्ष्म काययोग में स्थित रहते हुए चूंकि इस ध्यान की प्रवृत्ति होती है, इसीलिए उसे सूक्ष्मक्रिय कहा गया है। सूक्ष्म काययोग में वर्तमान केवली इस ध्यान के आश्रय से उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध किया करते हैं। तत्पश्चात् वे अन्तिम व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यान के उन्मुख होते हैं। परन्तु यदि पूर्वोक्त प्रकार से उनके वेदनीय आदि की स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान न होकर उससे अधिक होती है तो वे उसे आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिए चार समयों में क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। तत्पश्चात् चार समयों में उक्त समुद्घातों में फैले हुए आत्मप्रदेशों को क्रम से प्रतर, कपाट और दण्ड के रूप में संकुचित करके शरीरस्थ करते हैं। इस प्रकार ध्यान के बल से लोकपूरण समुद्घात में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करके सूक्ष्म काययोग में स्थित होते हुए वे सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान के ध्याता होते हैं। प्रतिपतन या निवर्तन स्वभाव वाला न होने से इस ध्यान को अप्रतिपाति या अनिवर्ति कहा गया है ॥८१॥

आगे उक्त केवली के होने वाले व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति परम शुक्लध्यान का निर्देश किया जाता है—

शैल (पर्वत) के समान कम्पन—हलन-चलन क्रिया—से रहित होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए उक्त केवली के व्युच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति नाम का सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान होता है ॥

विवेचन—उक्त क्रम से जब तीनों योगों का पूर्णरूप से निरोध हो जाता है तब योग से रहित हुए वे केवली अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होकर शैलेशी अवस्था (देखो पीछे गा. ७६) को प्राप्त होते हुए इस व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति नामक चौथे शुक्लध्यान के ध्याता होते हैं। इससे पूर्व जो श्वासोच्छ्वास के प्रचाररूप सूक्ष्म काय की क्रिया थी, उसके भी विनष्ट हो जाने से इसे व्युच्छिन्नक्रिय या दूसरे शब्द से व्युपरतक्रिय कहा गया है। साथ ही चूंकि सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करने

'अप्रतिपाति' अनुपरतस्वभावमिति, एतदेव चास्य नाम, ध्यानं परमशुक्लम्—प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥८२॥ इत्थं चतुर्विध ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिबद्धमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह—

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेयजोगंमि।
तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगमि य चउत्थं ॥८३॥

'प्रथमम्' पृथक्त्ववितर्कसविचारम् 'योगे' मनआदौ योगेषु वा सर्वेषु 'मतम्' इष्टम्, तच्चागमिक-श्रुतपाठिनः, 'द्वितीयम्' एकत्ववितर्कमविचार तदेकयोग एव, अन्यतरस्मिन् संक्रमाभावात्, तृतीयं च सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम् 'अयोगिनि च' शैलेशीकेवलिनि 'चतुर्थम्' व्युपरतक्रिया-ऽप्रतिपातीति गाथार्थः ॥८३॥ आह शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्त्येव, अमनस्कत्वात् केवलिनः, ध्यानं च मनोविशेषः 'ध्यै चिन्तायाम्' इति पाठात्, तदेतत्कथम् ? उच्यते—

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ॥८४॥

यथा छद्मस्थस्य मनः, किम् ? ध्यानं भण्यते सुनिश्चलं सत्, 'तथा' तेनैव प्रकारेण योगत्वाव्य-भिचारात्केवलिनः कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानमिति गाथार्थः ॥८४॥ आह—चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्तेति ? उच्यते—

पुव्वप्पओगओ च्चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि।
सद्दत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥८५॥

के बिना उससे निवर्तन (लौटना) सम्भव नहीं है, इसीलिए उसे अनिवर्ति भी कहा जाता है; अथवा उससे प्रतिपतन (गिरना) सम्भव न होने के कारण उसे दूसरे समानार्थक शब्द से अप्रतिपाति भी कहा जाता है। जिस प्रकार तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति ध्यान केवलज्ञानस्वरूप है उसी प्रकार यह भी केवल-ज्ञानस्वरूप है। विशेषता इतनी है कि जहां तीसरा सूक्ष्मकाययोग के परिणाम स्वरूप था वहां यह चौथा शुक्लध्यान योगरहित आत्मपरिणामस्वरूप है ॥८२॥

आगे उक्त चार शुक्लध्यान योग की अपेक्षा किस अवस्था में होते हैं, यह दिखलाते हैं—

उक्त चार शुक्लध्यानों में प्रथम पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान योग अथवा योगों में होता है—वह मन आदि तीनों योगों में परिवर्तितरूप से होता है, द्वितीय एकत्ववितर्क अविचार ध्यान तीनों योगों में से किसी एक ही योग में अपरिवर्तितरूप से होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियअनिवर्ति ध्यान एक काययोग में ही होता है, तथा चौथा व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान योग का सर्वथा अभाव हो जाने पर अयोग अवस्था में ही होता है ॥८३॥

यहां यह आशंका हो सकती थी कि केवली के जब मन का ही सद्भाव नहीं रहा तब उनके के दो ध्यान—सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति और व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति—कैसे सम्भव हैं, क्योंकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है ? इसके समाधानस्वरूप आगे यह कहा जा रहा है—

जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चलता को प्राप्त हुए मन को ध्यान कहा जाता है, उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चलता को प्राप्त हुए शरीर को ध्यान कहा जाता है, क्योंकि योग की अपेक्षा वे दोनों ही समान हैं ॥८४॥

यहां पुनः यह शंका उपस्थित होती है कि अयोगकेवली के तो काययोग का भी निरोध हो चुका है, फिर उनके व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति नामक चौथे ध्यान के समय वह (काययोग) भी कैसे रह सकता है ? इसके समाधानस्वरूप आगे कहा जाता है—

संसार में स्थित केवली के चित्त का अभाव हो जाने पर भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा, कर्मनिर्जरा का कारण होने से, शब्दार्थ की बहुतता से और जिनप्रणीत आगम के आश्रय से सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति

चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति ।
जीवोवयोगसब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ॥८६॥

काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनोऽपि चित्ताभावेऽपि सूक्ष्मोपरतक्रियो भण्यते, सूक्ष्मग्रहणात् सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्तिनो ग्रहणम्, उपरतग्रहणाद् व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति, पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽम्यूह्यः, यथा चक्रं भ्रमणनिमित्तदण्डादिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति तथाऽस्यापि मनःप्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतः भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति, अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसम्भावनार्थः, चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः, एव शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीयाः, विशेषस्तूच्यते—'कर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापि' कर्मविनिर्जरणहेतुत्वात् क्षपकश्रेणिवत्, भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भावः, चशब्दः प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः, अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति, 'तथा शब्दार्थबहुत्वात्' यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्र-शाखामृगादयोऽनेकार्था एव ध्यानशब्दस्यापि, न विरोधः, 'ध्यै चिन्तायाम्, ध्यै कायनिरोधे, ध्यै अयोगित्वे' इत्यादि, तथा जिनचन्द्रागमाच्चैतदेवमिति, उक्तं च—'आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥१॥ इत्यादि गाथाद्वयार्थः ॥८५–८६॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारम्, ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकार एवोक्ताः, अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते—

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि ।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥८७॥

शुक्लध्यानसुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानविरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसम्पन्नः, तत्परिणामरहितस्य तदभावादिति गाथार्थः ॥८७॥ ताश्चैता—

और व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान कहे जाते हैं। कारण इसका यह है कि उनके जीवोपयोगरूप चित्त का सद्भाव पाया जाता है ॥

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कुम्हार के चाक को एक बार लकड़ी से घुमा देने पर वह लकड़ी के अलग कर देने पर भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा कुछ समय तक स्वयं ही घूमता रहता है उसी प्रकार केवली के मनयोगादि का निरोध हो जाने पर भी पूर्वकालीन जीव के उपयोगरूप भावमन के बने रहने से सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान (तीसरा) और अयोगकेवली के व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यान (चौथा) सम्भव है। दूसरे, जिस प्रकार कर्मनिर्जरा का कारणभूत ध्यान क्षपकश्रेणि में विद्यमान रहता है उसी प्रकार चूंकि वह कर्मनिर्जरा केवली के भी होती ही है, अतएव उस निर्जरा का कारणभूत ध्यान उनके भी होना ही चाहिए। तीसरे, एक शब्द के अनेक अर्थ हुआ करते हैं—जैसे 'हरि' शब्द के इन्द्र और बन्दर आदि अनेक अर्थ। तदनुसार 'ध्यान' शब्द की प्रकृतिभूत 'ध्यै' धातु के भी चिन्ता, काययोगनिरोध और योगाभावरूप अनेक अर्थ होते हैं। इनमें से यहां—चतुर्थ शुक्लध्यान में—योगों के अभावरूप अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। चौथा कारण यह है कि जो भी अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनके सद्भाव का परिज्ञान आगम और युक्ति से ही हुआ करता है, तदनुसार चूंकि अयोगकेवली के चौथे शुक्लध्यान का उल्लेख आगम में किया गया है, अतः चित्त के अभाव में भी उनके उस ध्यान को स्वीकार करना चाहिए ॥८५–८६॥

इस प्रकार ध्यातव्य द्वार के समाप्त हो जाने पर अब क्रमप्राप्त ध्याता की प्ररूपणा की जानी चाहिए, पर चूंकि उसकी प्ररूपणा धर्मध्यान के प्रकरण (गा. ६४) में की जा चुकी है, अतएव उसकी पुनः प्ररूपणा न करके अब आगे अनुप्रेक्षा द्वार की प्ररूपणा की जाती है—

जिसका चित्त शुक्लध्यान से सुसंस्कृत हो चुका है वह चारित्र से युक्त ध्याता ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है ॥८७॥

वे चार अनुप्रेक्षायें ये हैं—

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥८८॥

आश्रवद्वाराणि मिथ्यात्वादीनि, तदपायान् दुःखलक्षणान्, तथा संसारानुभावं च 'धी संसारो' इत्यादि, भवसन्तानमनन्तं भाविनं नारकाद्यपेक्षया, वस्तूनां विपरिणामं च सचेतनाचेतनानाम् 'सव्वट्ठाणाणि असासयाणि' इत्यादि, एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्त-विपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसङ्गता एव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥८८॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम्, इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह—

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए ।
थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ॥८९॥

आस्रवद्वारों से होने वाले अपाय, संसार की अशुभरूपता या दुःखरूपता का प्रभाव, जन्म-मरणरूप भवसन्तान की अनन्तता और चेतन-अचेतन वस्तुओं का विपरिणाम—विरुद्ध परिणाम (नश्वरता); ये चार अनुप्रेक्षायें हैं जिनका सदा चिन्तन किया जाता है ॥

विवेचन—ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। ऐसी अवस्था में उस ध्यान के समाप्त हो जाने पर ध्याता क्या करता है, इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि वह ध्यान (शुक्लध्यान) के समाप्त होने पर इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है—१ आस्रवद्वारापाय—कर्मागम के द्वारभूत जो मिथ्यात्व व अविरति आदि हैं उनसे जीवों को नरकादि दुर्गतियों में पड़कर जो दुख भोगने पड़ते हैं उनका चिन्तन इस अनुप्रेक्षा में किया जाता है। २ ससाराशुभानुभाव (या संसारासुखानुभाव)—संसार की अशुभरूपता स्पष्ट है। प्राणी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, फिर उसको भी छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण करता है, इस प्रकार अन्य अन्य शरीर के ग्रहण करने और छोड़ने का नाम ही संसार है जो नरकादि चतुर्गतिस्वरूप है। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो उन चारों गतियों में से किसी में भी सुख नहीं है। कारण यह कि अभीष्ट विषयों के प्राप्त होने पर जो सुख का आभास होता है वह सर्वदा रहने वाला नहीं है—विनश्वर है। यद्यपि देवगति में सुख की कल्पना की जाती है, पर वस्तुतः वहां भी सुख नहीं है। वहां पर भी अधिक ऋद्धि के धारक देवों को देखकर मन में ईर्ष्याभाव व संक्लेश होता है। इसके अतिरिक्त वह देव अवस्था भी सदा रहने वाली नहीं है—आयु के समाप्त होने पर उसे भी छोड़ना पड़ता है। उस समय अधिक व्याकुलता होती है। इतना अवश्य है कि जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे देवपर्याय से च्युत होते हुए संक्लेश को प्राप्त नहीं होते। इत्यादि प्रकार से इस दूसरी अनुप्रेक्षा में संसार की अशुभता, असारता या दुःखरूपता का विचार किया जाता है। ३ भवसन्तान की अनन्तता—संसार परिभ्रमण के कारण मिथ्यात्व, राग, द्वेष एवं मोह आदि हैं। उनमें भी मिथ्यात्व प्रमुख है। जब तक इस जीव की दृष्टि मिथ्यात्व से कलुषित रहती है तब तक वह मिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी होता है—उसका संसार अनन्त बना रहता है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि मिथ्यात्वजनित कालुष्य को छोड़कर समीचीनता को प्राप्त कर लेती है उस सम्यग्दृष्टि का संसार परीत हो जाता है—तब वह अनन्तसंसारी न रहकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गल प्रमाण संसार वाला हो जाता है। अभव्य का संसार अनन्त ही रहता है। इस प्रकार का चिन्तन अनन्त भवसन्तान नामक इस तीसरी अनुप्रेक्षा में किया जाता है। ४ वस्तुविपरिणाम—संसार में जो भी चेतन-अचेतन वस्तुयें हैं उनमें विविध प्रकार का परिणाम होता रहता है, स्थायी कोई भी वस्तु नहीं है। वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है। इत्यादि विचार इस अनुप्रेक्षा में चालू रहता है। ये चारों अनुप्रेक्षायें प्रथम दो शुक्लध्यानों से ही सम्बद्ध हैं, अन्तिम दो शुक्लध्यानों से उनका सम्बन्ध नहीं है; इतना यहां विशेष समझना चाहिए ॥८८॥

अब क्रमप्राप्त लेश्या द्वार का वर्णन किया जाता है—

प्रथम दो शुक्लध्यान शुक्ललेश्या में होते हैं, तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान परमशुक्ल-

सामान्येन शुक्लाया लेश्यायां 'द्वे' आद्ये उक्तलक्षणे, 'तृतीयम्' उक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायाम्, 'स्थिरताजितशैलेशम्' मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थ., लेश्यातीतं 'परमशुक्लम्' चतुर्थमिति गाथार्थः ॥८९॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, अधुना लिङ्गद्वारं विवरीषुस्तेषां नाम-प्रमाण-स्वरूप-गुणभावनार्थमाह—

अवहाऽसंमोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥९०॥

अवधाऽसम्मोह-विवेक-व्युत्सर्गा. 'तस्य' शुक्लध्यानस्य भवन्ति लिङ्गानि, 'लिङ्ग्यते' गम्यते यैर्मुनिः शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाक्षरार्थः ॥९०॥ अधुना भावार्थमाह—

चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥९१॥

चाल्यते ध्यानात् न परीषहोपसर्गैर्बिभेति वा 'धीर' बुद्धिमान् स्थिरो वा न तेभ्य इत्यवधलिङ्गम्, 'सूक्ष्मेषु' अत्यन्तगहनेषु 'न सम्मुह्यते' न सम्मोहमुपगच्छति, 'भावेषु' पदार्थेषु, न देवमायासु अनेकरूपास्वित्यसम्मोहलिङ्गमिति गाथाक्षरार्थः ॥९१॥

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥९२॥

देहविविक्तं पश्यत्यात्मानं तथा च सर्वसंयोगानिति विवेकलिङ्गम्, देहोपधिव्युत्सर्गं निःसङ्गः सर्वथा करोति *व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथार्थ* ॥९२॥ गतं लिङ्गद्वारम्, साम्प्रतं फलद्वारमुच्यते, इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्त धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुद्धतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वात्, अत आह—

लेश्या में होता है, तथा स्थिरता से शैलेश (मेरु) को जीत लेने वाला—सुमेरु के समान अडिग—चौथा परमशुक्लध्यान लेश्या से अतीत (रहित) है ॥८९॥

अब लिंग द्वार का वर्णन करते हुए उन लिंगों के नाम, प्रमाण, स्वरूप और गुण का विचार किया जाता है—

अवध (अव्यथ ?), असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये उक्त शुक्लध्यान के लिंग—परिचायक हेतु हैं। इनके द्वारा जिस मुनि का चित्त उस शुक्लध्यान में संलग्न है उसका बोध होता है ॥९०॥

आगे उक्त चार लिंगों में से प्रथमतः अवध और असम्मोह का स्वरूप कहा जाता है—

वह धीर—विद्वान् या स्थिर—शुक्लध्यानी परीषह और उपसर्गों के द्वारा न तो ध्यान से विचलित होता है और न भयभीत भी होता है, यह उस शुक्लध्यान के परिचायक प्रथम अवध लिंग का स्वरूप है। साथ ही वह सूक्ष्म—अतिशय गहन—पदार्थों के विषय में व अनेक प्रकार की देवनिर्मित माया के विषय में मूढता को प्राप्त नहीं होता, इसे उसका ज्ञापक असम्मोह लिंग जानना चाहिए ॥९१॥

अब आगे की गाथा में विवेक और व्युत्सर्ग इन दो लिंगों का निर्देश किया जाता है—

उक्त ध्याता मुनि आत्मा को शरीर से भिन्न देखता है तथा सब संयोगों को भी देखता है, अर्थात् वह ज्ञान-दर्शन स्वरूप चेतन आत्मा को जड़ शरीर से पृथक् देखता हुआ उस शरीर और उससे सम्बद्ध स्त्री-पुत्रादि व धन गृहादि के साथ उस संयोग सम्बन्ध का अनुभव करता है जो पृथग्भूत दो या अधिक पदार्थों में हुआ करता है। यही उक्त ध्यान का परिचायक विवेक लिंग है। इसके अतिरिक्त वह परिग्रह—ममत्व बुद्धि—से रहित होकर शरीर और अन्य परिग्रह का सर्वथा परित्याग करता है—उनमें से किसी को भी अपना नहीं मानता, यह उक्त शुक्लध्यान का परिचायक व्युत्सर्ग लिंग है ॥९२॥

इस प्रकार लिंग द्वार को समाप्त करके आगे क्रमप्राप्त फलद्वार का निरूपण करते हैं। उसमें लाघव की अपेक्षा करके पूर्वोक्त धर्मध्यान के फल का निर्देश करते हुए उसी को शुक्लध्यान का भी फल कहा जाता है, क्योंकि धर्मध्यान के जो फल हैं वे ही अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होते हुए आदि के दो शुक्लध्यानों के फल हैं—

होंति सुहासव-संवर-विणिज्जराऽमरसुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥९३॥

भवन्ति 'शुभास्रव-संवर-निर्जराऽमरसुखानि' शुभास्रवः पुण्यास्रवः, संवरः अशुभकर्मागमनिरोधः, विनिर्जरा कर्मक्षयः, अमरसुखानि देवसुखानि, एतानि च दीर्घस्थिति-विशुद्ध्युपपाताभ्यां 'विपुलानि' विस्तीर्णानि, 'ध्यानवरस्य' ध्यानप्रधानस्य फलानि 'शुभानुबन्धीनि' सुकुलप्रत्यायातिपुनर्बोधिलाभ-भोगप्रव्रज्या-केवल शैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि 'धर्मस्य' ध्यानस्येति गाथार्थः ॥९३॥ उक्तानि धर्मफलानि, अधुना शुक्लमधिकृत्याह—

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥९४॥

ते च विशेषेण 'शुभास्रवादयः' अनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च द्वयोः शुक्लयोः फलमाद्ययोः, 'परिनिर्वाणम्' मोक्षगमनं 'परिल्लाणं' ति चरमयोर्द्वयोरिति गाथार्थः ॥९४॥ अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति दर्शयति—

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
संसारकारणाइं तओ धुवं धम्म-सुक्काइं ॥९५॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्तन्ते, तानि च यस्मान्न शुक्ल-धर्मयोर्भवन्ति संसारकारणानि तस्माद् 'ध्रुवम्' नियमेन धर्म शुक्ले इति गाथार्थः ॥९५॥ संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतुर्ध्यानमित्यावेदयन्नाह—

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥९६॥

संवर-निर्जरे 'मोक्षस्य पन्थाः' अपवर्गस्य मार्गः, तपः 'पन्थाः' मार्गः, 'तयोः' संवर-निर्जरयोः, ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपसः आन्तरकारणत्वात्, ततो मोक्षहेतुस्तद् ध्यानमिति गाथार्थः ॥९६॥ अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह—

शुभास्रव—पुण्य कर्मों का आगमन, पापास्रव के निरोधस्वरूप संवर, संचित कर्मों की निर्जरा और देवसुख; ये दीर्घ स्थिति, विशुद्धि एवं उपपात से विस्तार को प्राप्त होकर उत्तम कुल एवं बोधि की प्राप्ति आदि रूप शुभ के अनुबन्धी—उसकी परम्परा के जनक—होते हुए उत्तम धर्मध्यान के फल हैं। अभिप्राय यह है कि धर्मध्यान से पुण्य कर्मों का बन्ध, पाप कर्मों का निरोध और पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा होती है। ये सब उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले हैं। इसके अतिरिक्त उससे पर भव में देवगति की प्राप्ति होने वाली है, जहां आयु की दीर्घता व सांसारिक सुखोपभोग की बहुलता होती है। अन्त में उक्त धर्मध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान को प्राप्त करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हुए मुमुक्षु ध्याता को मुक्तिसुख भी प्राप्त होने वाला है ॥९३॥

इस प्रकार धर्मध्यान के फलों का निर्देश करके अब शुक्लध्यान को लक्ष्य करके यह कहा जाता है—

विशेषरूप से धर्मध्यान के फलभूत वे ही शुभास्रव आदि तथा अनुपम देवसुख, यह प्रारम्भ के दो शुक्लध्यानों का भी फल है। अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल मोक्ष की प्राप्ति है ॥९४॥

अथवा सामान्य से ही धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान संसार के विरोधी हैं, इसे आगे दिखलाते हैं—

जो मिथ्यात्वादि आस्रवद्वार संसार के कारण हैं, वे चूंकि धर्म और शुक्ल ध्यानों में सम्भव नहीं हैं, इसीलिए धर्म और शुक्ल ध्यान नियमतः संसार के कारण नहीं हैं, किन्तु मुक्ति के कारण हैं ॥९५॥

आगे यह दिखलाते हैं कि संसार का विरोधी होने से ही वह ध्यान मोक्ष का कारण है—

संवर और निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग (उपाय) हैं, उन संवर और निर्जरा का मार्ग तप है, तथा उस तप का प्रधान कारण ध्यान है; इसीलिए वह (ध्यान) परम्परा से मोक्ष का कारण है ॥९६॥

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं ।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाऽणलाऽऽइच्चा ॥९७॥
तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं ।
झाण-जलाऽणल-सूरा कम्म-मल-कलंक-पंकाणं ॥९८॥

'अम्बर-लोह-महीनाम्' वस्त्र-लोहाऽऽर्द्रक्षितीनाम् 'क्रमशः' क्रमेण यथा मल-कलङ्क-पङ्कानां यथासङ्ख्यं शोध्या-[ध्य-]पनयन-शोषान् यथासङ्ख्यमेव 'साधयन्ति' निर्वर्तयन्ति जलाऽनलाऽऽदित्या इति गाथार्थः ॥९७॥ तथा शोध्यादिसमर्था जीवाऽम्बर-लोह-मेदिनीगताना 'ध्यानमेव जलानल-सूर्या' कर्मैव मल-कलङ्क-पङ्कास्तेषामिति गाथार्थः ॥९८॥ किं च—

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा नियय ।
तह ताव-सोस-भेया कम्मस्स वि झाइणो नियमा ॥९९॥

तापः शोषो भेदो योगाना 'ध्यानत' ध्यानात् यथा 'नियतम्' अवश्यम्, तत्र तापः दुःखम्, तत एव शोषः दौर्बल्यम्, तत एव भेदः विदारणम्, योगाना वागादीनम्, 'तथा' तेनैव प्रकारेण ताप-शोष-भेदाः कर्मणोऽपि भवन्ति, कस्य ? 'ध्यायिनः' न यदृच्छया नियमेनेति गाथार्थः ९९॥ किं च—

जह रोगासयसमणं विसोसण-विरेयणोसहविहीहिं ।
तह कम्मामयसमणं झाणाणसण.इजोगेहिं ॥१००॥

यथा 'रोगाशयशमनम्' रोगनिदानचिकित्सा, 'विसोषण-विरेचनौषधविधिभि' अभोजन-विरेकौ-(चौ-)षधप्रकारै, तथा 'कर्मामयशमनम्' कर्म-रोगचिकित्सा ध्यानानशनादिभिर्योगै, आदिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथार्थः ॥१००॥ किं च—

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ॥१०१॥

यथा 'चिरसञ्चितम्' प्रभूतकालसञ्चितम् 'इन्धनम्' काष्ठादि 'अनल' अग्नि 'पवनसहित' वायुसमन्वित 'द्रुतम्' शीघ्र च 'दहति' भस्मीकरोति, तथा दुःख-तापहेतुत्वात् कर्मैवेन्धनम् कर्मेन्धनम् 'अमितम्' अनेकभवोपात्तमनन्तम्, 'क्षणेन' समयेन ध्यानमनल इव ध्यानानल असौ 'दहति' भस्मीकरोतीति गाथार्थः ॥१०१॥

इसको आगे अनेक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है, जिस प्रकार अग्नि लोहे के कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से सम्बद्ध कर्मरूप कलक को पृथक् कर देने वाला है, तथा जिस प्रकार सूर्य पृथिवी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है ॥९७–९८॥ इसके अतिरिक्त—

ध्यान से जिस प्रकार वचनादि योगों का नियम से ताप (दुख), शोषण (दुर्बलता) और भेद (विदारण) होता है उसी प्रकार उस ध्यानसे ध्याता के कर्म का भी नियम से ताप, शोषण और भेद हुआ करता है ॥९९॥ और भी—

जिस प्रकार रोग को सुखा देने वाली (लंघन) अथवा रेचक—रोग के कारणभूत मल को बाहिर निकाल देने वाली—औषधियों के प्रयोग से उस रोग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार ध्यान और उपवास आदि के विधान से कर्मरूप रोग को शान्त कर दिया जाता है ॥१००॥ और भी—

जिस प्रकार वायु से सहित अग्नि दीर्घ काल से संचित ईंधन को शीघ्र जला देती है उसी प्रकार ध्यानरूप अग्नि अपरिमित—अनेक पूर्व भवो मे सचित—कर्मरूप ईंधन को क्षण भर में भस्म कर देती है ॥१०१॥ अथवा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति ॥१०२॥

यथा वा 'घनसङ्घाता.' मेघौघा. क्षणेन 'पवनाहता·' वायुप्रेरिता विलय विनाश यान्ति गच्छन्ति, 'ध्यान-पवनावधूता' ध्यान-वायुविक्षिप्ता· तथा कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनाः कर्म-घनाः, उक्त च— स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥१॥ इत्यादि, 'विलीयन्ते' विनाशमुपयान्तीति गाथार्थ. ॥१०२॥ किं चेदमन्यत् इहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति—

न कसायसमुत्थेहि य बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥१०३॥

'न कषायसमुत्थैश्च' न क्रोधाद्युद्भवैश्च 'बाध्यते' पीड्यते मानसैर्दु:खे , मानसग्रहणात्ताप इत्याद्यपि यदुक्त तत्र बाध्यते 'ईर्ष्या-विषाद-शोकादिभि.' तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या, विषाद· वैक्लव्यम्, शोक दैन्यम्, आदिशब्दाद् हर्षादिपरिग्रहः, ध्यानोपगतचित्त इति प्रकटार्थमय गाथार्थः ॥१०३॥

सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो न ब[बा]हिज्जइ निज्जरापेही ॥१०४॥

इह कारणे कार्योपचारात् शीतातपादिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रह., 'शारीरै· सुबहुप्रकारै' अनेकभेदै 'ध्यानसुनिश्चलचित्त' ध्यानभावितमतिर्न बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते, अथवा न शक्यते चालयितु तत एव 'निर्जरापेक्षी' कर्मक्षयापेक्षक इति गाथार्थः ॥१०४॥ उक्त फलद्वारम्, अधुनोपसंहरन्नाह—

इय सव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थ सद्धेयं नेयं झेयं च निच्चंपि ॥१०५॥

'इय' एवमुक्तेन प्रकारेण 'सर्वगुणाधानम्' अशेषगुणस्थानं दृष्टादृष्टसुखसाधन ध्यानमुक्तन्यायात् सुष्ठु प्रशस्त सुप्रशस्तम्, तीर्थकर-गणधरादिभिरासेवितत्वात्, यतश्चैवमत· श्रद्धेयं नान्यथैतदिति भावनया 'ज्ञेयम्' ज्ञातव्य स्वरूपत 'ध्येयम्' अनुचिन्तनीय क्रियया, एवं च सति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यासेवितानि भवन्ति, 'नित्यमपि' सर्वकालमपि, आह—एव तर्हि सर्वक्रियालोप प्राप्नोति ? न, तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात्, नास्ति काचिदसौ क्रिया यया साधूना ध्यान न भवतीति गाथार्थः ॥१०५॥

॥ समाप्त ध्यानशतकम् ॥

जिस प्रकार मेघो के समूह वायु से ताडित होकर क्षणभर में विलय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूप वायु से विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते है—क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥१०२॥ और तो क्या, ध्यान का फल इस लोक में भी अनुभव में आता है—

जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ॥१०३॥

मानसिक दुःखों के समान शारीरिक दु.खों से भी वह बाधा को प्राप्त नहीं होता—

जिसका चित्त ध्यान के द्वारा अतिशय स्थिरता को प्राप्त कर चुका है वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीत व उष्ण आदि बहुत प्रकार के शारीरिक दुःखों से भी बाधा को प्राप्त नहीं होता—वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहता है ॥१०४॥

इस प्रकार ध्यान के फल को दिखला कर अन्त में उसका उपसंहार करते हुए यह कहा गया है—

इस प्रकार सब गुणों के आधारभूत तथा दृष्ट और अदृष्ट सुख के साधक उस अतिशय प्रशस्त ध्यान का सदा श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए और उसका चिन्तन करना चाहिए ॥१०५॥

॥ ध्यानशतक समाप्त हुआ ॥

परिशिष्ट १

वृत्तिकार हरिभद्र सूरि ने गा. ३२ की टीका में 'एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने व्यक्षेण वक्ष्यामः' यह संकेत किया है। तदनुसार प्रत्याख्यानाध्ययन में जो सम्यक्त्व के शंकादि अतिचारों से सम्बद्ध सन्दर्भ दिया गया है उसे यहां उद्धृत किया जाता है—

शङ्कनं शङ्का, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः, किमेवं स्यात् नैवमिति। संशयकरण शङ्का, सा पुनर्द्विभेदा— देशशङ्का सर्वशङ्का च। देशशङ्का देशविषया, यथा किमयमात्माऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः स्यादथ निष्प्रदेशो निरवयवः स्यादिति। सर्वशङ्का पुनः सकलास्तिकायजात एव किमेवं नैवं स्यादिति। मिथ्यादर्शनं च त्रिविधम्—अभिगृहीताऽनभिगृहीत-संशयभेदात्। तत्र संशयो मिथ्यात्वमेव। यदाह—पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१॥ तथा—सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः। मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाज्ञा च ॥१॥ एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः। मिथ्यात्वदर्शनं तत् स चादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥२॥ तस्मात् मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता जिनवचनं सत्यमेव सामान्यतः प्रतिपत्तव्यं, संशयास्पदमपि सत्य सर्वज्ञाभिहितत्वात्, तदन्यपदार्थवत्, मतिदौर्बल्यादिदोषात्तु कार्त्स्न्येन सकलपदार्थस्वभावावधारणमशक्य छद्मस्थेन। यदाह— न हि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति। ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥१॥ इह चोदाहरणम्—जो सक करेइ सो विणस्सति, जहा सो पेज्जापायओ, पेज्जाए मासा जे परिभज्जमाणा ते छूढा, अयगारए लेहसालाओ आगया दो पुत्ता पियति, एगो चिंतेति—एयाओ मच्छियाओ, संकाए तस्स वग्गुलो वाउ जाओ, मओ य। बिइओ चिंतेइ—न मम माया मच्छिया देइ, जीओ। एते दोषा।

काङ्क्षणं काङ्क्षा—सुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः, तथा चोक्तम्—कखा अन्नन्नदंसणग्गाहो। सा पुनर्द्विभेदा—देशकाङ्क्षा सर्वकाङ्क्षा च। देशकाङ्क्षैकदेशविषया, एकमेव सौगत दर्शनं काङ्क्षति, चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति। सर्वकाङ्क्षा तु सर्वदर्शनान्येव काङ्क्षति, अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिल-कणभक्षाऽक्षपादादिमतानीह लोके च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति, अथवैहिकामुष्मिकफलानि काङ्क्षति, प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति, तस्मादैकान्तिकमव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्र काङ्क्षा न कार्येति। एत्थोदाहरणम्—राया कुमारामच्चो य आसेणावहिया अडविं पविट्ठा, छुहापरद्धा वणफलाणि खायंति, पडिनियत्ताण राया चिंतेइ—लड्डुय-पूयलगमादीणि सव्वाणि खामि, आगया दोवि जणा, रण्णा सूयारा भणिया—जं लोए पयरइ त सव्व सव्वे रधेहत्ति, उवट्ठवियं च रन्नो, सो राया पेच्छणयदिट्ठंत करेइ, कप्पडिया बलिएहिं घाडिज्जइ, एवं मिट्ठस्स अवगासो होहितित्ति कणकुडगमंडगादीणिवि खइयाणि, तेहिं सूलेण मओ, अमच्चेण वमण-विरेयणाणि कयाणि, सो आभागी भोगाण जाओ, इयरो विणट्ठो।

विचिकित्सा मतिविभ्रम, युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फल प्रति सम्मोहः—किमस्य महतस्तपःक्लेशायासस्य सिकताकणकवलनादेरायत्या मम फलसम्पद् भविष्यति किं वा नेति, उभयथेह

क्रिया: फलवत्यो निष्फलाश्च दृश्यन्ते कृषीवलानाम् । न चेयं शङ्कातो न भिद्यते इत्याशङ्कनीयम्, शङ्का हि सकलासकलपदार्थभाक्त्वेन द्रव्य-गुणविषया, इयं तु क्रियाविषयैव, तत्त्वतस्तु सर्वं एते प्रायो मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो भवन्तो जीवपरिणामविशेषाः सम्यक्त्वातिचारा उच्यन्ते, न सूक्ष्मेक्षिकाऽत्र कार्येति । इयमपि न कार्या, यतः सर्वज्ञोक्तकुशलानुष्ठानाद् भवत्येव फलप्राप्ति-रिति । अत्र चौरोदाहरणम्—सावगो नंदीसरवरगमण दिव्वगधाणं (त) देवसघरिसेण मित्तस्स पुच्छणं विज्जाए दाणं साहणं मसाणे चउप्पायं सिक्कगं, हेट्ठा इंगाला खायरो य सूलो अट्ठसय वारा परिजवित्ता पाओ सिक्कगस्स छिज्जइ, एवं बितिओ तइए चउत्थे य छिण्णे आगासेणं वच्चति, तेण विज्जा गहिया, किण्हचउद्दसिरत्ति साहेइ मसाणे, चोरो य नग-रारक्खिएहिं परिब्भममाणो तत्थेव अतियओ, ताहे वेढेउं सुसाणे ठिया पभाए घिप्पिहितित्ति, सो य भमंतो तं विज्जासाहय पेच्छइ, तेण पुच्छिओ भणति—विज्ज साहेमि । चोरो भणति—केण दिण्णा ? सो भणति—सावगेण, चोरेण भणितम्—इमं दव्वं गिण्हाहि विज्जं देहि, सो सड्ढो वितिगिच्छति—सिज्झेज्जा न वत्ति । तेण दिण्णा, चोरो चिंतेइ—सावगो कीडियाएवि पावं नेच्छइ, सच्चमेय, सो साहिउमारद्धो, सिद्धा, इयरो सड्ढो गहिओ, तेण आगासगएण लोओ भेसिओ ताहे सो मुक्को, सड्ढावं दोवि जाया । एवं निव्वितिगिच्छेण होयव्वं । अथवा विद्वज्जुगुप्सा—विद्वांसः साधवः विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसङ्गाः, तेषां जुगुप्सा निन्दा, तथाहि—तेऽस्नानात् प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धिवपुषो भवन्ति, तान् निन्दति—को दोषः स्यात् यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन् भगवन्तः ? इयमपि न कार्या, देहस्यैव परमार्थतोऽशुचित्वात् । एत्थ उदाहरणम्—एको सड्ढो पच्चंते वसति, तस्स धूयाविवाहे कहवि साहवो आगया, सा पिउणा भणिया—पुत्तिगे ! पडिलाहेहि साहुणो, सा मंडियपसा-हिया पडिलाभेति, साहूण जल्लगंधो तीए अग्घाओ, चिंतेइ—अहो अणवज्जो भट्टारगेहिं धम्मो देसिओ, जइ फासुएण ण्हाएज्जा को दोसो होज्जा ? सा तस्स ठाणस्स अणालोइय-ऽपडिक्कंता काल किच्चा रायगिहे गणियाए पोट्टे उववन्ना, गब्भगता चेव अरइ जणेति, गब्भपाडणेहि य न पडइ, जाया समाणी उज्झिया, सा गंधेण त वणं वासेति, सेणिओ य तेण पएसेण निग्गच्छइ सामिणो वदगो, सो खधावारो तीए गध न सहइ, रण्णा पुच्छिय किमे-यति, कहियं दारियाए गंधो, गंतूण दिट्ठा, भणति—एसेव पढमपुच्छत्ति, गओ सेणिओ, पुव्वु-दिट्ठवुत्तंते कहिते भणइ राया—कहिं एसा पच्चणुभविस्सइ सुहं दुक्खं वा ? सामी भणइ—एएण कालेण वेदिय, सा तव चेव भज्जा भविस्सति अग्गमहिसी, अट्ठ संवच्छराणि जाव तुज्झ रममाणस्स पुट्ठीए हंसोवल्लीलीं काही, तं जाणिज्जासि, वंदित्ता गओ, सो य अवहरिओ गंधो, कुलपुत्तएण साहरिया, संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया, कोमुइवारे अम्मयाए समं आगया, अभओ सेणिओ [य] पच्छण्णा कोमुइवारं पेच्छति, तीए दारियाए अंगफासेण अज्झोव-वण्णो णाममुद्दं दसियाए तीए बंधति, अभयस्स कहिय—णामसुद्दा हारिया, मग्गाहि, तेण मणुस्सा दारेहिं ठविया, एक्केक्क माणुस्सं पलोएउ नीणिज्जइ, सा दारिया दिट्ठा चोरोत्ति गहिया, परिणीया य, अण्णया य वज्झुक्केण रमति, रायाणिउ तेण पोत्तेण वाहेति, इयरा पोत्तं देंति, सा विलग्गा, रण्णा सरियं, मुक्का य पव्वइया । एय विउदुगुछाफल ।

परपाषंडानां सर्वज्ञप्रणीतपाषण्डव्यतिरिक्ताना प्रशंसा, प्रशसनं प्रशंसा स्तुतिरित्यर्थः । परपाषण्डानामोघतस्त्रीणि शतानि त्रिशष्टयधिकानि भवन्ति । यत उक्तम्—असीयसयं किरि-याणं अकिरियवाईण होइ चुलसीति । अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥ इयमपि गाथा विनेयजनानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरप्रतिबद्धाऽपि लेशतो व्याख्यायते—'असियसय किरियाणं' इति अशीत्युत्तर शतं क्रियावादिनाम्—तत्र न कर्त्तारं विना क्रिया सम्भवति तामात्मसमवा-

यिमीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते क्रियावादिनः। ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अनेनो-पायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेया.—जीवाजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्यापुण्य-मोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याध' स्व-परभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्या-नित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियति-स्वभावभेदा पञ्च न्यसनीया', पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्य' कालत इत्येको विकल्प, विकल्पार्थश्चायम्—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालत कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्पः ईश्वरवादिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि, नियतिवादिन-श्चतुर्थो विकल्पः, पञ्चमविकल्प. स्वभाववादिन', एव स्वत इत्यत्यजता लब्धाः पञ्च विकल्पा, परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, नित्यत्वापरित्यागेन चैते दश विकल्पा', एव-मनित्यत्वेनापि दशैव, एकत्र विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धा., अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपद विंशतिर्विकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तर क्रियावादिनामिति। अविकरियाण च भवति चुलसीतित्ति—अक्रियावादिना च भवति चतुरशीतिर्भेदा इति, न हि कस्यचिदवस्थि-तस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भाव एवावस्थितेरभावादित्येववादिनोऽक्रियावादिन., तथा चाहुरेके—क्षणिका' सर्वसस्काराः, अस्थितानां कुत क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारक सैव चोच्यते ॥१॥ इत्यादि, एते चात्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीति-र्द्रष्टव्या—एतेषां हि पुण्यापुण्यवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याध स्व-परविकल्पभेद-द्वयोपन्यास, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्त, कालादीना तु पञ्चाना षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद्विकल्पभेदाभिलाप'—नास्ति जीव' स्वत कालत इत्येको विकल्प, एवमी-श्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः, सर्वे च षड् विकल्पा', तथा नास्ति जीव परत' कालत इति षडेव विकल्पा', एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रतिपद द्वादश विकल्पा., एकत्र सप्त द्वादशगुणाश्चतुरशीतिर्विकल्पा नास्तिकानामिति। अण्णाणिय सत्तट्ठित्ति—अज्ञानिकाना सप्तषष्टिर्भेदा इति, तत्र कुत्सित ज्ञानमज्ञान तदेषामस्तीति अज्ञानिका, नन्वेव लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राक् बहुव्रीहिणा भवितव्य ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैष दोष ज्ञानान्तरमेवाज्ञान मिथ्यादर्शनसहचारित्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वाद् गौरखरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति, अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिका—असञ्चित्य कृतवैफल्यादिप्रतिपत्ति-लक्षणा अमुनोपायेन सप्तषष्टिर्ज्ञातव्या—तत्र जीवादिनवपदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याध सप्त सदादय उपन्यसनीया, सत्त्वमसत्त्व सदसत्त्व अवाच्यत्व सदवाच्यत्वं असदवाच्यत्व सदसदवाच्यत्वमिति चैकैकस्य जीवादे सप्त सप्त विकल्पाः, एते नव सप्तका त्रिषष्टि, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विकल्पा, तद्यथा—सत्त्वमसत्त्व सद-सत्त्वं अवाच्यत्व चेति, त्रिषष्टिमध्ये क्षिप्ता. सप्तषष्टिर्भवन्ति, को जानाति जीवः सन्नित्येको विकल्प', ज्ञातेन वा किम्? एवमसदादयोऽपि वाच्या, उत्पत्तिरपि किं सतोऽसत सदसतो-ऽवाच्यस्येति को जानातीति? एतन्न कश्चिदपीत्यभिप्राय। 'वेणइयाणं च बत्तीसत्ति—वैनयिकानां च द्वात्रिंशद् भेदा, विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनमेषामिति वैनयिका', एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्या—सुर-नृपति-यति-ज्ञाति-स्थविराधम-मातृ-पितॄणां प्रत्येक कायेन वचसा मनसा दानेन च देश-कालोप-पन्नेन विनय' कार्य इत्येते चत्वारो भेदा', सुरादिष्वष्टसु स्थानकेषु, एकत्र मिलिता द्वात्रिंश-दिति, सर्वसङ्ख्या पुनरेतेषां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि। न चैतत् स्वमनीषिकाव्याख्या-नम्, यस्मादन्यैरप्युक्तम्—आस्तिकमतमात्माद्या नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः। काल-नि-यति-स्वभावेश्वरात्मकृताः (तका) स्व-परसंस्था ॥१॥ काल-यदृच्छा-नियतीश्वर-स्वभावात्म-

नश्चतुरशीतिः । नास्तिकवादिगणमत न सन्ति भावा स्वपरसंस्था ॥२॥ अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् । भावोत्पत्ति सदसद्द्वैतावाच्या च को वेत्ति? ॥३॥ वैनयिकमत विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥४॥ इत्यलं प्रसङ्गेन प्रकृत प्रस्तुमः, एतेषां प्रशंसा न कार्या—पुण्यभाज एते सुलब्ध-मेभिर्यद् जन्मेत्यादिलक्षणा, एतेषां मिथ्यादृष्टित्वादिति । अत्र चोदाहरणम्—पाडलिपुत्ते चाणक्को, चंदगुत्तेणं भिक्खुगाण वित्ती हरिता, ते तस्स धम्मं कहेति, राया तूसति चाणक्कं पलोएति, ण य पसंसति ण देति, तेण चाणक्कभज्जा ओलग्गिता, ताए सो करणि गाहितो, ताधे कथितेण भणित तेण सुभासियति, रण्णा तं अण्ण च दिण्ण, बिदियदिवसे चाणक्को भणति—कीस दिन्न? राया भणइ—तुज्झेहिं पससित, सो भणइ—ण मे पससित, सव्वा-रंभपवित्ता कह लोग पत्तियाविंतित्ति ! पच्छा ठितो, केत्तिता एरिसा तम्हा ण कायव्वा ।

परपाषण्डै अनन्तरोक्तस्वरूपै सह सस्तव परपाषण्डसस्तवः, इह सवासजनितः परि-चय. सवसन-भोजनालापादिलक्षण. परिगृह्यते, न स्तुतिरूप, तथा च लोके प्रतीत एव सपूर्व. स्तौति परिचय इति, 'असस्तुतेषु प्रसभ कुलेषु ··' इत्यादाविति, अयमपि न समाचरणीयः, तथा हि एकत्र सवासे तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च तस्यासकृदभ्यस्तत्वादवाप्तसह-कारिकारणात् मिथ्यात्वोदयतो दृष्टिभेदः सञ्जायते अतोऽतिचारहेतुत्वान्न समाचरणीयोऽय-मिति । अत्र चोदाहरण—सोरट्ठसड्ढगो पुव्वभणितो ।

विशेष—इस सन्दर्भ में जो उदाहरण दिये गये हैं वे आवश्यकचूर्णि (पृ २७९ आदि), निशीथ-चूर्णि (१, पृ. १५ आदि—सन्मति ज्ञानपीठ), श्रावकप्रज्ञप्ति टीका (गा. ८१ व ८३) तथा पंचाशक-चूर्णि (१, पृ. ४५ आदि) में भी उपलब्ध होते हैं, पर वे सर्वत्र अशुद्धियों से परिपूर्ण हैं ।

□□□

२ गाथानुक्रमणिका

३ टीकागत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

४ मूल ग्रन्थगत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

शब्द	संस्कृत रूप	अर्थ	गाथांक
अक्कंदण	आक्रन्दन	महान शब्द के द्वारा चिल्लाना	१५
अजोगी	अयोगिन्	शैलेशी केवली	८२
अज्जव	आर्जव	मायापूर्ण व्यवहार का त्याग	६९
अज्झवसाण	अध्यवसान	मन, एकाग्रता का आलम्बन	२
अट्टज्झाण	आर्तध्यान	संक्लेश रूप परिणाम	५
अणज्ज	अनार्य	हेय धर्म प्रवर्तक	२१
अणिच्चाइभावणा	अनित्यादिभावना	अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन	६५
अणुचिंता	अनुचिन्ता	विस्मरण न होने देने के लिए मन से ही सूत्र का अनुस्मरण	४२
अणुत्तरामर	अनुत्तरामर	अनुत्तर विमानवासी देव	९४
अणुपेहा	अनुप्रेक्षा	स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट हुए जीव की चित्तवृत्ति	२, ३९
अणुभाव	अनुभाव	कर्मविपाक	[illegible]
अत्थ	अर्थ	द्रव्य-पर्याय	[illegible]
अमण	अमन	अन्तःकरण से रहित केवली	७०
अमणुण्ण	अमनोज्ञ	मन के प्रतिकूल, अनिष्ट	८
अवह	अवध	परीषह व उपसर्ग के द्वारा ध्यान से विचलित या भयभीत न होना	९०, ९१
अवाय	अपाय	अपाय, दुख	८८
अवियार	अविचार	अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण से रहित	८०
अविरय	अविरत	व्रत रहित मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि	१८, २३
असब्भवयण	असभ्य वचन	असभ्य वचन, अपशब्द	२०
असब्भूय वयण	असद्भूत वचन	तीन प्रकार का असत्य वचन	२०
असम्मोह	असम्मोह	सूक्ष्म पदार्थों व देवमाया के विषय में मूढता का अभाव	९०, ९१
अंकण	अंकन	कुत्ता व शृगाल आदि के पावों से चिह्नित करना	१९
अंतोमुहुत्त	अन्तर्मुहूर्त	भिन्नमुहूर्त काल	३, ४
आगम	आगम	सूत्र	६७
आणा	आज्ञा	सूत्र का अर्थ	६७
आमरणदोस	आमरणदोष	स्व अथवा अन्य के महती आपत्ति को प्राप्त होने पर भी कालसौकरिक के समान मरण पर्यन्त पश्चाताप न करना	२६
आयरिय	आचार्य	सूत्रार्थ के ज्ञान के लिए मुमुक्षु जन जिसकी सेवा किया करते हैं	४७

आलंबण	आलम्बन	धर्मध्यान पर आरूढ होने के लिए जिसका सहारा लिया जाता है	१२, ४२, ६६
आसव	आस्रव	कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व आदि	५०
आसवदारावाय	आस्रवद्वारापाय	मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख	८८
ईसा	ईर्ष्या	प्रतिपक्षी के अभ्युदय को देखकर मन मे उत्पन्न होनेवाले मात्सर्यभावरूप ईर्ष्या	१०
उदाहरण	उदाहरण	दृष्टान्त	४८
उप्पाय	उत्पाद	उत्पाद, उत्पत्ति	५२, ७७, ७९
उवएस	उपदेश	सूत्र के अनुसार कथन करना	६७
उवप्रोग	उपयोग	साकार (ज्ञान) व निराकार(दर्शन)	५५
उवसग्ग	उपसर्ग	उपसर्ग, देव-मनुष्यादि कृत उपद्रव	६१
उवसंतमोह	उपशान्तमोह	उपशामक निर्ग्रन्थ	६३
उस्सण्णदोस	उत्सन्न दोष	हिंसानुबन्धी आदि किसी एक रौद्रध्यान मे निरन्तर प्रवृत्त रहना	२६
एगत्तवितक्कमवियार	एकत्ववितर्क अविचार	जिस ध्यान में भेद से रहित व्यंजन, अर्थ व योग के संक्रमण रहित वितर्क (श्रुत) होता है	८०
कम्म	कर्म	ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गल	१
कम्मविवाग	कर्मविपाक	कर्मोदय	५१
कलुस	कलुष	आत्मा को कलुषित करने वाली कषाय	२०
कायकिरिय	कायक्रिया	उच्छ्वास-निःश्वासरूप काय की क्रिया	८१
कायजोग	काययोग	औदारिकादि शरीर से युक्त जीव के वीर्य की परिणतिविशेष	३, ७६
काल	काल	कलासमूह अथवा चन्द्र-सूर्य आदि की गमन-क्रिया से उपलक्षित दिन आदि	३८
काला लेस्सा	कृष्णलेश्या	कृष्णलेश्या	१४, २५
काग्रोयलेस्सा	कापोत लेश्या	कापोत लेश्या	१४, २५
कित्तण	कीर्तन	सामान्य से निर्देश करना	६८
केवली	केवलिन्	केवलज्ञान से संयुक्त	४४, ७६
खंति	क्षान्ति	क्षान्ति—क्रोध का परित्याग	६९
खिइ	क्षिति	घर्मा आदि आठ पृथिवियां	५४
खीणमोह	क्षीणमोह	क्षपक निर्ग्रन्थ	६३
गम	गम	चतुर्विंशतिदण्डक आदि	४६
चक्कवट्टी	चक्रवर्तिन्	चक्र के धारक भरतादि सम्राट्	९
चारित्त	चारित्र	चारित्र, अशुभ क्रिया का परित्याग, अनिन्द्य आचरण	३३, ५८
चारित्तभावणा	चारित्रभावना	समस्त सावद्य योग की निवृत्तिरूप क्रिया का अभ्यास	३३
चित्त	चित्त	भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता रूप तीन प्रकार का अनवस्थित अध्यवसान	२, ३, [illegible]
चिंता	चिन्ता	भावना और अनुप्रेक्षा से रहित मन की प्रवृत्ति	२, ४

दाण	दान	भोजन आदि का प्रदान करना	६८
दीव	द्वीप	जम्बूद्वीप आदि	५४
देविंद	देवेन्द्र	देवों का प्रभु	६
देसविरय	देशविरत	एक-दो आदि अणुव्रतो के धारक श्रावक	१८
देसासजय	देशासयत	देशत: संयम से रहित	२३
देहोवहिवोसग्ग	देहोपधिव्युत्सर्ग	देह व उपाधि का त्याग	६२
दोस	द्वेष	प्रीति का अभाव	६, ४६
धम्म	धर्म, धर्म्य	धर्म—दुर्गति मे पडते हुए जीव का उद्धारक, धर्म्य—श्रुत और चारित्ररूप धर्म से अनुगत ध्यान विशेष	५, १७
धम्मज्झाणी	धर्मध्यानिन्	धर्मध्यान का ध्याता	६८
नय	नय	नैगम-संग्रहादि के भेद से नय अनेक प्रकार का है	४६, ६२
नरय	नरक	सीमन्तक आदि नारकबिल	५४
नियाण	निदान	इस तप या त्याग के आश्रय से मैं देवेन्द्र या चक्रवर्ती हो जाऊ, इस प्रकार की प्रार्थना	९
निव्वाण	निर्वाण	निर्वाण, मोक्ष	५, ६०, ८१
नीललेस्सा	नीललेश्या	लेश्याविशेष	१४, २५
पएस	प्रदेश	जीवप्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध	५१
पज्जव	पर्याय	उत्पादादिरूप पर्याय	५२
पणिहाण	प्रणिधान	प्राणिहिंसादि को न करते हुए भी उसके प्रति दृढ अध्यवसाय	१९, २०
पमाण	प्रमाण	समस्त वस्तु का ग्राहक ज्ञान	४६
पमाय	प्रमाद	मद्यादि प्रमाद	१७, ६३
पम्हलेस्सा	पद्मलेश्या	पीत लेश्या से विशुद्ध एक लेश्या	६६
पयइ	प्रकृति	ज्ञानावरणादिरूप आठ कर्मप्रकृतियां	५१
परमसुक्क	परमशुक्ल	शैलेशीगत केवली का उत्कृष्ट शुक्लध्यान	८२, ८९
परमसुक्कलेस्सा	परमशुक्ललेश्या	सयोग केवली की अतिशय विशुद्ध लेश्या	८९
परमाणु	परमाणु	जिसका विभाग न हो सके ऐसा पुद्गलविशेष	७२
परिदेवन	परिदेवन	बार-बार संक्लेशयुक्त भाषण	१५
परियट्टणा	परावर्तन	पूर्वपठित सूत्र आदि का विस्मरण न होने देने तथा निर्जरा के निमित्त जो अभ्यास किया जाता है	४२
परीसह	परीषह	क्षुधा-तृषा आदि की वेदना	९१
पसम	प्रश्रम, प्रशम	स्वमत और परमत के तत्त्वविषयक अभ्यास से उत्पन्न होने वाला प्रकृष्ट श्रम (प्रश्रम) अथवा कषायों की शान्तिरूप प्रशम	३२
पसंसणा	प्रशंसना, प्रशसा	भक्तिपूर्वक स्तुति	६८
पंचत्थिकाय	पंचास्तिकाय	प्रदेशसमूह वाले धर्मास्तिकायादि पांच द्रव्य	५३

राग	राग	विषयासक्ति	८, ४६
रुद्द	रौद्र	हिंसादिविषयक अतिशय क्रूरतायुक्त रौद्रध्यान	५, २४
रोगासयसमण	रोगाशयशमन	रोग की निदानपूर्वक चिकित्सा	१००
लेस्सा	लेश्या	स्फटिक मणि के समान कृष्णादि द्रव्य की समीपता से होने वाला आत्मपरिणाम	१४,२५,६६,८६
लोग	लोक	पांच अस्तिकायरूप लोक	५३
वणिय	वणिक्	आय-व्यय का ध्यान रखने वाला वणिक्, व्यापारी	६०
वत्थु	वस्तु	जिसमें गुण-पर्याय बसते हैं—रहते हैं	३
	वस्तुसंक्रम	वस्तुपरिवर्तन, अर्थसंक्रान्ति	४
वत्थूण विपरिणाम	वस्तूना विपरिणाम	चेतन-अचेतन वस्तुओं का विरुद्ध परिणमन, उनकी नश्वरता	८८
वइजोग	वाग्योग	औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से आने वाली वचनवर्गणा के आश्रयसे होनेवाला जीवका व्यापार	७६
वलय	वलय	घर्मा आदि सात पृथिवियो का परिक्षेपण करने वाला वायुमण्डल	५४
वह	वध	ताडन	१६
वंजण	व्यञ्जन	शब्द	७८, ८०
वायण	वाचना	वाचना—निर्जरा के निमित्त शिष्य के लिए सूत्रार्थ का प्रदान करना	४२
विउस्सग्ग	व्युत्सर्ग	देह व उपधि का परित्याग	९०, ९२
विणय	विनय	अभ्युत्थानादि	६८
विमाण	विमान	ज्योतिषी आदि देवो के निवासस्थान	५४
विरेयणोसह	विरेचनौषध	विरेचक (दस्तावर) औषधि	१००
विवेग	विवेक	देह से आत्मा को पृथक् समझना	९०
विसय	विषय	जिनमे आसक्त होकर प्राणी दुख को प्राप्त होते हैं	६
विसाय	विषाद	विषाद, विकलता	१०३
विसोसण	विशोषण	अनशनादि के द्वारा होने वाला कर्म का शोषण (विनाश)	१००
वीर	वीर	विशेषरूप से कर्म को नष्ट करने वाला या कल्याण को प्राप्त होने वाला	१
वेज्ज	वैद्य	वैद्य	७२
वेयणा	वेदना	वेदना, पीड़ा का अनुभव	७
वेह	वेध	कील आदि से नाक आदि का छेदना	१६
वोच्छिन्नकिरिय-अप्पडिवाइ	व्युच्छिन्नक्रिय अप्रति-पाति	क्रिया से रहित होकर स्थिरस्वभाव वाला शुक्लध्यान	८२
सद्दाइविसय	शब्दादि विषय	शब्द आदि इन्द्रियविषय	६
सद्धम्मावस्सय	सद्धर्मावश्यक	समीचीन चारित्र से अनुगत सामायिकादि	४२

समाहि	समाधि	समाधि (स्वस्थता)	४४
सम्मद्दंसण	सम्यग्दर्शन	तत्त्वार्थश्रद्धान	५८
सवियार	सविचार	अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्तिरूप विचार से सहित	७८
सव्वण्णु	सर्वज्ञ	तीर्थङ्कर, अरहन्त	४८
संकाइदोस	शंकादिदोष	सम्यग्दर्शन के अतिचारभूत शंका-कांक्षा आदि	३२
संघयण	संहनन	संहनन—हड्डियों का बन्धनविशेष	६४
संजम	संयम	प्राणातिपातादि पापो से निवृत्ति	१२, ६८
संठाण	संस्थान	जीवों आदि के शरीर की आकृति	५२
संवर	संवर	मिथ्यात्वादि आस्रवों का निरोध, अशुभ कर्मों के आने का निरोध	५६, ६३
संसार	संसार	जन्म-मरण आदि की परम्परा	५७
संसारहेउ	संसारहेतु	संसार के कारण—राग-द्वेषादि	१३
संसारासुहाणुभाव	संसाराशुभानुभाव	शुक्लध्यान मे चिन्तनीय अनुप्रेक्षा विशेष	८८
सागर	सागर	लवणसमुद्रादि	५४
सारीर दुक्ख	शारीरिक दुःख	शीत-आतप आदि शारीरिक दुःख	१०४
सावय	श्वापद	जलजन्तुविशेष	५६
साहू	साधु	मुनि	६८
सिरोरोग	शिरोरोग	शिर का रोग	७
सील	शील	व्रत आदि का समाधान	६८
सीलंग	शीलाङ्ग	पृथिवीकायविषयक संरम्भका परित्याग आदि	६०
सुय	श्रुत	सामायिक आदि बिन्दुसार पर्यन्त श्रुत	६८
सुक्कझाण	शुक्लध्यान	शोक को नष्ट करने वाला अथवा आठ प्रकार के कर्मरूप मल को शुद्ध करने वाला शुक्लध्यान	१, ५
सुक्कलेस्सा	शुक्ललेश्या	पद्मलेश्या से विशुद्ध लेश्याविशेष	६६
सुहासव	शुभास्रव	पुण्यास्रव	९३
सुहुमकिरियाअनियट्टि	सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति	जो शुक्लध्यान सूक्ष्म क्रिया से युक्त होकर निवृत्त होने वाला नहीं होता	८१
सूलरोग	शूलरोग	रोगविशेष	७
सेलेस	शैलेश	शैलेश—पर्वतों का राजा मेरु	७६
सेलेसी	शैलेशी, शैलर्षि, शीलेश	सुमेरु के समान स्थिरता (शैलेशी), अथवा सुमेरु के समान स्थिरता को प्राप्त ऋषि (शैलर्षि), अथवा सर्वसंवररूप शीलों की प्रभुता	७६
सेलेसीगय	शैलेशीगत	शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगकेवली	८२
सोग	शोक	शोक, दीनता	१०३
सोयण	शोचन	आसुओं से परिपूर्ण नेत्रों की दीनता	१५
हेउ	हेतु	विवक्षित धर्म से युक्त पदार्थों का गमक हेतु	४८

५ टीकागत निरुक्त शब्द

शब्द	निरुक्ति	
अनुप्रेक्षा	अनु पश्चाद्भावे प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः	२
असद्भूत	न सदभूतमसद्भूतम्, अनृतमित्यर्थः	२०
असभ्य	सभायां साधु सभ्यम्, न सभ्यमसभ्य जकार-मकारादि	२०
अस्तिकाय	अस्तयः प्रदेशाः, तेषां कायाः अस्तिकायाः	५३
आचार्य	आचर्यतेऽसावाचार्यः, सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः	४७
आज्ञा	कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्ते प्राणिन इत्याज्ञा	४६
आर्त	ऋते भवमार्तम्, क्लिष्टमित्यर्थः	५
आर्य	आरात् यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम्	२१
आलम्बन	इह धर्मध्यानारोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि	४२
उपयोग	उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः साकारानाकारादिः	५५
कर्म	मिथ्यादर्शनाऽविरति - प्रमादकषाय-योगैः क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादि	१,३३
कुशील	कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकारादयः	३५
ग्राम	ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान्, गम्यो वा करादिनामिति ग्रामः, सन्निवेशविशेषः	१६
चक्रवर्ती	चक्र प्रहरणम्, तेन विजयाधिपत्ये वर्तितु शीलं येषां ते चक्रवर्तिनः भरतादयः	६
चारित्र	'चर गति-भक्षणयोः' इत्यस्य 'अति - लू-धू-सू-खनि-सहि चर इत्रन्, इतीत्रन्प्रत्यान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्र क्षयोपशमरूपम्, तस्य भावश्चारित्रम्, एतदुक्त भवति इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावश्चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रिया इत्यर्थं ।	३३
छद्मस्थ	छादयतीति छद्म पिधानम्, तच्च ज्ञानादिगुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताश्छद्मस्थाः, अकेवलिन इत्यर्थः	५
जगत्	जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ।	३४
जीव	जीवति जीविष्यति जीवितवान् वा जीव इति	५५
देव	दीव्यन्तीति देवाः भवनवास्यादयः	६
धर्म	दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः	१७
धर्म्यध्यान	श्रुत-चरणधर्मानुगत धर्म्यम्	५
ध्यान	ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थ.	१
पाप	पातयति नरकादिष्विति पापम्	४०
प्रमाण	प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि द्रव्यादीनि	४६
प्रश्रम	प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः, स	

	च स्व-परसमयतत्त्वाधिगमरूपः	३२
भव	भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसार एव	५
भावना	भाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः	२
मध्यस्थ	मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, राग-द्वेषयोरिति गम्यते	११
मनोज्ञ	मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि	६
मुनि	मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः	११,६०
मुनि	मन्यन्ते जीवादीन् पदार्थानिति मुनयो विपश्चित्साधवः	३६
योग	युज्यन्त इति योगाः मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः × × युज्यते वानेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः धर्मशुक्लध्यानलक्षणः	१
योगीश्वर	सः (योगः) येषां विद्यत इति योगिनः साधवः	१

लोक	लोक्यते इति लोक.	५३
वस्तु	वसन्त्यस्मिन् गुण-पर्याया इति वस्तु चेतनादि	३
विषय	विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषया इन्द्रियगोचरा वा	६
वीर	'ईर गति-प्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य, विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वेह शिवमिति वीरः	१
शरण्य	शरणे साधुः शरण्यः, तं रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववत्सल रक्षकमित्यर्थ.	१
शुक्ल	शुच क्लमयतीति शुक्लम्, शोक ग्लपयतीत्यर्थ·	१
शुक्ल	शोषयत्यष्टप्रकारं कर्ममल शुच वा क्लमयतीति शुक्लम्	५
हेतु	हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः कारको व्यञ्जकश्च	४८

६ टीकागत अवतरणवाक्य

७ टीका के अनुसार पाठभेद

१. राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य, आकुलस्य वेति पाठान्तरम् । गा. २४
२. नियताः परिच्छिन्नाः, पाठान्तरं वा जनिताः । गा. ३०
३. परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम् । गा. ६०
४. मन्त्र-योगाभ्यामिति च पाठान्तरं वा । गा. ७१

८ टीकानुसार मतभेद

१. अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते । गा. १२
२. अनेन किलानागतकालपरिग्रह इति वृद्धाः व्याचक्षते । गा. ८
३. अन्ये तु व्याचक्षते तिर्यग्गतावेव प्रभूततरसत्त्वसम्भवात् संसारोपचारः इति । गा. १३
४. प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये । गा. ५०

९ टीकागत ग्रन्थनामोल्लेखादि

१. उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन । गा ५
२. उक्तं च परममुनिभिः—पुव्वि खलु……। गा. ११
३. उक्तं चोमास्वातिवाचकेन—हिंसानृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम् । गा. १८
४. सिद्धमारकवत् । गा २७
५. एतेषां स्वरूप च प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः । गा. ३२
६. श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय. एवंविधा बहव. इति । गा. ४५
७. तथा च स्तुतिकारेणाप्युक्तम्—कल्पद्रुम. कल्पितमात्रदायी……॥ गा. ४५
८. भावार्थः पुनः वृद्धविवरणादवसेयः × × × जहा कम्मपयडीए तहा विसेसेण चिंचितिज्जा
× × × वित्थरओ कम्मपयडीए भणियाणं कम्मविवागं चिंचितेज्जा । गा. ५१
९. भावार्थस्त्वचतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेय । गा. ५३
१०. आर्य-सुधर्मजम्ब्वादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्ते. । गा. ६४
११. भावार्थो नमस्कारनिर्युक्तौ प्रतिपादित एव । गा. ७६
१२. मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा । गा. ७७

१० टीकागत न्यायोक्तियां

१. यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादार्तध्यानस्य स्वरूपाभिधानावसरः । गा. ५
२. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति स्त्र्यादयश्च योग्यं यतिनपुंसकस्य च । गा. ३५
३. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् नगर-खेट कर्बटादिपरिग्रहः इति । गा. ३६
४. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् अदत्तादान-मैथुन-परिग्रहानुपरोधरहितश्च । गा. ३७

श्री-भास्कर-नन्दि-विरचितः

ध्यानस्तवः

ध्यान माहात्म्य—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

आ. कुमुदचन्द्र—कल्याणमन्दिर १५.

श्री-भास्करनन्दि-विरचितः

ध्यानस्तवः

परमज्ञानसंवेद्यं वीतबाधं सुखादिवत् । सिद्धं प्रमाणतः सार्वं सर्वज्ञं सर्वदोषहम् ॥१॥
अनन्तातीतगुणाकीर्णं योगाढ्यैर्वास्तवैः स्तवैः । संस्तुवे परमात्मानं लोकनाथं स्वसिद्धये ॥२॥

जो परमात्मा उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा संवेद्य (जानने के योग्य), सुखादि के समान बाधा से रहित, प्रमाण से सिद्ध, सबके हित में उद्यत, समस्त पदार्थों का ज्ञाता, समस्त दोषों का विनाशक अनन्त गुणों से व्याप्त और लोक का अधिनायक है, उस की मैं (भास्करनन्दी) योग से सम्पन्न वस्तुभूत स्तवनों के द्वारा आत्मसिद्धि के लिए स्तुति करता हूं ॥

विवेचन—यहाँ योग (ध्यान) की प्ररूपणा में उद्यत होकर ग्रन्थकार भास्करनन्दी यह अभिप्राय प्रगट करते हैं कि जो भी सब दोषों को नष्ट करके परमात्मा होता है वह योग के आश्रय से—धर्म और शुक्ल ध्यान के प्रभाव से—ही होता है। इसलिए मैं उस परमात्मा की योग से सम्पन्न—ध्यान के प्ररूपक—स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता हू। प्रयोजन उसका स्वसिद्धि—आत्मोपलब्धि है ॥१-२॥

वह सिद्धि क्या है, किसके होती है, और उसका उपाय क्या है; इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

सिद्धिः स्वात्मोपलम्भः स्याच्छुद्धध्यानोपयोगत. । सम्यग्दृष्टेरसंगस्य तत्त्वविज्ञानपूर्वतः[कः]

शुद्ध ध्यान के उपयोग से—शुक्ल ध्यान के आश्रय से—जो निज आत्मा की उपलब्धि—स्वात्मानुभवन—होता है उसका नाम सिद्धि है। वह असंग—ममत्वबुद्धि से रहित—सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है ॥

विवेचन—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव को जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसे सिद्धि कहा जाता है। मुक्ति या मोक्ष इसी के नामान्तर हैं। इस सिद्धि के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इनकी पूर्णता शुक्लध्यान के आश्रय से हुआ करती है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार ने प्रकृत श्लोक में उक्त सिद्धि का अधिकारी उस सम्यग्दृष्टि जीव को बतलाया है जो ध्यान के बल से तत्त्वज्ञानपूर्वक असंग हो चुका है। दृष्टि, दर्शन, रुचि और श्रद्धा ये समानार्थक शब्द हैं। जिस जीव की वह दृष्टि मिथ्यात्व को छोडकर यथार्थता को प्राप्त कर चुकी है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर जीव के जो हीनाधिक ज्ञान होता है वह सम्यक्स्वरूप मे परिणत होकर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हुआ मुमुक्षु जीव आत्मोत्थान के लिए क्रम से धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेता है और उसके प्रभाव से शुद्ध आत्मस्वरूप के आच्छादक कर्म-कलंक को नष्ट करता हुआ असंग हो जाता है। संग, मूर्छा, परिग्रह, राग-द्वेष और आसक्ति ये समानार्थक शब्द हैं। राग-द्वेष अथवा आसक्ति के उत्तरोत्तर हीन होते जाने से जीव पूर्णतया स्वावलम्बी होकर जो परम वीतरागता को प्राप्त कर लेता है, यही सर्वोत्कृष्ट चारित्र है। इस प्रकार समग्रस्वरूप से प्रसिद्ध उक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होकर सिद्धि को पा लेता है—मुक्त हो जाता है ॥३॥

प्रकारान्तर से पुनः इसी को व्यक्त किया जाता है—

कर्माभावे ह्यनन्तानां ज्ञानादीनामवापनम् । उपलम्भोऽथवा सोक्ता त्वया स्वप्रतिभासनम् ॥

अथवा—कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो अनन्त ज्ञानादि की प्राप्ति होती है, यही स्वात्मा की उपलब्धि है जो आत्मप्रतिभासस्वरूप है । इसे ही हे भगवन् ! आपने सिद्धि कहा है ॥

विवेचन—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं जो क्रम से ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्य इनके विघातक हैं । उनका अभाव हो जाने पर जीव सयोग-केवली नामक तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टय को प्राप्त कर लेता है । यही आर्हन्त्य अवस्था अथवा जीवन्मुक्ति है । तत्पश्चात् अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों के भी नष्ट हो जाने पर जीव सिद्ध होकर निर्बाध शाश्वतिक सुख को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार सिद्धि को प्राप्त हुआ मुक्तात्मा उक्त आठ कर्मों के अभाव से क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, अव्याबाधत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व और अनन्त वीर्य इन आठ गुणों का स्वामी हो जाता है । कहा भी गया है—

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं । हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेदि विग्घ तु ।
सुहुमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं । अगुरुलहुगं च गोदं अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं ॥
(गो. जी. जी. प्र. टीका ६८ उद्धृत)

अर्थात् मोहनीय कर्म क्षायिक सम्यक्त्व का, दो आवरण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण—क्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन का, विघ्न (अन्तराय कर्म) अनन्त वीर्य का, नामकर्म सूक्ष्मत्व का, आयुकर्म अवगाहनत्व का, गोत्रकर्म अगुरुलघुत्व का और वेदनीय अव्याबाधत्व का घात करता है ॥४॥

आगे यह दिखलाते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर ही ध्यान सम्भव है, उसके बिना वह सम्भव नहीं है—

समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नावभासते । न तद् ध्यानं त्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥

हे देव ! जो समाधि में स्थित है उसे यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है तो आपने उसके उस ध्यान को मोहस्वरूप होने के कारण ध्यान नहीं कहा ॥

विवेचन—यद्यपि सामान्य से चार प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत आर्त व रौद्र भी हैं, परन्तु यहां ध्यान से समीचीन ध्यान की विवक्षा रही है, लोकरूढि में भी ध्यान से समीचीन ध्यान का ही ग्रहण किया जाता है । वह समीचीन ध्यान मिथ्यादृष्टि के सम्भव नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के ही होता है । इसीलिए यहां यह कहा गया है कि जिसे शरीरादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रतिभास नहीं होता उसके समाधिस्थ जैसे होने पर भी वस्तुतः ध्यान सम्भव नहीं है । कारण यह कि मिथ्यात्व से ग्रसित होने के कारण उसे स्व-पर का विवेक ही नहीं हो सकता ॥५॥

आगे ध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् । उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ॥

अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को जो एक ही पदार्थ में नियंत्रित किया जाता है, इसे हे देव ! आपने ध्यान कहा है । वह ध्यान न तो जड़ता स्वरूप है और न तुच्छता रूप भी है ॥

विवेचन—"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" इस सूत्र[1] में कहा गया है कि अनेक पदार्थों की ओर से चिन्ता को हटाकर उसे एक पदार्थ पर रोकना, यह ध्यान कहलाता है और वह उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ।

---

1. त. सू. ९–२७.

एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप इस ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंक देव के द्वारा कहा गया है कि 'अग्र' का निरुक्तार्थ मुख अथवा अर्थ (पदार्थ) है, तथा पदार्थों के विषय में जो अन्तःकरण का व्यापार होता है उसका नाम चिन्ता है। इसका अभिप्राय यह है कि गमन, भोजन, शयन एवं अध्ययन आदि अनेक क्रियाओं में अनियमितता से प्रवर्तमान मन को जो किसी एक क्रिया के कर्तारूप से अवस्थित किया जाता है, इसे एकाग्रचिन्तानिरोध कहा जाता है। फलितार्थ यह है कि एक द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु रूप अर्थ में जो चिन्ता को नियंत्रित किया जाता है, इसे ध्यान समझना चाहिए। जिस प्रकार वायु के अभाव में निर्बाधरूप से जलने वाली दीपक की लौ चपलता से रहित (स्थिर) होती है उसी प्रकार आत्मा के वीर्यविशेष से विभिन्न पदार्थों की ओर से रोकी जाने वाली चिन्ता चंचलता से रहित होती हुई एकाग्रस्वरूप से स्थित होती है[1]।

लगभग यही अभिप्राय तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानन्द का भी रहा है[2]।

तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यानुसारिणी टीकाओं के कर्ता हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि अपनी-अपनी टीका में समान रूप से 'अग्र' का अर्थ आलम्बन और 'चिन्ता' का अर्थ चचल चित्त करते हैं। उक्त चंचल चित्त के अन्यत्र होने वाले संचार को रोककर उसे एक के आश्रित अवस्थित करना, यह निरोध का अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु का आश्रय लेने वाला जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है। इस प्रकार का वह ध्यान छद्मस्थो के ही होता है, केवलियो के नहीं। केवलियों का ध्यान वचन और काय योगों के निरोधस्वरूप है। कारण यह कि उनके चित्त का अभाव हो चुका है[3]।

यही अभिप्राय ध्यानशतक में भी प्रगट किया गया है[4]।

प्रकृत श्लोक में भास्करनन्दी ने जो अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के एक अर्थ में नियंत्रित करने को ध्यान कहा है वह उक्त तत्त्वार्थवार्तिक आदि का अनुसरण करने वाला है। यहां भास्करनन्दी ने यह भी कहा है कि वह ध्यान जड़ता अथवा तुच्छता रूप नहीं है। इसका कुछ स्पष्टीकरण हमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे उपलब्ध होता है। वहां शका के रूप में यह कहा गया है कि ध्यान (योग) का स्वरूप तो चित्तवृत्ति का निरोध है, न कि एकाग्रचिन्तानिरोध ? इस शंका के ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए पूछा गया है कि चित्तवृत्तिनिरोध से क्या आपको समस्त चित्तवृत्तियों के निरोधरूप तुच्छ अभाव अभीष्ट है अथवा वह (चित्तवृत्ति का निरोध) स्थिर ज्ञानस्वरूप अभीष्ट है ? इनमें समस्त चित्तवृत्तियों के निरोधस्वरूप तुच्छ अभाव को यदि ध्यान माना जाता है तो वह प्रमाणसमत नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यदि उस चित्तवृत्तिनिरोध को स्थिर ज्ञानस्वरूप स्वीकार किया जाता है तो वह हमें अभीष्ट है[5]।

इस प्रकार प्रकृत में जो तुच्छतारूप ध्यान का निषेध किया गया है उसका आधार निश्चित ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का उक्त प्रसग रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जड़तास्वरूप ध्यान का जो निषेध किया गया है वह प्रायः सांख्य मत के अभिप्राय को लेकर किया गया है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति (प्रधान) और पुरुष ये दो तत्त्व प्रमुख हैं। इनमें पुरुष को स्वभावतः ज्ञान से रहित माना गया है। इसका कारण यह रहा है कि ज्ञान अनित्य है, और तब वैसी अवस्था में पुरुष को उस ज्ञान से अभिन्न मानने पर उसके जो अनित्यता का प्रसग प्राप्त होगा वह दुर्निवार होगा। इस प्रकार

१. त. वा. ९, २७, ३–७, पृ. ६२५.
२. त. श्लो. ९, २७, ५-६, पृ. ४९८-९९.
३. त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति ९–२७.
४. ध्यानशतक २–३.
५. त. श्लो. ९, २७, १-२ (यहां पाठ कुछ त्रुटित हो गया दिखता है)।

पुरुष के ज्ञान (चेतनता) से रहित होने पर ध्यान भी जड़ता को प्राप्त होता है। सम्भवतः इसी अभिप्राय को लेकर जड़रूपता का भी निषेध किया गया है। यह अभिप्राय भी उक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में निहित है[1] ॥६॥

वह वस्तुस्वरूप अध्यात्मवेदी के अनुभव में स्वयं आता है, यह आगे कहा जाता है—

ज्ञस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपश्यता। स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यात्मवेदिनः ॥७॥

जीव का स्वरूप ज्ञानमय व उदासीन—राग-द्वेष से रहित है, इसे जो देखता-जानता है उस अध्यात्मवेदी को स्पष्ट रूप से तत्त्व प्रतिभासित होता है ॥

विवेचन—पीछे श्लोक ५ में यह कहा जा चुका है कि समाधि में स्थित होते हुए भी जिसे ज्ञानमय आत्मा प्रतिभासित नहीं होता है उसका वह ध्यान वस्तुतः ध्यान नहीं है, किन्तु मोहरूप होने से वह ध्यानाभास है। इस पर यह शंका हो सकती थी कि तो फिर ध्यान किसके सम्भव है ? इसके समाधान स्वरूप यहां यह कहा गया है कि जो ज्ञायकस्वभावरूप आत्मस्वरूप को देख रहा है, ध्यान यथार्थतः उसके होता है, क्योंकि वह मोह से रहित होकर आत्मतत्त्व को जानता है ॥७॥

आगे ध्यान के भेद और उनके फल का निर्देश किया जाता है—

आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम्। तत्राद्यं संसृतेर्हेतुर्द्वयं मोक्षस्य तत्परम् ॥८॥

ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथम दो ध्यान—आर्त और रौद्र—संसार के कारण हैं तथा अन्तिम दो—धर्म्य और शुक्ल—मोक्ष के कारण है ॥८॥

आगे ध्यान के उक्त चार भेदों मे प्रथमतः आर्तध्यान का स्वरूप दो श्लोको में कहा जाता है—

विप्रयोगे मनोज्ञस्य संप्रयोगाय संततम्। संयोगे चामनोज्ञस्य तद्वियोगाय या स्मृतिः ॥९॥

पुंसः पीडाविनाशाय स्यादार्तं सनिदानकम्। गृहस्थस्य निदानेन विना साधोस्त्रयं क्वचित् ॥

अभीष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, अनिष्ट का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, तथा पीडा के विनाश के लिए जो जीव के निरन्तर स्मरण या चिन्तन होता है वह आर्तध्यान कहलाता है। साथ ही भोगाकांक्षारूप जो निदान है वह भी आर्तध्यान के अन्तर्गत है। इस प्रकार विषयभेद से आर्तध्यान चार प्रकार का है। उनमें गृहस्थ के तो वे चारों सम्भव हैं, परन्तु साधु के निदान के बिना पूर्व के तीन आर्तध्यान कदाचित् हो सकते हैं ॥

विवेचन—आर्त यह 'ऋत' शब्द से बना है। ऋत का अर्थ दुख होता है, तदनुसार दुःख के निमित्त से या दुख मे जो संक्लेश परिणाम होता है उसे आर्तध्यान कहा जाता है। वह विषय के भेद से चार प्रकार का है—१. अभीष्ट स्त्री-पुत्रादि अथवा धन-सम्पत्ति आदि का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए जो विचार रहता है वह प्रथम आर्तध्यान है। इसी प्रकार इष्ट पदार्थों के संयोग के होने पर उनका कभी वियोग न हो इसके लिए, और यदि उनका संयोग नहीं है तो किस प्रकार से उनकी प्राप्ति हो इसके लिए भी जो निरन्तर संक्लेशरूप परिणाम रहता है, यह सब प्रथम आर्तध्यान के अन्तर्गत है। २. अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर किस प्रकार उसका मुझसे वियोग हो, इसके लिए जो निरन्तरचिन्तन होता है, तथा भविष्य में कभी किसी अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो, इसके लिए भी जो निरन्तर विचार रहता है, यह दूसरा आर्तध्यान है। ३. रोगादिजनित पीड़ा के होने पर उससे किस प्रकार छुटकारा हो, इसके लिए तथा यदि पीड़ा न भी हो तो भी भविष्य मे कभी किसी प्रकार की पीड़ा न हो, इसके लिए भी जो निरन्तर विचार रहता है; यह तीसरा आर्तध्यान माना गया है। ४. भविष्य में इन्द्र व चक्रवर्ती आदि के भोगों की प्राप्ति के लिए जो यह प्रार्थना की जाती है कि मेरे द्वारा अनुष्ठित तप व संयम के प्रभाव से मुझे अमुक प्रकार का सुख प्राप्त हो, इसका नाम निदान है। यह चौथे प्रकार का आर्तध्यान

१ त. श्लो. ९, २७, ३, पृ. ४६७-६८.

है । उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान में गृहस्थ के तो वे चारों ही हो सकते हैं, किन्तु मुनि के निदान नहीं होता—शेष तीन उसके भी हो सकते हैं । यह दुर्ध्यान तिर्यग्गति का कारण है ॥९-१०॥

आगे रौद्रध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

हिंसाऽसत्यचौर्यार्थसंरक्षणेभ्यः प्रजायते । क्रूरो भावो हि यो हिंस्रो रौद्रं तद् गृहिणो मतम् ॥

हिंसा, असत्य, चोरी और धनसंरक्षण के लिए जो हिंसाजनक क्रूर भाव होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है और वह गृहस्थ के माना गया है—मुनि के वह नहीं होता है ॥

विवेचन—'रोदयति परान् इति रुद्रः' इस निरुक्ति के अनुसार जो दूसरों को रुलाता है उसे रुद्र कहा जाता है । तदनुसार क्रूर प्राणी अथवा दुख के कारण को रुद्र समझना चाहिए । इस प्रकार क्रूर प्राणी के द्वारा किये जाने वाले कार्य का नाम रौद्रध्यान है । वह विषय (ध्येय) के भेद से चार प्रकार का है—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी । दूसरे प्राणियों के वध-बन्धन आदि का जो निरन्तर विचार रहता है, वह प्रथम (हिंसानुबन्धी) रौद्र ध्यान है । असत्य, असभ्य अथवा जिससे दूसरे प्राणी को दुख पहुंचने वाला हो ऐसे वचन के बोलने की जो प्रवृत्ति होती है उसे मृषानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं । अतिशय क्रोध अथवा लोभ के वश होकर जो दूसरे के द्रव्य के हरण का विचार होता है वह स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है । इन्द्रियविषयों के साधनभूत धन के संरक्षण का जो निरन्तर विचार रहता है उसका नाम विषयसंरक्षणानुबन्धी (चौथा) रौद्रध्यान है । यह चार प्रकार का निकृष्ट रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि आदि संयतासयत पर्यन्त पांच गुणस्थानों में ही सम्भव है, प्रमत्तसंयतादि शेष गुणस्थानों में वह सम्भव नहीं है । वह नरकगति का कारण है ॥११॥

अब क्रमप्राप्त धर्म्यध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए धर्म का स्वरूप प्रगट करते हैं—

जिनाज्ञा-कलुषापाय-कर्मपाकविचारणा । लोकसंस्थानविचारश्च धर्मो देव त्वयोदितः ॥१२॥
अनपेतं ततो धर्माद्यत्तद् धर्म्यं चतुर्विधम् । उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः ॥१३॥

जिनदेव की आज्ञा (जिनागम), पाप के अपाय, कर्म के विपाक और लोक के आकार का जो विचार किया जाता है उसे हे देव ! आपने धर्म कहा है । उस धर्म से जो दूर नहीं है—उससे परिपूर्ण है—वह धर्म्यध्यान कहलाता है, जो विषय के भेद से चार प्रकार का है । अथवा उत्तम क्षमा-मार्दवादि-स्वरूप धर्म का लक्षण जानना चाहिए, वस्तु का जो स्वरूप या स्वभाव है उसे भी प्रकारान्तर से धर्म कहा जाता है ।

विवेचन—जो विचार धर्म से सम्पन्न होता है उसे यहां धर्म्यध्यान कहा गया है । प्रसंगवश यहां धर्म के स्वरूप का विचार करते हुए प्रथमतः जिनाज्ञा आदि के विचार को धर्म बतलाया है । वह उक्त जिनाज्ञा आदि के भेद से चार प्रकार का है । इनमें जिनाज्ञा (जिनागम) का विचार करते हुए धर्मध्यानी यह विचार करता है कि तत्त्व की दुरवबोधता और ज्ञानावरण के उदय के कारण यदि किसी तत्त्व का बोध मुझे ठीक से नहीं होता है तो इससे जिनाज्ञासित तत्त्व का स्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता, क्योंकि वह उस आप्त के द्वारा कहा गया है जो सर्वज्ञ—समस्त तत्त्वों का ज्ञाता—और राग-द्वेष से रहित है । तत्त्व का असत्य निरूपण वही करता है जो या तो अल्पज्ञ है या राग-द्वेष के वशीभूत है । इस प्रकार से जिनागम के विषय में विचार करना यह उस धर्म का प्रथम भेद है । कलुष नाम पाप का है, जीव के साथ जो अनादि काल से भवभ्रमण के कारणभूत कर्म-मल का सम्बन्ध हो रहा है उसका विनाश किस प्रकार से हो, इसके विषय में जो विचार किया जाता है उसका नाम कलुषापाय है । वह उस धर्म का दूसरा भेद है । इसमें प्रकारान्तर से यह भी विचार किया जाता है कि मिथ्यात्व के वशीभूत होकर राग-द्वेष से अभिभूत हुए प्राणी जो अपाय को प्राप्त हो रहे हैं—जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं—उनका उससे किस प्रकार उद्धार होगा । कर्म ज्ञानावरणादि के भेद से आठ

प्रकार का है। उसकी उत्तर प्रकृतियां अनेक हैं। जीव के साथ सम्बन्ध होने पर जो उनका कालक्रम-प्रमित के रूप में अनेक प्रकार का विपाक होता है उन सबका विचार करना, यह उस धर्म का तीसरा भेद है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक में विभक्त लोक के आकार आदि के साथ उसमें स्थित नारक, मनुष्य-तिर्यंच एवं देवों आदि के दुख-सुख का विचार उस धर्म के चौथे भेद में किया जाता है। इस प्रकार चार भेदों में विभक्त उस धर्म से युक्त जो चिन्तन होता है उसे धर्म्यध्यान कहा जाता है। ध्येयस्वरूप उस धर्म के भेद से वह धर्म्यध्यान भी चार प्रकार का है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक-विचय और संस्थानविचय।

प्रकारान्तर से वह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से दस प्रकार का भी है। इन सबका विचार भी धर्म्यध्यान में किया जाता है।

जीवादि पदार्थों में जिसका जो स्वरूप या स्वभाव है उसे भी धर्म कहा जाता है। यह धर्म का व्यापक स्वरूप है। इस धर्म का भी धर्म्यध्यानी अनेक प्रकार से चिन्तन किया करता है ॥१२-१३॥

आगे अन्य प्रकार से भी उस धर्म और उससे अनपेत धर्म्यध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए वह किनके होता है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः। यश्चात्मनो भवेद् भावो धर्मः शर्मकरो हि सः॥
अनपेतं ततो धर्माद् धर्मध्यानमनेकधा। शमकक्षपकयोः प्राक् श्रेणिभ्यामप्रमत्तके॥१५॥
मुख्यं धर्म्यं प्रमत्तादित्रये गौणं हि तत्प्रभो। धर्म्यमेवातिशुद्धं स्याच्छुक्लं श्रेण्योश्चतुर्विधम्॥

जीव का मोह के क्षोभ से रहित जो भाव (परिणति) होता है उसका नाम धर्म है और वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रस्वरूप होकर सुख का—मोक्षसुख का—कारण है। उस धर्म से अनपेत धर्म्यध्यान भी अनेक प्रकार का है। हे प्रभो! वह धर्म्यध्यान मुख्यरूप से उपशामक और क्षपक की श्रेणियों से—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि से—पहिले अप्रमत्तसंयत (सातवें) गुणस्थान में होता है तथा गौणरूप से वह प्रमत्तादि तीन—प्रमत्तसंयत, संयतासयत और असंयतसम्यग्दृष्टि (६, ५, ४)—गुणस्थानों में होता है। अतिशय विशुद्धि को प्राप्त हुआ वह धर्म्यध्यान ही शुक्लध्यान होता है। वह चार प्रकार का है, जो दोनों श्रेणियों में—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानों में तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह गुणस्थानो मे—होता है ॥१४-१६॥

आगे तीन श्लोको में शुक्लध्यान के उक्त चार भेदों में प्रथम दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके स्वरूप व स्वामियों को दिखलाते हैं—

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्। आद्यं शुक्लं द्वितीयं तु विपरीतं वितर्कभाक्॥१७
श्रुतज्ञानं वितर्कः स्याद्योगशब्दार्थसंक्रमः। वीचारोऽथ विभिन्नार्थभासः पृथक्त्वमीडितम्॥
श्रुतमूले विवर्तेते ध्येयार्थे पूर्ववेदिनोः। उक्ते शुक्ले यथासंख्यं त्र्येकयोगयुजोर्विभो॥१९॥

प्रथम शुक्लध्यान वितर्क, वीचार और पृथक्त्व से सहित तथा दूसरा शुक्लध्यान इससे विपरीत—वीचार और पृथक्त्व से रहित—होता हुआ वितर्क से सहित है। वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान है। योग, शब्द और अर्थ के संक्रम (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं। विभिन्न अर्थ का जो प्रतिभास होता है उसे पृथक्त्व कहा गया है। हे प्रभो! उक्त दोनों शुक्लध्यान अपने ध्येय अर्थ के विषय में श्रुत के आश्रित होकर यथाक्रम से तीन योगवाले व एक ही योगवाले पूर्ववित्—अङ्ग-पूर्वश्रुत के ज्ञाता (श्रुतकेवली)—के होते हैं॥

विवेचन—शुक्लध्यान के चार भेदों में प्रथम शुक्लध्यान का नाम पृथक्त्ववितर्क सविचार है। पृथक्त्व का अर्थ भेद है। प्रथम शुक्लध्यानी द्रव्य-पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रूप अवस्थाओं का भेदपूर्वक चिन्तन किया करता है। अर्थ, व्यंजन और योग के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। उक्त प्रथम शुक्लध्यानी द्रव्य-पर्यायस्वरूप अर्थ में कभी द्रव्य का और कभी द्रव्य को छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है। व्यंजन का अर्थ शब्द है, वह जो कभी एक श्रुतवाक्य का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़कर अन्य श्रुतवाक्य का चिन्तन करता है, इसका नाम व्यंजनसंक्रम है। वह तीन योगों में किसी एक का और फिर उसको छोड़कर अन्य योग का चिन्तन करता है, यह योगसंक्रम है। वह प्रथम शुक्लध्यान इस प्रकार के अर्थसंक्रमादि से सहित होता है, इसीलिए उसे सविचार कहा गया है। वह तीनों योग युक्त श्रुतकेवली के होता है।

द्वितीय शुक्लध्यान का नाम एकत्ववितर्क अविचार है। इस शुक्लध्यान में प्रथम शुक्लध्यान के समान न तो द्रव्य-पर्याय आदि का भेदपूर्वक चिन्तन होता है और न उसमें उपर्युक्त तीन प्रकार का संक्रम भी रहता है, इसीलिए उसे एकत्व (पृथक्त्व से रहित) वितर्क अविचार शुक्लध्यान कहा गया है। वह तीन योगों में से किसी एक ही योग वाले श्रुतकेवली के होता है। उक्त दोनों शुक्लध्यानों में श्रुतज्ञान के आश्रय से नय-प्रमाण के अनुसार चिन्तन होता है, इसीलिए दोनों को सवितर्क कहा गया है॥१७-१६॥

आगे तीसरे शुक्लध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

सूक्ष्मकायक्रियस्य स्याद्योगिनः सर्ववेदिनः। शुक्लं सूक्ष्मक्रियं देव ख्यातमप्रतिपाति तत्॥

सूक्ष्म काय की क्रिया से युक्त सर्वज्ञ सयोगकेवली के तीसरा शुक्लध्यान होता है। वह हे देव! सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति नाम से प्रसिद्ध है॥

विवेचन—तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली के होता है। सयोगकेवली का काल अन्तर्मुहूर्त व आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। मुक्ति की प्राप्ति में जब थोड़ा सा काल शेष रह जाता है तब उक्त केवली योगों का निरोध करते हैं। इस प्रकार योगनिरोध करते हुए जब उनके काय की क्रिया उच्छ्वास-निःश्वास मात्र के रूप में सूक्ष्म रह जाती है तब उनके उक्त ध्यान होता है, इसीलिए उसे सूक्ष्मक्रिय कहा गया है तथा प्रतिपतनशील न होने के कारण उसके लिए अप्रतिपाति यह दूसरा विशेषण भी दिया गया है॥२०॥

अब चौथे शुक्लध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

स्थिरसर्वात्मदेशस्य समुच्छिन्नक्रियं भवेत्। तुर्यं शुक्लमयोगस्य सर्वज्ञस्यानिवर्तकम्॥२१

जब पूर्वोक्त सर्वज्ञ केवली के समस्त आत्मप्रदेश स्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं तब योग से रहित हो जाने पर उनके समुच्छिन्नक्रिय अनिवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान होता है॥

विवेचन—यह अन्तिम शुक्लध्यान अयोगकेवली के शैलेश्य अवस्था में होता है। शैलेश्य का अर्थ है समस्त शीलों का स्वामित्व। योग का अभाव हो जाने पर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त अयोगकेवली समस्त शील-गुणों के स्वामी हो जाते हैं (शील के भेद-प्रभेदों के लिए देखिए मूलाचार का शील-गुणाधिकार)। उस समय उनके उक्त ध्यान होता है। यहां सूक्ष्म काय की क्रिया के भी नष्ट हो जाने से इस ध्यान को समुच्छिन्नक्रिय और निवृत्ति से रहित हो जाने के कारण अनिवर्ति कहा गया है। इस प्रकार इस ध्यान को ध्याते हुए अयोगकेवली अ इ उ ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारणकाल में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं॥२१॥

यहां आशंका—

नानार्थालम्बना चिन्ता नष्टमोहे न विद्यते। तन्निरोधेऽपि यद् ध्यानं सर्वज्ञे तत् कथं प्रभो॥

जिसका समस्त मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है उसके अनेक पदार्थों का आश्रय लेने वाली चिन्ता नहीं होती है। ऐसी अवस्था में उस चिन्ता का निरोध हो जाने पर जो ध्यान होता है वह हे प्रभो! सर्वज्ञ के—सयोग व अयोग केवली के—कैसे हो सकती है ? ॥२२॥

इसका समाधान—

योगरोधो जिनेन्द्राणां देशतः कार्त्स्न्यतोऽपि वा। भूतपूर्वगतेर्वा तद् ध्यानं स्यादौपचारिकम् ॥

जिनेन्द्रों के एक देशरूप से अथवा सर्वदेशरूप से भी जो योगों का निरोध होता है वही उनका ध्यान है। अथवा भूतपूर्वगति—भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा—उपचार से उनके ध्यान जानना चाहिए॥

विवेचन—चिन्ता का जो निरोध होता है वह ध्यान है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। सयोग-केवली और अयोगकेवली के मन के न रहने से यद्यपि वह चिन्तानिरोधस्वरूप ध्यान सम्भव नहीं है, फिर भी उनके क्रम से अल्प व पूर्ण रूप में जो योगों का निरोध होता है उसे ही उनके उपचार से ध्यान माना गया है। अथवा जिस प्रकार दण्ड के द्वारा कुम्हार के चाक के एक बार घुमा देने पर कुछ समय तक वह दण्ड के प्रयोग के बिना भी घूमता रहता है उसी प्रकार पूर्व में मन का सद्भाव रहने पर जो चिन्ता रही है उसका उस मन के अभाव में भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा उपचार से सद्भाव समझना चाहिए। इस प्रकार चिन्ता के अभाव में भी उक्त दोनों केवलियों के उपचार से ध्यान माना गया है ॥२३॥

आगे उस ध्यान के अन्य चार भेदों का भी निर्देश किया जाता है—

उक्तमेव पुनर्देव सर्वं ध्यानं चतुर्विधम्। पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२४

हे देव! पूर्व में निर्दिष्ट वही सब ध्यान चार प्रकार का है—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूप-वर्जित (रूपातीत) ॥२४॥

अब उनमें से प्रथमतः पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप चार श्लोकों में कहा जाता है—

स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्तादित्यादितेजसम्। दूराकाशप्रदेशस्थं संपूर्णावयविग्रहम् ॥२५
सर्वातिशयसंपूर्णं प्रातिहार्यसमन्वितम्। परमात्मानमात्मानं भव्यानन्दविधायिनम् ॥२६
विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम्। अनन्तवीर्यसंयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ॥२७
दहन्तं सर्वकर्माणि शुद्धेद्धध्यानवह्निना। त्वामेव ध्यायतो देव पिण्डस्थध्यानमीरितम् ॥२८

हे देव! निर्मल स्फटिक मणि के समान होने से जिस आपके परमौदारिक शरीर का तेज सूर्य आदि के समान प्रगट हो रहा है, जो दूरवर्ती आकाश के प्रदेशों में निराधार स्थित है[1] समचतुरस्रसंस्थान से युक्त होने के कारण जिनका शरीर सम्पूर्ण सुन्दर है, जो समस्त (३४) अतिशयों से परिपूर्ण हैं, आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, जिनकी आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर चुकी है, जो भव्य जीवों को आनन्द के करने वाले हैं, विश्व के ज्ञाता व द्रष्टा हैं, शाश्वतिक अनन्त सुख से सहित हैं, ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापक हैं, अनन्त वीर्य से संयुक्त हैं, अभेदरूप से अपने शरीर में स्थित हैं, तथा जो निर्मल उद्दीप्त ध्यानरूप अग्नि के द्वारा समस्त कर्मों के जलाने वाले हैं; ऐसे आपका ही—सर्वज्ञ व वीतराग जिन देव का ही—जो ध्यान करता है उसके पिण्डस्थध्यान कहा गया है ॥२५–२८॥

आगे दूसरे पदस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

तव नामपदं देव मंत्रमेकाग्र्यमीयतः। जपतो ध्यानमाम्नातं पदस्थं त्वत्प्रसादतः ॥२९

हे देव! तुम्हारे प्रसाद से जो एकाग्रता को प्राप्त होकर आपके नामपद का—नाम के अक्षर-स्वरूप मंत्र का—जाप करता है उसके पदस्थध्यान कहा गया है। अभिप्राय यह है कि प्रकृत पदस्थध्यान

१. केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर जिन देव का शरीर पृथिवी से पाँच हजार धनुष ऊपर चला जाता है। ति. प. ४-७०५.

में पंचनमस्कार मंत्र के पदों का, अ सि आ उ सा आदि परमेष्ठिवाचक अक्षरों का तथा ॐ ह्रीं आदि बीजाक्षरों का ध्यान किया जाता है ॥२९॥

अब रूपस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

तव नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः । ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीरितम् ॥

हे ईश ! जो योगी तुम्हारे नामाक्षर का और भिन्न धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है उसके रूपस्थ ध्यान कहा जाता है ॥३०॥

आगे प्रकारान्तर से पुनः उसी रूपस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रातिहार्यविभूषितम् । देव स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यान[य]तोऽथवा ॥

अथवा हे देव ! जो शुद्ध, धवल, आत्मा से भिन्न और प्रातिहार्य आदि से विभूषित अरहन्त जैसे अपने शरीर का ध्यान करता है उसके रूपस्थध्यान होता है ॥३१॥

अब रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः ।
आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥३२॥

हे देव ! जो निर्मलबुद्धि जीव अपने ही आत्मा में स्थित, शरीर से भिन्न और शरीर से रहित होकर भी उस छोड़े हुए शरीर के प्रमाण में अवस्थित चेतनस्वरूप ऐसे आपका ध्यान करता है उसके रूपातीत ध्यान होता है । अभिप्राय यह है कि निर्मल स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिनरूप के समान समस्त कर्मों और शरीर से भी रहित हुए सिद्ध परमात्मास्वरूप अपने आत्मा का जो चिन्तन किया जाता है उसे रूपातीतध्यान कहा जाता है ॥३२॥

आगे चार श्लोकों में इसी रूपातीत ध्यान को स्पष्ट किया जाता है—

संख्यातीतप्रदेशस्थं ज्ञानदर्शनलक्षणम् । कर्तारं चानुभोक्तारममूर्तं च सदात्मकम् ॥३३
कथंचिन्नित्यमेकं च शुद्धं सक्रियमेव च । न रुष्यन्तं न तुष्यन्तमुदासीनस्वभावकम् ॥३४
कर्मलेपविनिर्मुक्तमूर्ध्वव्रज्यास्वभावकम् । स्वसंवेद्यं विभुं सिद्धं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥३५
परमात्मानमात्मानं ध्यायतो ध्यानमुत्तमम् । रूपातीतमिदं देव निश्चित मोक्षकारणम् ॥३६

जो विशुद्ध आत्मा असंख्यात प्रदेशों में स्थित है, ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, कर्ता व भोक्ता है, रूप-रसादिस्वरूप मूर्ति से रहित होकर अमूर्तिक है; उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यस्वरूप है; कथंचित् नित्य, एक व शुद्ध है; क्रिया से सहित है; जो न रुष्ट होता है और न सन्तुष्ट भी होता है, किन्तु उदासीन स्वभाव वाला है; कर्मरूप लेप से रहित है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, जो स्वकीय संवेदन का विषय होकर व्यापक व सिद्ध है, तथा जो समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित है; ऐसे परमात्मस्वरूप आत्मा का जो ध्यान करता है उसके यह उत्कृष्ट रूपातीत ध्यान होता है । हे देव ! यह ध्यान निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥३३–३६॥

आगे यह दिखलाते हैं कि बहिरात्मा जीव उस शुद्ध परमात्मा को नहीं देख सकता है—

देहेन्द्रियमनोवाक्षु ममाहंकारबुद्धिमान् । बहिरात्मा न सपश्येद् देव त्वां स बहिर्मुखः ॥३७

शरीर, इन्द्रिय, मन और वचन इनके विषय में ममकार और अहंकार बुद्धि रखने वाला वह बहिरात्मा जीव बहिर्मुख होने से—पर को अपना समझने के कारण—हे देव ! आपको नहीं देख सकता है ॥

विवेचन—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के हैं । उनमें जिसे तत्त्व-अतत्त्व की पहिचान नहीं होती वह बहिरात्मा कहलाता है । वह अदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुत्सित धर्म को धर्म मानता है तथा जड़ शरीर व इन्द्रिय आदि जो चेतन आत्मा से भिन्न हैं उन्हें भी

वह अपना मानता है। 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं' इस प्रकार की ममकार और अहंकार बुद्धि से ग्रसित होने के कारण वह धर्म से पराङ्मुख रहता है। इसीलिए यहां यह कहा गया है कि बहिरात्मा जीव अज्ञान के वशीभूत होने से अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है ॥३७॥

आगे दो श्लोकों में अन्तरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा जा रहा है कि वह आत्म-स्वरूप के देखने में समर्थ होता है—

पदार्थान् नव यो वेत्ति सप्त तत्त्वानि तत्त्वतः ।
षड्द्रव्याणि च पञ्चास्तिकायान् देहात्मनोर्भिदाम् ॥३८॥
प्रमाणनयनिक्षेपैः सद्दृष्टिज्ञानवृत्तिमान् । सोऽन्तरात्मा सदा देव स्यात्त्वां द्रष्टुमलं क्षमः ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से संयुक्त जो जीव प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, पांच अस्तिकायों और शरीर व आत्मा के भेद को यथार्थरूप में जानता है उसे अन्तरात्मा कहा जाता है और वह हे देव! सदा ही आपके देखने में समर्थ रहता है। इसे सम्यग्दर्शन का माहात्म्य समझना चाहिए ॥३८-३९॥

अब उपर्युक्त नौ पदार्थों के नामों का निर्देश किया जाता है—

जीवाजीवौ च पुण्यं च पापमास्रवसंवरौ । निर्जरा बन्धमोक्षौ च पदार्था नव संमताः ॥४०

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ माने गये हैं ॥४०॥

आगे उक्त नौ पदार्थों का निरूपण करते हुए प्रथमतः जीव का स्वरूप कहा जाता है—

चेतना लक्षणस्तत्र जीवो देव मते तव । चेतनानुगता सा च ज्ञानदर्शनयोस्तथा ॥४१॥

देव! आपके मत में जीव का लक्षण चेतना माना गया है। वह चेतना ज्ञान और दर्शन से अनुगत है। अभिप्राय यह है कि जीव का लक्षण जानना और देखना है। जानने और देखने रूप वह चेतना ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार की है ॥४१॥

इसे आगे और भी स्पष्ट किया जाता है—

जीवारब्धक्रियायां च सुखे दुःखे च तत्फले । यथासम्भवमीशेय वर्तते चेतना तथा ॥४२॥

हे ईश! यह चेतना यथासम्भव जीव के द्वारा प्रारम्भ की गई क्रिया और उसके फलस्वरूप सुख व दुःख में रहती है। अभिप्राय यह है कि जीव के द्वारा जो भी कार्य प्रारम्भ किया जाता है वह या तो सुख का कारण होता है या दुख का कारण होता है। किस प्रकार के कार्य से सुख होता है और किस प्रकार के कार्य से दुख होता है, यह विचार करना चेतना का कार्य है ॥४२॥

अब ज्ञान के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

प्रतिभासो हि यो देव विकल्पेन तु वस्तुनः । ज्ञानं तदष्टधा प्रोक्तं सत्यासत्यार्थभेदभाक् ॥

हे देव! यह घट है अथवा पट है, इस प्रकार के विकल्प के साथ जो वस्तु का प्रतिभास (बोध) होता है उसे ज्ञान कहते हैं। सत्य और असत्य अर्थ को विषय करने के कारण वह ज्ञान सामान्य से दो प्रकार का है—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। वही ज्ञान विशेषरूप से आठ प्रकार का है ॥४३॥

आगे दो श्लोकों में उन आठ भेदों का निर्देश किया जाता है—

मतियुक्तं श्रुतं सत्यं समनःपर्ययोऽवधिः । केवलं चेति सत्यार्थं सद्दृष्टेर्ज्ञानपञ्चकम् ॥४४
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा । ज्ञानत्रयमिदं देव मिथ्यादृष्टिसमाश्रयम् ॥४५

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद सत्य अर्थ के विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान के हैं। यह पांच प्रकार का सम्यग्ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव के होता है। कुमति, कुश्रुत और विभंग अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि के आश्रय से रहने वाले मिथ्याज्ञान हैं। उक्त पांच सम्यग्-

ज्ञानों में इन तीन मिथ्याज्ञानों के मिला देने पर ज्ञान के सामान्य से आठ भेद हो जाते हैं ॥४४-४५॥

अब दो श्लोकों में दर्शन के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

वस्तुसत्तावलोको यः सामान्येनोपजायते । दर्शनं तन्मतं देव बहिरन्यच्चतुर्विधम् ॥४६
चक्षुरालम्बनं तच्च शेषाक्षालम्बनं तथा । अवध्यालम्बनं पुंसो जायते केवलाश्रयम् ॥४७

हे देव ! सामान्य से जो वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन होता है उसे दर्शन माना गया है। वह चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जो दर्शन—सत्ता मात्र का अवलोकन—जीव के चक्षु इन्द्रिय के आश्रय से होता है उसे चक्षुदर्शन, चक्षु को छोड़ शेष इन्द्रियों के आश्रय से होने वाले दर्शन को अचक्षुदर्शन, अवधिज्ञान के आलम्बन से होने वाले दर्शन को अवधिदर्शन और केवलज्ञान के आश्रय से होने वाले दर्शन को केवलदर्शन कहा जाता है ॥४६-४७॥

आगे यह दर्शन ज्ञान से पूर्व होता है या उसके साथ होता है, इसको स्पष्ट किया जाता है—

दर्शनं ज्ञानतः पूर्वं छद्मस्थे तत्प्रजायते । सर्वज्ञे यौगपद्येन केवलज्ञानदर्शने ॥४८

वह दर्शन छद्मस्थ के—केवली से भिन्न अल्पज्ञ के—ज्ञान से पूर्व होता है। किन्तु सर्वज्ञ के केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ होते हैं ॥४८॥

आगे क्रमप्राप्त दूसरे अजीव पदार्थ का स्वरूप कहा जाता है—

जीवलक्ष्मविपर्यस्तलक्ष्मा देव तवागमे । अजीवोऽपि श्रुतो नूनं मूर्तामूर्तत्वभेदभाक् ॥४९

हे देव ! जो जीव के लक्षण से भिन्न लक्षण वाला है—ज्ञान-दर्शन चेतना से रहित है—उसे आपके आगम में अजीव सुना गया है, अर्थात् उसे आगम में अजीव कहा गया है। वह मूर्त और अमूर्त के भेद से दो प्रकार का है ॥

विवेचन—जो ज्ञान व दर्शन रूप उपयोग से रहित है उसे अजीव कहते हैं। वह पांच प्रकार का है—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें एक मात्र पुद्गल मूर्त—रूप, रस गन्ध व स्पर्श से सहित—और शेष धर्म आदि चार अमूर्त—उक्त रूप-रसादि से रहित हैं ॥४९॥

अब पुण्य के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

शुभो यः परिणामः स्याद् भावपुण्यं सुखप्रदम् । भावायत्तं च यत्कर्म द्रव्यपुण्यमवादि तत् ॥

जीव का जो शुभ परिणाम होता है उसे भावपुण्य कहा जाता है, वह सुख का देने वाला है। जो कर्म भाव के अधीन है—राग-द्वेषादिरूप शुभ परिणामों के आश्रय से बन्ध को प्राप्त होता है—उसे द्रव्यपुण्य कहा गया है जो पुद्गलस्वरूप है ॥५०॥

आगे पाप के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

पुण्याद् विलक्षणं पापं द्रव्यभावस्वभावकम् । ज्ञातं संक्षेपतो देव प्रसादाद् भवतो मया ॥५१

पुण्य से विपरीत स्वरूप वाला पाप है। वह भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। हे देव ! आपके प्रसाद से मैंने इस सबको संक्षेप में जान लिया है ॥

विवेचन—पुण्य जहां प्राणी को सुख देने वाला है वहां उससे विपरीत पाप उसे दुख देने वाला है। जिस प्रकार भाव और द्रव्य के भेद से पुण्य दो प्रकार का है उसी प्रकार पाप भी भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। जीव का जो अशुभ (कलुषित) परिणाम होता है उसे भावपाप कहते हैं तथा उसके आश्रय से जो जीव के साथ पौद्गलिक कर्म का बन्ध होता है उसे द्रव्यपाप कहते हैं ॥५१॥

आस्रव का स्वरूप—

कर्मागच्छति भावेन येन जन्तोः स आस्रवः । रागादिभेदवान् योगो द्रव्यकर्मागमोऽथवा ॥

जीव के जिस परिणाम के द्वारा कर्म आता है उसे आस्रव कहते हैं। अथवा द्रव्य कर्म के आगमन का कारण जो रागादिभेद युक्त योग है उसे आस्रव जानना चाहिए ॥

विवेचन—जिस प्रकार नाव में छेद के हो जाने पर उसके भीतर पानी आने लगता है उसी प्रकार जीव के जिन परिणामों के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है उन्हें आस्रव कहते हैं। वह आस्रव भी भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्व व अविरति आदिरूप जिन परिणामों के आश्रय से कर्मों का आगमन हुआ करता है उनका नाम भावास्रव है तथा उन परिणामों के द्वारा जो द्रव्य कर्मों का आगमन होता है उसका नाम द्रव्यास्रव है। यह आस्रव योगस्वरूप है ॥५२॥

संवर का स्वरूप—

आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्यभावाभिधात्मकः। तपोगुप्त्यादिभिः साध्यो नैकधा संवरो हि सः॥

आस्रव के निरोध का नाम संवर है। वह द्रव्य व भाव स्वरूप होने से दो प्रकार का है जो तप व गुप्तियों आदि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार से वह अनेक भेद वाला है॥

विवेचन—नवीन कर्मों के आगमन के रुक जाने का नाम संवर है। वह भी द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिन सम्यक्त्वादि परिणामों के द्वारा आते हुए कर्म रुक जाते हैं उन्हें भावसंवर कहा जाता है। उक्त परिणामों के आश्रय से आते हुए द्रव्य कर्मों का जो निरोध हो जाता है, इसे द्रव्य-संवर जानना चाहिए। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये उस संवर के साधन हैं। मन, वचन और काय योगों के निग्रह को गुप्ति कहते हैं। गमनागमनादिविषयक समीचीन (निरवद्य) प्रवृत्ति का नाम समिति है। वह ईर्या-भाषा आदि के भेद से पांच प्रकार की है। जो दुख से हटा कर सुख-स्थान (मोक्ष) को प्राप्त कराता है वह धर्म कहलाता है। इसका स्वरूप पहिले कहा जा चुका है (१२-१४)। बार-बार चिन्तन का नाम अनुप्रेक्षा है। वह अनित्य व अशरण आदि भेद से बारह प्रकार की है। क्षुधा एवं तृषा (प्यास) आदि की वेदना के उपस्थित होने पर उसे कर्मोदयजनित जानकर निरा-कुलतापूर्वक सहन करना व संयम से च्युत न होना, इसका नाम परीषहजय है। वह क्षुधा-तृषा आदि के भेद से बाईस प्रकार का है। निन्द्य आचरण को छोड़कर सदाचार में प्रवृत्त होना, इसे चारित्र कहते हैं। वह सामायिक आदि के भेद से पांच प्रकार का है। इन गुप्ति-समितियों आदि के अनेक प्रकार होने से वह संवर भी अनेक प्रकार का है ॥५३॥

निर्जरा का स्वरूप—

तपोयथास्वकालाभ्यां कर्म यद् भुक्तशक्तिकम्। नश्यत्तन्निर्जराभिख्यं चेतनाचेतनात्मकम्॥

तप और अपने परिपाककाल के आश्रय से जिसकी शक्ति को—अनुभाग को—भोगा जा चुका है ऐसा कर्म-पुद्गल जो विनाश को प्राप्त होता है उसका नाम निर्जरा है। वह चेतन व अचेतन स्वरूप है।।

विवेचन—आत्मा से सम्बद्ध कर्म-पुद्गल का उससे पृथक् होना, इसे निर्जरा कहते हैं। वह भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार की है। जिस प्रकार आम आदि फलों को पाल में देकर उनके स्वाभाविक पाककाल से पहिले ही पका लिया जाता है उसी प्रकार तपश्चरण के द्वारा जो कर्म को भी अपनी स्थिति के पूर्व में ही परिपाक को प्राप्त कराकर उदय में लाया जाता है उसे भावनिर्जरा कहते हैं। वे ही कर्म अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर फल को देकर जो निर्जीर्ण होते हैं, इसे द्रव्यनिर्जरा कहा जाता है ॥५४॥

बन्ध का स्वरूप—

जीवकर्मप्रदेशानां यः संश्लेषः परस्परम्। द्रव्यबन्धो भवेत् पुंसो भावबन्धः सदोषता ॥५५

जीव और कर्म के प्रदेशों का जो संश्लेष—परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूप संयोग—होता है उसे बन्ध कहते हैं। वह भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उक्त प्रकार से कर्मप्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होना, इसका नाम द्रव्यबन्ध है तथा जीव के जिस सदोष परिणाम के द्वारा वे कर्म-पुद्गल उससे सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे भावबन्ध कहा जाता है ॥५५॥

मोक्ष का स्वरूप—

बन्धहेतोरभावाच्च निर्जराभ्यां स्वकर्मणः । द्रव्यभावस्वभावस्य विनाशो मोक्ष इष्यते ॥५६

बन्ध के कारणभूत मिथ्यात्वादि (आस्रव) के अभावरूप संवर से तथा द्रव्य-भावरूप दोनों प्रकार की निर्जरा से जो द्रव्य व भाव रूप अपने कर्म का विनाश होता है उसका नाम मोक्ष है। अभिप्राय यह है कि समस्त कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक् हो जाना, इसे मोक्ष कहा जाता है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस परिणाम के द्वारा राग-द्वेषादिरूप भाव कर्म का विनाश होता है उसे भावमोक्ष कहते हैं तथा द्रव्य कर्मों के विनाश का नाम द्रव्यमोक्ष है ॥५६॥

इस प्रकार नौ पदार्थों का निरूपण करके आगे उनके अन्तर्गत सात तत्त्वों को कहा जाता है—

पदार्था एव तत्त्वानि सप्त स्युः पुण्यपापयोः । अन्तर्भावो यदाभीष्टो बन्ध आस्रव एव वा ॥

जब बन्ध अथवा आस्रव में ही पुण्य व पाप का अन्तर्भाव अभीष्ट हो तब पूर्वोक्त नौ पदार्थ ही सात तत्त्व ठहरते हैं ॥

विवेचन—पूर्व (३८) में नौ पदार्थों और सात तत्त्वों का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है। तदनुसार नौ पदार्थों का निरूपण कर देने पर वे सात तत्त्व कौन से हैं, यह आशंका हो सकती थी। उसके समाधान स्वरूप यहां यह कहा जा रहा है कि उन नौ पदार्थों से पृथक् सात तत्त्व नहीं है, किन्तु वे उन्हीं के अन्तर्गत हैं। यथा—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। इनमें से आस्रव और बन्ध में पूर्वोक्त नौ पदार्थों के अन्तर्गत पुण्य का और पाप का अन्तर्भाव कर देने पर वे नौ पदार्थ ही सात तत्त्व ठहरते हैं। कारण यह कि द्रव्य और भावरूप शुभाशुभ कर्म का नाम पुण्य और पाप है। वे उक्त दोनों प्रकार के आस्रव व बन्ध स्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं ॥५७॥

आगे छह द्रव्यों की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः उनके नामों का निर्देश किया जाता है—

जीवः सपुद्गलो धर्माधर्मावाकाशमेव च । कालश्चेति समाख्याता द्रव्यसंज्ञा त्वया प्रभो ॥

पूर्वनिर्दिष्ट वह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका निर्देश हे प्रभो ! आपने द्रव्य नाम से किया है—ये छह द्रव्य कहे गये हैं ॥५८॥

अब उनमें से पहिले जीव का स्वरूप कहा जाता है—

प्राणधारणसंयुक्तो जीवोऽसौ स्यादनेकधा । द्रव्यभावात्मकाः प्राणाः द्वेधा स्युस्ते विशेषतः ॥

जो प्राणों को धारण करता है उसे जीव कहते हैं। वह अनेक प्रकार का है। प्राण द्रव्य और भाव स्वरूप दो प्रकार के हैं, विशेषरूप से वे दस हैं—पांच इन्द्रियां, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ॥

विवेचन—जिनके आश्रय से प्राणी जीवित रहता है उन्हें प्राण कहा जाता है। वे सामान्य से चार हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें इन्द्रियां पांच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। मन, वचन और काय के भेद से बल तीन प्रकार का है। इस प्रकार विशेषरूप से वे दस हो जाते हैं—५ इन्द्रियां, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त द्वीन्द्रिय जीवों में रसना इन्द्रिय और वचन बल इन दो के अधिक होने से छह प्राण, तीन इन्द्रिय जीवों के एक घ्राण इन्द्रिय के अधिक होने से सात प्राण, चार इन्द्रिय जीवों के एक चक्षु इन्द्रिय के अधिक होने से आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के एक श्रोत्र इन्द्रिय के अधिक होने से नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के एक मन के अधिक होने से दस प्राण पाये जाते हैं। ये प्राण द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार भी हैं। इनमें द्रव्य-इन्द्रियों आदि को द्रव्यप्राण और भाव इन्द्रियों आदि को भावप्राण जानना चाहिए ॥५९॥

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप—

स्पर्शाष्टकेन संयुक्ता रसैर्वर्णैश्च पञ्चभिः । द्विगन्धाभ्यां यथायोगं द्वेधा स्कन्धाणुभेदतः ॥

जो यथासम्भव शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, लघु और गुरु इन आठ स्पर्शों से; श्वेत,

नील, पीत, हरित और रक्त इन पांच वर्णों से; खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला और तीखा इन पांच रसों से; तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों से; इस प्रकार इन बीस गुणों से सहित होते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं। वे स्कन्ध और अणु के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें जिसका दूसरा खण्ड नहीं हो सकता है ऐसे पुद्गल के सबसे छोटे अंश को अणु और दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग युक्त पुद्गलों को स्कन्ध कहा जाता है ॥६०॥

आगे उक्त पुद्गलों की और भी कुछ विशेषता प्रगट की जाती है—

स्थूला ये पुद्गलास्तत्र शब्दबन्धादिसंयुताः। जीवोपकारिणः केचिदन्येऽन्योऽन्योपकारिणः ॥

वे पुद्गल स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार भी हैं। इनमें जो स्थूल पुद्गल हैं उन में से कितने ही शब्द व बन्ध आदि (स्थूल, सूक्ष्म, संस्थान, भेद, तम, छाया और आतप) से सहित होते हुए जीवों का उपकार करने वाले हैं—उनके सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि के कारण हैं। कुछ दूसरे पुद्गल परस्पर में भी एक दूसरे का उपकार करने वाले हैं—जैसे राख बर्तनों का एवं सोडा-साबुन वस्त्रों का इत्यादि ॥६१॥

अब उपर्युक्त छह द्रव्यों में क्रिया युक्त द्रव्यों का निर्देश करते हुए धर्म व अधर्म द्रव्यों का स्वरूप कहा जाता है—

जीवाः पुद्गलकायाश्च सक्रिया वर्णिताः जिनैः। हेतुस्तेषां गतेर्धर्मस्तथाधर्मः स्थितेर्मतः ॥६२

उक्त द्रव्यों में जीवों और पुद्गलों को जिन देव ने क्रिया (परिस्पन्दादि) सहित कहा है। उन जीव और पुद्गलों के गमन का जो कारण है उसे धर्मद्रव्य और उनकी स्थिति का जो कारण है उसे अधर्म द्रव्य माना जाता है ॥६२॥

आगे आकाश द्रव्य के स्वरूप व उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

यद् द्रव्याणां तु सर्वेषां विवरं दातुमर्हति। तदाकाशं द्विधा ज्ञेयं लोकालोकविभेदतः ॥

जो अन्य द्रव्यों के लिए भी विवर (छिद्र—अवकाश) देने के योग्य है उसका नाम आकाश है। उसे लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार जानना चाहिए। जहां तक जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाश को लोकाकाश और शेष अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है ॥६३॥

अब काल द्रव्य का लक्षण कहा जाता है—

वर्तनालक्षणः कालो मुख्यो देव तवागमे। अर्थक्रियात्मको गौणो मुख्यकालस्य सूचकः ॥६४

हे देव! आपके आगम में जिसका लक्षण वर्तना है उसे मुख्य काल कहा गया है तथा अर्थक्रिया-स्वरूप जो काल है वह गौण काल है और वह मुख्य काल का सूचक है ॥

विवेचन—जो वर्तते हुए पदार्थों के वर्तन में उदासीन कारण है वह काल कहलाता है। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चयकाल का लक्षण वर्तना—वस्तुपरिणमन का सहकारी कारण होना है। वह अणुस्वरूप है। लोकाकाश के जितने (असंख्यात) प्रदेश हैं उतने ही वे कालाणु हैं जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् स्थित हैं। उस मुख्य (निश्चय) काल की पर्यायस्वरूप जो समय व घटिका आदि रूप काल है उसे व्यवहार काल कहा जाता है ॥६४॥

इस प्रकार छह द्रव्यों का निरूपण करके अब उनमें अस्तिकाय द्रव्यों का निर्देश किया जाता है—

द्रव्यषट्कमिदं प्रोक्तं स्वास्तित्वादिगुणात्मकम्। कायाख्यं बहुदेशत्वाज्जीवादीनां तु पञ्चकम् ॥

ये छह द्रव्य अपने अस्तित्व-वस्तुत्वादि गुणों स्वरूप कहे गये हैं। उनमें काल को छोड़कर जीवादि पांच द्रव्य बहुत प्रदेशों से युक्त होने के कारण काय कहे जाते हैं ॥६५॥

आगे काल द्रव्य काय क्यों नहीं है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

कालस्यैक-प्रदेशत्वात् कायत्वं नास्ति तत्त्वतः । लोकासंख्यप्रदेशेषु तस्यैकैकस्य संस्थितिः ॥

काल के एकप्रदेशी होने के कारण वस्तुतः कायपना नहीं है। उसका एक-एक प्रदेश लोक के असंख्यात प्रदेशों पर स्थित है ॥

विवेचन—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप अस्तित्व (सत्) से संयुक्त होने के कारण छहों द्रव्यों को अस्ति कहा जाता है। जो काय (शरीर) के समान बहुत प्रदेशों से संयुक्त हैं वे काय कहलाते हैं। काल चूंकि एक प्रदेश वाला है, इसलिए उसे अस्ति तो कहा जाता है, पर काय नहीं कहा जाता। किन्तु शेष द्रव्य बहुतप्रदेशी हैं, इसलिए उन्हें अस्ति के साथ काय भी (अस्तिकाय) कहा जाता है। यहां यह शंका हो सकती है कि पुद्‌गल के अन्तर्गत परमाणु भी तो एकप्रदेशी हैं, फिर उन्हें काय कैसे कहा जाता है। इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि परमाणु यथार्थतः तो काय नहीं है, किन्तु वे स्कन्धों में मिलकर बहुतप्रदेशी होने की योग्यता रखते हैं, अतः उन्हें उपचार से अस्तिकाय समझना चाहिए। काल में चूंकि बहुतप्रदेशी होने की योग्यता नहीं है, इसलिए उसे उपचार से भी काय नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है जो श्लोक में 'तत्त्वतः' पद को ग्रहण किया गया है ॥६६॥

आगे उक्त बहुतप्रदेशी द्रव्यों में किसके कितने प्रदेश हैं, इसका निर्देश किया जाता है—

धर्माधर्मैकजीवानां संख्यातीतप्रदेशता । व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्‌गलानां त्रिधा तथा ॥६७

धर्म, अधर्म और प्रत्येक जीव ये असंख्यात प्रदेशों से युक्त हैं। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त हैं। पुद्‌गलों के प्रदेश तीन प्रकार हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। परमाणु और द्व्यणुक आदि उत्कृष्ट संख्यात तक प्रदेशो वाले स्कन्धों में संख्यात प्रदेश रहते हैं, संख्यात से आगे एक अधिक प्रदेश से लेकर अनन्त से पूर्व उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से युक्त प्रदेशों वाले स्कन्धों में असंख्यात प्रदेश रहते हैं, इसके आगे महास्कन्ध तक सब पुद्‌गलस्कन्धों में अनन्त प्रदेश रहते हैं। जितने आकाश को एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रप्रमाण का नाम प्रदेश है ॥६७॥

पीछे श्लोक ३९ में पदार्थपरिज्ञान के साधनभूत प्रमाण का निर्देश किया गया है, उसके स्वरूप व भेदों को यहां दिखलाते हैं—

प्रमाणं वस्तुविज्ञानं तन्मोहादिविवर्जितम् । परोक्षेतरभेदाभ्यां द्वेधा मत्यादिपञ्चकम् ॥६८

मोह आदि—संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय—से रहित वस्तु के विशिष्ट (यथार्थ) ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। उनमें मति व श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार इन पांच ज्ञानों को प्रमाण माना गया है ॥

विवेचन—अविशद या अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। वह दो प्रकार का है—मति और श्रुत। जो ज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। इस मतिज्ञान के निमित्त से जो विवेचनात्मक ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है, जो बारह अंगस्वरूप है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए जो इन्द्रिय की सहायता से रहित ज्ञान होता है उसका नाम अवधिज्ञान है। इन्द्रिय व मन की सहायता से रहित जो दूसरे के मन में स्थित चिन्तित व अचिन्तित पदार्थ को जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जो त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों व उनकी पर्यायों को युगपत् जानता है उस अतीन्द्रिय ज्ञान का नाम केवलज्ञान है। वह इन्द्रिय आदि किसी अन्य की सहायता नहीं लेता है, इसीलिए उसकी 'केवल' यह सार्थक संज्ञा है। इसी कारण उसे असहाय ज्ञान भी कहा जाता है ॥६८॥

आगे चार श्लोकों में नय के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

नयो ज्ञातुरभिप्रायो द्रव्यपर्यायगोचरः । निश्चयो व्यवहारश्च द्वेधा सोऽर्हत्तदागमे ॥६९

द्रव्यं वा योऽत्र पर्यायं निश्चिनोति यथास्थितम्।
नयश्च निश्चयः प्रोक्तस्ततोऽन्यो व्यावहारिकः ॥७०॥
अभिन्नकर्तृकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा। व्यवहारः पुनर्देव निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥७१॥
द्रव्यार्थपर्ययार्थाभ्यां पुनर्देव नयो मतः। सर्वे श्रुतविकल्पास्ते ग्राह्यभेदादनेकधा ॥७२॥

द्रव्य अथवा पर्याय को विषय करने वाला जो ज्ञाता का अभिप्राय होता है उसे नय कहते हैं। वह हे अर्हन् ! आपके आगम में दो प्रकार कहा गया है—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो यथावस्थित द्रव्य अथवा पर्याय का निश्चय करता है उसे निश्चय नय कहा गया है। उससे भिन्न व्यावहारिक—लोक-व्यवहार में काम आने वाला—व्यवहार नय है। अथवा हे देव ! जो कर्ता व कर्म आदि कारकों में भेद न करके वस्तु को विषय करता है उसे निश्चयनय कहा गया है। व्यवहार नय उससे भिन्न है। तथा हे देव ! द्रव्यार्थ और पर्यायार्थ से—द्रव्य को विषय करने और पर्याय को विषय करने के कारण—भी नय दो प्रकार का माना गया है। श्रुत के भेदभूत वे सब नय ग्राह्यभेद से—अपने द्वारा ग्रहण करने योग्य विषय के भेद से—अनेक भेदरूप हैं ॥

विवेचन—वस्तु अनेकधर्मात्मक है। उनमें से ज्ञाता को जब जिस धर्म की अपेक्षा रहती है तब वह उसके लिए मुख्य और शेष धर्म गौण हो जाते हैं। यथा—सुवर्णमय कड़ों को तोड़ कर जब उससे मुकुट बनाया जाता है तब अपेक्षाकृत उसमें नित्यता व अनित्यता दोनों धर्म विद्यमान रहते हैं। कड़ों को तोड़ कर मुकुट के बनाये जाने पर भी दोनों में सुवर्णरूपता तदवस्थ रही, उसका विनाश नहीं हुआ, यही द्रव्यस्वरूप से मुकुट की नित्यता है। पर कड़ों रूप अवस्था से वह मुकुटरूप अवस्था को प्राप्त हुआ है, अतः उसमें पर्याय की अपेक्षा अनित्यता भी है। इसी प्रकार एक-अनेक, शुद्ध-अशुद्ध और भिन्न-अभिन्न आदि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले धर्मों का भी एक ही वस्तु में अपेक्षाकृत अस्तित्व समझना चाहिए। इस प्रकार का जो विवक्षावश ज्ञाता का अभिप्राय रहता है, इसी का नाम नय है। वह नय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। जो नय यथावस्थित द्रव्य अथवा पर्याय का निश्चय करता है उसे निश्चय नय कहा जाता है। इस प्रकार के लक्षण से ग्रन्थकार को सम्भवतः नैगम-संग्रह आदि सातों नय निश्चय के रूप में अभीष्ट रहे हैं। इसके विपरीत जो यथावस्थितरूप में द्रव्य या पर्याय को ग्रहण न करके अन्यथारूप में उसे ग्रहण करता है उसका नाम व्यवहार नय है। जैसे—सूत को देते हुए यह कहना कि वस्त्र बुनकर लाओ। इस प्रकार के कथन में यथावस्थित वस्तु का ग्रहण नहीं रहा। कारण यह कि सूत के पृथक्-पृथक् अंशों के बुनने पर वस्त्र निर्मित होता है, वस्त्र नहीं बुना जाता। इस प्रकार यथार्थता के न रहने पर भी चूंकि सूत देने वाले का अभिप्राय सूत को बुनकर वस्त्र बनाने का ही अभिप्राय रहता है, अतएव यह व्यवहार नय कहलाता है। इसी प्रकार आटा पिसाना है, भात बनाओ, तेल की शीशी लाओ; इत्यादि व्यवहार नय के अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

आगे ग्रन्थकार ने 'अथवा' कहकर आध्यात्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए प्रकारान्तर से भी उक्त निश्चय और व्यहार नयों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—जो कर्ता और कर्म आदि का भेद न करके शुद्ध द्रव्य मात्र को ग्रहण करता है वह निश्चय नय कहलाता है। जिस प्रकार मिट्टी स्वयं घट रूप परिणत होती है, अतः निश्चय नय की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि कुम्हार ने देवदत्त के लिए मिट्टी से घट को बनाया है। इस नय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, वह कर्म का कर्ता व भोक्ता आदि नहीं है। इसके विपरीत व्यवहार नय कर्ता व कर्म आदि के भेद को स्वीकार करता है। जैसे—जीव को राग-द्वेषादि का कर्ता मानना।

प्रकारान्तर से नय के दो भेद अन्य भी हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जिसका अर्थ (प्रयोजन या विषय) द्रव्य ही है, अर्थात् जो मुख्यता से द्रव्य को ही ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं—जैसे आत्मा सर्वथा शुद्ध व कर्म-मल से रहित है। जो पर्याय की प्रमुखता से वस्तु को ग्रहण

करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है—जैसे संसारी आत्मा कर्म-मल से लिप्त रहने के कारण अशुद्ध है, इत्यादि।

जिस प्रकार सर्वदेशग्राही प्रमाण श्रुत के विकल्परूप है उसी प्रकार एक देश के विषय करने वाले उपर्युक्त सब नयों को भी श्रुत के विकल्पभूत समझना चाहिए। कारण यह कि विचारात्मक एक श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई भी ज्ञान विचारात्मक नहीं है ॥६९-७२॥

आगे क्रमप्राप्त निक्षेप का स्वरूप कहा जाता है—

जीवादीनां च तत्त्वानां ज्ञानादीनां च तत्त्वतः। लोकसंव्यवहारार्थं न्यासो निक्षेप उच्यते ॥

लोकव्यवहार के लिए जो यथार्थतः जीव-अजीवादि तत्त्वों और ज्ञान आदि का न्यास किया जाता है—प्रयोजन के वश नाम आदि रखे जाते हैं, इसे निक्षेप कहा जाता है ॥७३॥

अब उस निक्षेप के भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

स च नामादिभिर्भेदैश्चतुर्भेदोऽभिधीयते। वाच्यस्य वाचकं नाम निमित्तान्तरवर्जितम् ॥७४

वह निक्षेप नाम आदि (स्थापना, द्रव्य और भाव) के भेद से चार प्रकार का कहा जाता है। उनमें गुण, क्रिया व जाति आदि अन्य निमित्तों की अपेक्षा न करके अभिधेय पदार्थ का वाचक (सूचक) जो नाम रखा जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे—देव के द्वारा दिये जाने की अपेक्षा न करके किसी का 'देवदत्त' यह नाम रखना ॥७४॥

आगे क्रमप्राप्त स्थापना और द्रव्य निक्षेपों का स्वरूप कहा जाता है—

प्रतिमा स्थापना ज्ञेया भूत भावि च केनचित्। पर्यायेण समाख्यात द्रव्यं नयविवक्षया ॥७५

प्रतिमा को स्थापनानिक्षेप जानना चाहिए। जो किसी विवक्षित पर्याय से हो चुका है या आगे होने वाला है उसे नयविवक्षा के अनुसार द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है।

विवेचन—स्थापना दो प्रकार की है—तदाकार (सद्भाव) स्थापना और अतदाकार (असद्भाव) स्थापना। जिनके आकार वाली प्रतिमा में जो जिन देव की स्थापना (कल्पना) की जाती है वह तदाकार स्थापना कहलाती है। जो स्थाप्यमान वस्तु के आकार में तो नहीं है, फिर भी प्रयोजन के वश उसमें वैसी कल्पना करना, इसे अतदाकार स्थापना कहते हैं। जैसे—हाथी-ऊंट आदि के आकार न होते हुए भी सतरंज की गोटों में उनकी कल्पना करना। जो मंत्री पद से मुक्त हो चुका है उसे तत्पश्चात् भी मंत्री कहना, तथा आगे वस्त्ररूप में परिणत होने वाले तन्तुओं को वस्त्र कहना, इत्यादि को द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है ॥७५॥

अब निक्षेप के चौथे भेदभूत भावनिक्षेप का स्वरूप कहा जाता है—

पर्यायेण समाक्रान्तं वर्तमानेन केनचित्। द्रव्यमेव भवेद् भावो विख्यातो जिनशासने ॥७६

किसी (विवक्षित) वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को ही जिनागम में भावनिक्षेप कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य वर्तमान पर्याय में है उसे उसी पर्याय की मुख्यता से कहना, इसका नाम भावनिक्षेप है। जैसे—मंत्री जिस समय मंत्रणा का कार्य कर रहा है उसे उसी समय मंत्री कहना, अन्य समय में नहीं ॥७६॥

आगे मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा जाता है—

सम्यग्दर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः। मोक्षमार्गस्त्वया देव भव्यानामुपदर्शितः ॥७७

हे देव! आपने भव्य जीवों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्ष का मार्ग दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि रत्नत्रयरूप से प्रसिद्ध उक्त सम्यग्दर्शनादि मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं ॥७७॥

सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

विपरीताभिमानेन शून्यं यद्रूपमात्मनः। तदेवोत्तमवर्याणां तच्छ्रद्धानं हि दर्शनम् ॥७८॥

विपरीत अभिमान—दुराग्रह या वैसे अभिप्राय—से रहित जो आत्मा का स्वरूप है वही पदार्थों में श्रेष्ठ है। उस आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥७८॥

आगे ३ श्लोकों में उस सम्यग्दर्शन के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

तन्निसर्गात् पदार्थेषु कस्याप्यधिगमात्तथा । जीवस्योत्पद्यते देव द्वेधैवं देशना तव ॥७९॥
निसर्गः स्वरूप स्यात् स्वकर्मोपशमादियुक् । तमेवापेक्ष्य यज्जातं दर्शनं तन्निसर्गजम् ॥८०
परेषामुपदेश तु यदपेक्ष्य प्रजायते । त्वयाधिगमजं देव तच्छ्रद्धानमुदाहृतम् ॥८१॥

वह सम्यग्दर्शन किसी जीव के निसर्ग से—परोपदेश के बिना स्वभावतः—तथा किसी के पदार्थ-विषयक अधिगम (ज्ञान) से उत्पन्न होता है। इस प्रकार से हे देव ! आप का दो प्रकार का उपदेश है। अपने कर्मों के—अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार एवं मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोहनीय इस प्रकार सात कर्मप्रकृतियो के—उपशम आदि से युक्त जो निज स्वरूप है उसका नाम निसर्ग है। उसी निसर्ग की अपेक्षा करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे निसर्गज कहा जाता है। जो तत्त्वश्रद्धान दूसरों के उपदेश की अपेक्षा करके उत्पन्न होता है उसे हे देव ! आपने अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा है ॥

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनो सम्यग्दर्शनो में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उपशम आदि के समान रूप से रहने पर भी जो तत्त्वश्रद्धान दूसरे के उपदेश के बिना पूर्व संस्कार से उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जो तत्त्वश्रद्धान दूसरे के उपदेश के आश्रय से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। यह इन दोनो सम्यग्दर्शनो मे भेद है ॥७९-८१॥

अब आगे तीन श्लोकों में प्रकारान्तर से उक्त सम्यग्दर्शन के अन्य दो और तीन भेदों का निर्देश करते हुए सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा जाता है—

अथ चैव द्विधा प्रोक्तं तत्कर्मक्षयकारणम् । सरागाधारमेकं स्याद्वीतरागाश्रयं परम् ॥८२॥
प्रशमादथ संवेगात् कृपातोऽप्यास्तिकत्वतः । जीवस्य व्यक्तिमायाति तत् सरागस्य दर्शनम् ॥
पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाश्रयं मतम् । द्वेधेत्युक्त्वा[क्त्वा] त्वया देव त्रेधाप्युक्तमदस्तथा ॥

कर्मक्षय का कारणभूत वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा गया है—एक सरागाश्रित और दूसरा वीतरागाश्रित। जो सम्यग्दर्शन प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणों के आश्रय से जीव के प्रगट होता है वह सराग जीव का दर्शन (सरागसम्यग्दर्शन) कहलाता है और जो जीव की विशुद्धि मात्र स्वरूप सम्यग्दर्शन है वह वीतरागाश्रित सम्यग्दर्शन माना गया है। इस तरह दो प्रकार का कहकर उसे तीन प्रकार का भी कहा गया है ॥

विवेचन—सम्यग्दर्शन के अन्य भी दो भेद हैं—सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन। राग युक्त जीव के तत्त्वश्रद्धान को सरागसम्यग्दर्शन और रागभाव से रहित जीव के तत्त्वश्रद्धान को वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनमे प्रथम सरागसम्यग्दर्शन के परिचायक ये चार चिह्न हैं—प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। इनमें क्रोधादि कषायों के उपशमन का नाम प्रशम है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के साथ जो धर्म में अनुराग होता है उसे संवेग कहते हैं। दीन-दुखी व सन्मार्ग से भ्रष्ट होते हुए जीवों के विषय में जो दयार्द्र परिणति होती है उसे अनुकम्पा कहा जाता है। सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा जैसा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप कहा गया है उसको उसी प्रकार मानकर दृढ़ श्रद्धा रखना, इसका नाम आस्तिक्य है। ये गुण उक्त सम्यग्दर्शन के अनुमापक हैं ॥८२-८४॥

अब आगे चार श्लोकों में उसके पूर्वनिर्दिष्ट तीन भेदों को कहा गया है—

मिथ्यात्वं चात्र सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च। क्रोधादीनां चतुष्कं च संसारानन्तकारणम् ॥
श्रद्धानप्रतिघात्येतत् ख्यातं प्रकृतिसप्तकम्। एतस्योपशमादौपशमिकं दर्शनं मतम् ॥८६॥
क्षयात्क्षायिकमाम्नातं त्वया देव सुनिर्मलम्। सम्यक्त्वोदीरणाच्छेषाणामुदयाभावतस्तथा ॥
तासामेव तु सत्त्वाच्च यज्जातं तद्धि वेदकम्। सम्यग्दर्शनमीदृक्षं निश्चितं मोक्षकांक्षिणाम् ॥

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय तथा अनन्त संसार के कारणभूत क्रोधादि चार (अनन्तानुबन्धिचतुष्टय) ये सात प्रकृतियां श्रद्धान की घातक प्रसिद्ध हैं—सम्यग्दर्शन का घात करने वाली हैं। इनके उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन माना गया है। हे देव! और उन्हीं के क्षय से जो अतिशय निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे आपने क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा से, शेष छह प्रकृतियों के उदयाभाव से तथा उन्हीं के सत्त्व से—सदवस्थारूप उपशम से—जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह वेदक सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यक्त्व प्रकृति के वेदन से—उदय में रहने से—उसका 'वेदक' यह सार्थक नाम है। तथा उपर्युक्त सात प्रकृतियों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण उसका 'क्षायोपशमिक' यह दूसरा नाम भी सार्थक है। इस प्रकार का वह सम्यग्दर्शन निश्चित ही मोक्षाभिलाषी जीवों के होता है॥

विवेचन—विपरीत अभिनिवेश से रहित दृष्टि का नाम सम्यग्दर्शन है। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का है। शरीर आदि से भिन्न निर्मल आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, यह निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जीवादि सात तत्त्वों का जो यथार्थ श्रद्धान होता है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। जो जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि रहा है उसके प्रथमतः औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। तत्पश्चात् उस सम्यग्दर्शन का धारक जीव मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ कोई जीव वेदक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, कोई आसन्न भव्य जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तथा कितने ही मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर जीव को हेय-उपादेय का विवेक हो जाता है। वह अधिक से अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन काल तक ही संसार में रहता है, तदनन्तर वह नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥८५-८८॥

इस प्रकार प्रस्तुत मोक्षमार्ग में प्रथमतः सम्यग्दर्शन का निरूपण करके अब क्रमप्राप्त सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है—

जीवादीनां पदार्थानां यो याथात्म्यविनिश्चयः। तदभ्यधायि विज्ञानं सम्यग्दृष्टिसमाश्रयम् ॥

जीवादि पदार्थों का जो यथार्थतः निश्चय होता है उसे विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान (सम्यग्ज्ञान)—कहा गया है। वह सम्यग्दृष्टि के आश्रय से होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता॥८९॥

अब अवसरप्राप्त चारित्र का स्वरूप दो श्लोकों द्वारा कहा जाता है—

ज्ञानिनं मुक्तसंगस्य संसारोपायहानये। प्रशस्तागूर्णभावस्य सम्यक्श्रद्धानधारिणः ॥९०॥
कर्मादाननिमित्तानां क्रियाणां यन्निरोधनम्। चारित्रं यन्मुमुक्षोः स्यान्निश्चितं मोक्षकारणम् ॥

समीचीन श्रद्धान का धारक—निर्मल सम्यग्दर्शन से सम्पन्न—जो सम्यग्ज्ञानी जीव संसार के उपायभूत मिथ्यादर्शनादि के नष्ट करने के लिए प्रशस्त भावों में उद्यत होकर ममत्व बुद्धि से रहित होता हुआ कर्मग्रहण की कारणभूत क्रियाओं का निरोध करता है उस मोक्षाभिलाषी जीव के सम्यक्चारित्र होता है। वह निश्चित ही मोक्ष का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि संसार की कारणभूत क्रियाओं को—अशुभ प्रवृत्ति को—छोड़कर सदाचार में प्रवृत्त होना, वह सम्यक्चारित्र कहलाता है॥९०-९१॥

आगे यह बतलाते हैं कि उक्त सम्यग्दर्शनादि तीन समस्तरूप में ही मुक्ति के कारण हैं, व्यस्तरूप में नहीं—

श्रद्धानादित्रयं सम्यक् समस्तं मोक्षकारणम् । भेषजालम्बनं यद्वत्तत्त्रयं व्याधिनाशनम् ॥९२॥

उक्त समीचीन श्रद्धानादि तीन (रत्नत्रय) समस्त होकर—तीनों एक रूप में होकर—ही मोक्ष के कारण हैं, न कि पृथक् रूप में एक, दो या तीन भी । जैसे—औषधि के आलम्बनभूत (औषधिविषयक) वे तीन—श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—रोग के विनाशक हुआ करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण (उसका सेवन) ये तीनों सम्मिलित रूप में ही रोग के विनाशक होते हैं, न कि पृथक् रूप में; उसी प्रकार जीवादि तत्त्वविषयक श्रद्धान, ज्ञान और आचरण (चारित्र) ये तीन भी सम्मिलित रूप में ही कर्मरूप रोग के विनाशक होते हैं, पृथक् रूप में नहीं ॥९२॥

अन्त में ग्रन्थकार ६ श्लोकों में प्रस्तुत ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए स्तुतिविषयक अपनी अशक्यता को प्रगट कर स्तुति करने के कारण आदि को दिखलाते हैं—

अन्तातीतगुणोऽसि त्वं मया स्तुत्योऽसि तत्कथम् । ध्यानभक्त्या तथाप्येवं देव त्वय्येव जल्पितम् ॥
यन्न तुष्यसि कस्यापि नापि कुप्यसि मुह्यसि । किंतु स्वास्थ्यमितोऽसीति स्तोतुं त्वाहं प्रवृत्तवान् ॥
इत्येवं युक्तियुक्तार्थैः प्रस्फुटार्थैर्मनोहरैः । स्तोकैरपि स्तवैर्देव वरदोऽसीति संस्तुतः ॥९५॥

रुष्ट्वा तुष्ट्वा करोषि त्वं किंचिद्देव न कस्यचित् ।
किन्त्वाप्नोति फलं मर्त्यस्त्वय्येकाग्रमनाः स्वयम् ॥९६॥

इति संक्षेपतः प्रोक्तं भक्त्या संस्तवधर्मणा । किंचिज्ज्ञेन मया किंचिन्न कवित्वाभिमानतः ॥
यन्मेऽत्र स्खलितं किंचिच्छद्मस्थस्यार्थशब्दयोः । तत्संविदर्थ्य सौजन्याच्छोध्यं शुद्धेद्धबुद्धिभिः ॥

हे देव ! आप अनन्त गुणों से युक्त हैं, ऐसी स्थिति में मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूं ? फिर भी मैंने आपके विषय में जो स्तुतिरूप से इस प्रकार कहा है वह ध्यानभक्ति से—ध्यानविषयक अनुराग के वश—ही कहा है । हे देव ! यतः आप किसी के प्रति न सन्तुष्ट होते हैं, न रुष्ट होते हैं, और न मोहित होते हैं, किन्तु स्वस्थता (आत्मस्थिति) को प्राप्त हैं; इसी से मैं आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं । हे देव ! इस प्रकार से मैंने युक्ति युक्त अर्थ से परिपूर्ण एवं स्पष्ट अर्थ वाले मनोहर थोड़े से ही स्तवनों के द्वारा 'आप वरद हैं—अभीष्ट सर्वश्रेष्ठ मुक्ति के दाता हैं' इस हेतु से स्तुति की है । हे देव ! आप क्रुद्ध अथवा सन्तुष्ट होकर किसी का कुछ भी अहित या हित नहीं करते हैं, फिर भी आपके विषय में एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य—तन्मय होकर आपका स्मरण करने वाला भव्य जीव—स्वयं ही अभीष्ट फल को प्राप्त करता है । अल्पज्ञानी मैंने इस प्रकार से स्तुति के रूप में जो कुछ संक्षेप में कहा है वह भक्ति के वश होकर ही कहा है, कवित्व के अभिमान से नहीं कहा, अर्थात् 'मैं कवि हूं' इस प्रकार के अभिमान को प्रगट करने के लिए मैंने यह ध्यान का वर्णन नहीं किया है, किन्तु भक्ति से प्रेरित होकर ही उसे किया है । मै अल्पज्ञ हूं, इसीलिए यदि अर्थ अथवा शब्द के विषय में इस वर्णन में कुछ स्खलित हुआ हूं तो निर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि वाले विद्वान् सुजनता वश उसे अपने समीचीन ज्ञान के द्वारा शुद्ध कर लें ॥९३-९८॥

अन्तिम प्रशस्ति—

नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं एहि याहीति जातु
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घाटयेद् द्वारं दत्ते ।
नावष्टभ्नाति किंचिद् गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यंकयोगः
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुः प्रपूज्यः ॥९९॥

जो न थूकता है, न सोता है, न कभी दूसरे को 'आओ व जाओ' कहता है, न शरीर को खुजलाता है, न रात्रि में गमन करता है, न द्वार को खोलता है, न उसे देता है—बन्द करता है, और न

किसी का आश्रय लेता है; ऐसा वह गुणों के भण्डारस्वरूप सर्वसाधु पर्यंक आसन से योग (समाधि) में स्थित होता हुआ अन्त में संन्यास को करके—कषाय व चतुर्विध आहार का परित्याग करके सल्लेखना-पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर—उत्तम गति से युक्त हुआ। इस प्रकार से वह सर्वसाधु—इस नाम से प्रसिद्ध को प्राप्त मुनि अथवा सर्वश्रेष्ठ साधु—अतिशय पूजनीय हुआ ॥९९॥

तस्याभवच्छ्रुतनिधिर्जिनचन्द्रनामा शिष्यो नु तस्य कृतिभास्करनन्दिनाम्ना।
शिष्येण संस्तवमिमं निजभावनार्थं ध्यानानुगं विरचितं सुविदो विदन्तु ॥१००॥

उस सर्वसाधु का जिनचन्द्र नामक शिष्य हुआ जो श्रुत का पारगामी था। उसके—जिनचन्द्र के—पुण्यशाली भास्करनन्दी नामक शिष्य ने ध्यान के अनुसरण करने वाले—ध्यान की प्ररूपणा युक्त—इस स्तोत्र को अपनी भावना के लिए—आत्मचिन्तन के लिए—रचा है, यह विद्वज्जन ज्ञात करें ॥१००॥

॥ समाप्त ॥

पाठभेद

जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १२, किरण २, पृ. ५४, १-९ (जनवरी १९४६) में प्रकाशित प्रस्तुत ध्यानस्तव मे और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित (सन् १९७३) ध्यानस्तव में जो कुछ महत्त्वपूर्ण पाठभेद रहे हैं उनका निर्देश यहां किया जाता है—

श्लोक	जैन-सिद्धान्त-भास्कर	भारतीय ज्ञानपीठ
१	दोषहृम्	दोषदम्
१९	त्र्यैक [त्र्येक]	त्रैक
४५	दृष्टिसमाश्रयम्	दृष्टिममाश्रयम्
४६	बहिरन्तश्चतु-	बहिरन्यच्चतु-
५३	भावभिदात्मकः	भावाभिधात्मकः
६२	धर्मस्थितेर्मत·	धर्मं· स्थितेर्मत
७०	यथास्थितम्	यथास्थितिम्
७५	भूतभावि	भूत भावि
७८	समतार्थाना	सममर्थानां
७९	द्वैधैवं	द्वेधैव
९६	मर्त्यस्त्वय्येकाग्र	मर्त्यस्त्वयैकाग्र
९९	हेहि हाहीति	एहि याहीति
,,	नोद्घाट्येद्वार्न दत्ते	नोद्घाटयेद् द्वार्नं धत्त
१००	शिष्यो नु	शिष्योऽनु

श्लोकानुक्रमणिका



विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

